नमो त्थु णं समणस्स भगवओ णायपुत्त-महावीरस्स

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रस्य षष्ठोऽध्यायः

वीरस्तुतिः

श्रीमत्सुधर्माचार्येण गणधरभगवता प्रणीता

श्रीमज्ज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घानुगामिनो हि स्वर्गीयश्रीमन्म-
हर्षिफकीरचन्द्रजिन्महाराजाधिराजस्य चरणान्तेवासिना
पुप्फभिक्खुणा-प्रणीतया संस्कृतहिन्दीभाषान्तर-
समुल्लसितया विवृत्या सनाथीकृता

कलकत्तानिवासिना
क्षेमचन्द्रश्रावकेण गुर्जरभाषया समलंकृता

सा च

पाञ्चालदेशान्तर्गतपाटोदीनगरे
ज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घेन प्राकाश्यं नीता

२४६६ वीराब्दे, १९९६ विक्रमसंवति, शके १८६१ वत्सरे,
सन १९३९ ई०,

धनसाहाय्यकर्ता लालामनोहरलाल जैनः कानपुरीयः

मूल्यम् ३।) रूप्यकम्

समर्पण

जिनकी कृपासे मेरे मनकी चंचलता नष्ट हुई है, जिनके सदुपदेशसे मेरे अन्तःकरणमें शान्तिका सञ्चार हुआ, जिनके अद्भुत चरित्रयोगसे मुझे सम्प्रदायवादके बन्धन तोडनेका निश्चय मिला, जिनके बोधवचनोंसे अखंड आत्मसुखका मार्ग प्राप्त हुआ तथा जिनकी आज्ञासे इस ग्रन्थके लिखनेका अवसर मिला, जिनके अपार अनुग्रह वात्सल्य एवं उत्साहदानद्वारा मेरी लेखन-कलाकी ओर प्रवृत्ति हुई है तथा जिनका आश्रय मेरे लिये कल्पवृक्षके समान अभीष्ट फलदायक होता रहा ह उन अध्यात्म-शास्त्र प्रेमी, अप्रतिवद्ध विहारैकव्रती, निष्काम परोपकारी, शांत-मुद्रा, महर्षिप्रवर, गुरुवर्य्य श्रीज्ञातपुत्र-महावीर जैन संघानुयायी श्री १०८ स्वर्गीय श्रीमज्जैनमुनि फकीरचंद्रजी महाराजाधिराजकी पवित्र स्मृतिमें अन्तःकरणकी विशुद्ध भक्तिपूर्वक वीरस्तुतिकी विवृति और हिन्दीभाषान्तर सादर समर्पित है। पुनश्च—

जिनके उदारहृदयमें अनन्य समता है, स्याद्वादसिद्धान्तका उज्वल पांडित्य है, जिनकी वाणी चन्दनसे भी अधिक शीतल है और वह मानव संसारके मनस्तापको एक दम मिटाती है, जिन्हें इष्ट और अनिष्ट पुद्गल समूहमें कभी मानसिक विचार नहीं हो पाता, जिन्हें बाह्याडम्बरसे सोलहों आने घृणा रहती है, जिनमें अहमहमिका क्रियाका नितान्त अभाव है, परहितसाधनमें जिनकी शुभप्रवृत्ति सतत जागृत है, वाडावंदी-पक्षवाद-सम्प्रदायवाद-टोलावाद-गच्छवादकी दिवारोंको तोडकर तथा स्व-परका भेदभाव मिटाकर जिन्होंने स्वतन्त्रताका अध्यात्म मार्ग पकडा है, जो देश समाज जाति और धर्म हित अपने प्राणोंकी बाज़ी लगा देते हैं, इसके अतिरिक्त जिनमें और भी गाम्भीर्य-शौर्य्यधैर्य्यादि अनेक गुण हैं। ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके उन २००० साधु साध्वियोंके कर कमलोंमें वीरस्तुति प्रेम और भक्तिपूर्वक सादर समर्पित है।

ज्ञातपुत्र महावीर जैन संघका लघुतम—

पुप्फ भिक्खु

प्रार्थना

ज्ञातनन्दन सिद्धार्थकुलकिरीट महावीर भगवान्के प्रतिपाद्य धर्मके ११ अग इस समय भी विद्यमान हैं, उनमें सूत्रकृताङ्ग नाम सूत्र दूसरा अग सूत्र है, जिसके दो श्रुतस्कन्ध हैं, और उसके पहले श्रुतस्कन्धका छठवॉ अध्याय इस ग्रन्थकी मौलिकवस्तु यह वीरस्तुति है ।

और यह सूत्र कालिकसूत्र है, इसका स्वाध्याय ३२ *अस्वाध्याय त्याग कर दिन और रातके पहले और चौथे प्रहरमें स्वाध्याय होता है। इस अध्यायका मूल पाठतो अब तक कई पुस्तकोंमें छपकर प्रसिद्ध हो चुका है एवं मूल शब्दार्थ और भावार्थ सहित भी गत वर्षोंमें कई स्थानोंसे प्रकाशित हुआ है। परन्तु मैंने वीरस्तुतिकी टीका और भाषा टीका अनेक ग्रन्थोंका सन्दोहन

---

* **बत्तीस अस्वाध्याय**—चार सध्या [प्रात. काल १, मध्यान्हकाल २, सध्याकाल ३, मध्यरात्रि ४,] ओके समय, चार महोत्सव, चार महा प्रतिपदायें, [चैत्र शुक्ला १५, वदी १, आषाढ शुक्ला १५, वदी १, आश्विन शुक्ला १५, वदी १, कार्तिक शुक्ला १५, वदी प्रतिपदा, १२,] औदारिक शरीर सम्बन्धी १० अस्वाध्याय [अस्थि-१३, मास १४, रुधिर १५, पडी हुई अशुचि १६, समीप वर्ति प्रज्वलित श्मसान १७, चन्द्र ग्रहण १८, सूर्यग्रहण १९, ग्राम-शहर का राजा-सेनापति-देशनायक-नगरशेठका मरण २०, राज्य सग्राम २१, धर्मस्थानमें मनुष्य २२ और तिर्यंच पंचेन्द्रियका कलेवर २३,] आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्याय [उल्कापात २४, दिशाओंके लाल होनेके समय २५, अकाल गर्जना २६, बिजली चमकते समय २७, निर्घात-मेघ के समान गर्जना जैसी व्यन्तरकृत ध्वनिविशेष २८, यूपक-शुक्लपक्षकी एकम-दोज और तीजके दिनका सान्ध्यसमय २९, यथालिप्त-अमुक अमुक दिशाओंमे आन्तर आन्तर पर बिजली जैसा प्रकाश होते समय ३०, धूमिका-धुवॉं वरसते समय ३१, महिका-गर्भमासमें पडनेवाली धुंध-कोहरा ३२,] रजोवृष्टि-रज-धूलकी वर्षा तथा शरीरमेंसे रुधिर और खून निकलते समय सूत्रोंके वाचनके प्रतिबन्ध कालमें अस्वाध्याय जानना योग्य है। इन नियमोंके भंग करने वालेके लिये दड-प्रायश्चित्त-आदि शिक्षा '**निशीथसूत्रके**' उन्नीसवें अध्यायसे जानना चाहिये ।

करके निर्माण की है। इस परिस्थिति मे मेरे अन्तेवासी **सुमित्त भिक्खु** ने यथा सभव इस पुस्तकके प्रुफ देखकर सहायता की है अतः इसका नाम लिखते समय मुझे प्रसन्नता होती है

इस पुस्तकमें अज्ञताके कारण यदि कहीं भूल होगई है तथा सूत्रसिद्धान्तसे विरुद्ध कुछसे कुछ लिख गया हूं तो उसका निखालिस हृदयसे **"मिथ्या दुष्कृतम्"**

वीरस्तुतिके अभ्यासिओ! इसे भावशुद्धि पूर्वक पढिये, पठन और मननके द्वारा ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके समान वनिये, एवं अपने हृदयसे पुरानी रूटिये एवं पक्षवाद-टोलावाद-सम्प्रदायवाद-गच्छवाद-पार्टीवाजी और मतभेदका कालापाप निकाल डालिये, और समदृष्टि वनकर भारतके दासत्वको दूर कीजिये जगतको भूखेमरनेसे वचाइये, अपने धर्मगुरुओंको राग-द्वेष-ईर्ष्या एवं मत्सरताके कीचडसे निकालिये, समाजमे सच्चरित्रता और पारस्परिक सहानुभूति पैदा करनेका प्राण सञ्चार कीजिये, मेरी अन्तिम भावना यही है।

भावार्थकस्य, प्रबोधार्थमत्यन्तमावश्यकत्वम् । अतोऽप्यस्य मूलाशयं सम्प्रधार्य, वृहत्स्तुत्यमेतत्तथाऽध्यात्मपूर्णम् । शुभाऽध्यायजस्य यथा बुद्धिशक्तिः, समस्तं यथार्थानुभावं च ज्ञात्वा ॥ सुसंस्कारशब्देन वा भाषया च, समृद्धं कृतं तस्य मुख्यो-ऽस्ति हेतु । तथा मातृभाषानिबद्धं प्रसिद्धं, जनानामनेकार्थतत्वप्रदीपम् ॥ तथा ज्ञापनार्थं च भावस्य तस्य, ऋजुर्वा मृदुर्वाऽस्य भाषानुवादः । तदाऽऽवश्यकत्वं च तस्यैव भावं, मृदुत्वं प्रगृह्य स्फुटं भासते च ॥ गुर्जरे चानुवादोऽस्य **कालीय-कत्ता**निवासेन क्षेमेन्दुनाऽस्य प्रकाशः । कृत. श्रावकेणाथ तस्यैव तत्व, तथा सुप्रसिद्धोऽनुवादः स्वतन्त्र. ॥ कदाचिज्जैनाना त्रिपुटदलवृन्दे च जनता, प्रसक्ता-नामेवं यदि सदुपयोगश्च भवति । सदैतद्भावेन विवुधजनसेवासु निरतः, प्रकाशं सर्वत्राऽखिलविशदबोधाय कृतवान् ॥ पवित्रोऽयं पाठो वहुरुचिकरो मेऽस्ति मनसा, करोमि स्वाध्यायं मननपरिपूर्णेन सुखतः । महानन्दस्वादो भवति कर-णाच्चास्य सततं, सुलब्धं सौभाग्यं प्रतिदिनवितृष्णो विरमति ॥ **मुमुक्षूणां** चित्ते सुखरससुशान्ति वितनुते, मुहुर्जिज्ञासा नो वहुविधमलं चास्य विवृति । तदा जाता भावाखिलमतिसुपूर्तिर्निगदिता, सदैव ज्ञातव्यं यतिमुनिगणैर्मुक्तिनिलयै. ॥ यदाऽऽ-वश्यकत्वेन यस्याऽस्ति पूर्तिः, प्रजाता च **संस्कारतो**ऽनेकवारम् । समर्थश्च सर्वाङ्गतो लब्धमेतत्तदाऽस्योत्तर पत्रमेतद्ददातु ॥ **अथो** पाठकाना जनाना च व्यक्तं, तथा वाचकोपर्य्यतो मुक्तमेतत् । ममाऽस्य प्रलेखेन वा ज्ञापनेन, न वाऽऽवश्यकत्वं न वा कारणत्वम् ॥ यदा पीयते चामृतं स्वादवद्भिस्तदा नोच्य-तेऽमर्त्यता मेऽस्ति कीदृक् । सुमिष्टं च तिक्तं मदीयं कियद्वा, प्रसिद्धं हि लोके रसास्वादुकत्वम् ॥ मुदा वर्णनं तस्य जिह्वा करोति, स्वयं वर्णनस्यातिसेतुं विधत्ते । मया न्यायमार्गानुरोधेन चैव, स्वकीयायसी लेखनी स्थाप्यतेऽत्र ॥

भावार्थ—यह काव्य श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रके छठवें अध्यायकी अनुपम और मौलिक वस्तु है. और '**वीरस्तुति**' या '**पुच्छिस्सुणं**' के नामसे अतिप्रख्यात है। वहुतसे जैनवन्धुओंको तो यह मुखस्थ होती है, अनेक जिज्ञासु महानुभाव इसका प्रात सायं व्यवधान रहित नित्य पाठ करते हैं, और जैन समाजमें यह पवित्र पाठ इतना अधिक प्रिय है कि इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रभुके अनन्तसामर्थ्यका वर्णन करना तो मानो छद्मस्थ-मानुषी शक्तिके बाहर है, और इस विषयके वर्णनकरनेमें श्रीमान् सुधर्माचार्य जैसे महान् ज्योतिर्धर और परम योगीको ही योग्य अधिकारी समझा गया है।

अपलक दृष्टिसे स्वाध्यायकरनेपर पाठकोंको इस काव्यमें, कई स्थलोंपर कुछ पुनरुक्तिएँ भी प्रतीत होंगी, परन्तु प्रत्येक शब्द और शब्द-स्वामी गणधर-देवके वाक्यका तुलनात्मकदृष्टिसे मनन करनेपर तत्वका सम्पूर्ण और सर्वाङ्ग रहस्य इस प्रकार सरलतासे समझमे आता है कि गणधरभगवान्का मुख्य आशय प्रत्येक शब्द और अर्थमें कितना भिन्न और स्पष्ट है।

इस काव्यमें भगवान् सुधर्माचार्य अपने अन्तेवासी शिष्य जम्बूको यह बताते हैं कि शासननायक-चरमतीर्थङ्कर-जगदुद्धारक-श्रीमहावीरयोगीन्द्रचूडामणिके ज्ञान-दर्शन और चरित्र आदि गुण किस प्रकारके थे, उन गुणोंकी तुलना जगत् भरकी सर्वोत्तम सारभूत वस्तुओंके साथ करके प्रभुका महत्व बताया गया है।

स्वाध्यायप्रेमी महानुभावोंके सन्मुख श्रीमद्गणधरोंके परमसुन्दर और हितरूप आशयके साथ मिलते जुलते भाव तथा अन्यान्य अध्यात्मरसिक आचार्य और कविकोविदोंके आशयोंका भी इस विवृतिमें समन्वय किया है और जिसमें जैन तथा जैनेतर ग्रन्थोंको स्थान देते समय किसी प्रकारका भेद नहीं रक्खा है।

यह निर्विवाद और अपने आप सिद्ध है कि इस काव्यका मूल और शिखा दोनों ही अध्यात्मरसमे परिसिञ्चित हैं क्योंकि गणधरपदविराजित महाप्रभावशाली श्रीसुधर्माचार्य भगवान्की तो यह कृति है, और मनुष्यमात्रको अपने जीवनमें अपने आत्माके ऊपर अध्यात्मविषयक प्रभाव डालनेके लिये इस प्रकारके उत्तमोत्तम पाठोंको सदैव बोलते रहनेका अभ्यास रखनेकी तथा उसके तत्वमयभावार्थको समझनेकी भी अत्यन्त आवश्यकता है, अतः इसी मूल आशयको लेकर इस महान् एवं स्तुत्य अध्यायको यथामति यथाशक्ति एवं यथानुभव संस्कृतविवृति तथा भाषानुवादसे समृद्ध किया है। इसका एक मुख्यकारण यह भी है कि हमें भगवान् महावीर प्रभुकी देन है और उसे उनके तत्वको संसारके कोने कोने तक पहुंचाकर ही पूरा किया जा सकता है। और मातृभाषामें सर्वसाधारण जनताको तत्वबोध और उसका अन्तर्भाव समझानेकेलिये उसके सरलातिसरल भाषान्तरकी भी बड़ी आवश्यकता है। इन्हीं भावोंको लेकर इसका गुर्जर-अनुवाद भी **कलकत्ता** निवासी श्रीक्षेमचंद श्रावकसे कराया है, और उन्होंने भी इसका गुर्जरगिरामें स्वतन्त्र अनुवाद किया है। यदि कदाचित् यह त्रिपुटी जैनसमाज तथा प्राणीमात्रके लिए शुद्ध उपयोगी हो

सके इस भावसे प्रेरित होकर इसका प्रकाशन किया है। मुझे तो इसके प्रति-समयके स्वाध्याय और पाठसे भरपूर शातिसुधाधाराका अव्यवच्छिन्नरूपसे आस्वादन करनेका पूर्ण सौभाग्य मिल रहा है। अतः मुझे पूर्ण आशा है कि अन्यान्य मुमुक्षुमहानुभावोंको भी इसके निरन्तर पाठ तथा मननात्मक स्वाध्यायसे अवश्य शान्तरसकी प्राप्ति होगी। यद्यपि इसकी कई आवृत्तिएँ निकलकर प्रकाशित हो चुकी हैं परन्तु यह सस्करण जिस आवश्यकताकी पूर्तिमे सर्वाङ्ग सफल हुआ है इसका उत्तर पाठकगणोंके ऊपर ही छोड दिया जाता हैं, कहने सुनने और लिखनेकी आवश्यकता नही है। कारण यह है कि जिस समय अमृतका पान किया जाता है उस समय वह जनताको यह नहीं कहता है कि मेरा स्वाद कैसा है? उसका वर्णनतो जिह्वा स्वयं करने लगती है तथा उसकी प्रशसाके पुल बाध देती है। अत. इस न्यायको लक्ष्यमें रखकर इस लोहलेखनीको विराम देता हूं॥

लघुतम—

'पुप्फ भिक्खु.

सहायक

वीरस्तुतिकी विवृतिके अर्थ जिन जिन पुस्तकों का अवलोकन करके अपने अनुभवानुसार जिन जिनके प्रमाण अङ्कित किये हैं उनका नामोल्लेख इस प्रकार है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति-आचाराङ्ग-विशेषावश्यकभाष्य-धन्यकुमारचरित-समवायाङ्गसूत्रनिवृति-सूयगडांगसुत्त-शब्दार्थचिन्तामणि-अमरकोष-कुलार्णव-मेदिनी-धनञ्जयनाममाला-धनञ्जयकोश शब्दस्तोममहानिधि-वर्णनिर्णय-वर्णसारसमुच्चय-उत्तराध्ययनसूत्र-दशवैकालिकसूत्र-मार्कण्डेयपुराण-सुभाषितरत्नसन्दोह-तत्वार्थाधिगम-मनुस्मृति-बृहद्द्रव्यसंग्रह-परमात्मप्रकाश-याज्ञवल्क्यस्मृति-स्थानाङ्गसूत्र-अमितगतिश्रावकाचार-समयसार-प्रवचनसार-नियमसार-योगशास्त्र-पतञ्जलियोगदर्शन-महारानित्यपाठ-सागारधर्मामृत-पद्यमयपार्श्वनाथचरित्र-अभिधानप्पदीपिका-महाभारत-ज्ञानार्णव-आवश्यकचूर्णि-जैनप्रकाशकाउत्थानअंक-परिशिष्टपर्व-वात्स्यायनसूत्र-बुद्धचर्या-मज्झिमनिकाय-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-रत्नकरण्डश्रावकाचार-धवलसिद्धान्त-मूलाचार-आवश्यकभाष्य-प्रज्ञापनासूत्र-प्रवचनसारोद्धार-भगवती आराधनासार स्तोत्रसमुच्चय-स्तोत्ररत्नाकर-काव्यमाला.

इन सब पुस्तकोंके सुलेखक एवं अनुवादकोंका एक साथीदारोंके नातेसे इनके साथको मैं कभी नहीं भूल सकता। तदुपरान्त प्रत्यक्ष या परोक्षमें जिन जिन महानुभावोंने प्रोत्साहन प्रेरित किया है उन सबका उल्लेख करना भला मैं क्योंकर विस्मृत करसकूं?

विवृतिकारः

निदर्शन

उपासकके अन्तरमें भक्तिभावका ओघ उछलने लगता है तब स्तोत्र या स्तुतिका साहित्य-सर्जन होता है, इस प्रकारकी भारतीमें कई वार अमूल्य रत्न वहकर निकल आते हैं। विवेचक इन रत्नोंका मूल्य आकने एवं समझनकेलिये लम्वे चौडे भाष्य और टीकाएँ वनाते हैं। जैन साहित्यमें तीर्थंकर-भगवान्‌की स्तुतिओंका साहित्य पुष्कळ प्रमाणमें पाया जाता है। यहा तक तो है कि अन्य कोई दर्शन उसकी वरावरी नहीं करसकता, यह कहदें तो कोई अत्युक्ति न होगी। समर्थ नैयायिक और वैयाकरणी भी काव्यसाहित्यमे जो कुछ अपनी प्रतिभा उंडेलनेको उद्यत हुये हैं तो वह भी स्तुतिसाहित्यका ही प्रताप है। आमका वृक्ष फलोंसे लदा हो, मञ्जरी महकती हो और वसन्तका वायु चलता हो तो कोयल परवश होकर भला पंचमस्वर निकाले विना क्योंकर रह सकेगी? इसी प्रकार न्याय-दर्शन-व्याकरण या अन्यान्य कठिनसे कठिन शास्त्रोंमें पारंगत समझे जानेवाले पुरुषोंके अन्तरमें किसी समर्थपुरुषके प्रति भक्तिभाव जागृति हो तो वे स्तुतिके साहित्यकी उपेक्षा कभी न कर सकेंगे। चन्द्रदर्शनसे उभरकर वढनेवाले महासागरकी भांति अन्तर भी भक्तिसे सक्षुब्ध वन जाता है। परन्तु परमपुरुषकी स्तुतिओंमें केवल काव्य अथवा साहित्यका ही अश हो यह मान्यता युक्तिसगत नहीं है। स्तुतिका रचयिता उस समय जव कि कविका आसन स्वीकार करता है परन्तु अपनी विशिष्टताको नहीं छोडता। इसीलिये कि स्तुतिओंके साहित्यमें तत्वज्ञान अध्यात्म झलक और वुद्धिचातुर्यके अत्यद्भुत अश उसे उस समय भी प्राप्त होते हैं।

समग्र आगम-संग्रहके उपोद्घातके समान गिने जानेवाले नन्दीसूत्रमें श्रीदेव वाचक क्षमाश्रमणने मङ्गलाचरणके रूपमें जो गाथायें ग्रंथन की हैं उसमें मूलमें तो श्रमण भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुतिका ही प्राधान्य है परन्तु उसमें इतना अधिक गम्भीर अर्थ है कि आचार्यमलयगिरि रचित सस्कृत टीकारूप तालिकाको समझे विना उस स्तुतिके गंभीर अर्थकी कल्पना शायद ही किसीकी समझमें आयगी।

श्रीमलयगिरिने स्तुतिके श्लोकोंकी व्याख्या करते समय आत्मवाद-स्याद्वाद-ज्ञानवाद-प्रमाणवाद जैसे तत्त्वज्ञान सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तोंको स्पष्ट कर दिखाया है।

इसी प्रकार महाकवि धनपालने भी महावीर स्तुति संस्कृतमे रची है। परन्तु उसमे विरोधाभासके अलंकारोका ऐसा संग्रह किया है कि कोई भी रसिक आत्मा उसके रसास्वादनसे पुलकित हुये विना न रहसकेगा।

आशय यह है कि स्तोत्रके या स्तवनके साहित्यमे कवित्वके उपरान्त अलंकार और तत्वज्ञानके असंख्य विषयोंके समाविष्ट करनेका एक कालमे रिवाज था। और जो श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रके छठवे अध्यायमे समाई हुई वीरस्तुतिको विचारपूर्वक पढेगा, अवधारण करेगा उसे उसमेसे उपासनाके रस-आनन्दके उपरात प्रभु महावीरके यथार्थस्वरूपका भी विचार सहजमे आ सकेगा।

प्रकृतिके इस प्रवाहरूप शिष्टाचारात्मक नियमानुसार मुनिश्रीने भी यथासम्भव शुद्धतापूर्वक सस्कृतवाणीमे टीका रचकर इस स्तुतिके मूलके साथ प्रकट किया है, और जैनसाहित्यकी, जैनउपासकोंकी अत्यधिक सेवा की है।

जैनोका अधिकाश भाग वीरस्तुतिको प्रेमसे कण्ठस्थ करता है तथा आनन्दके साथ भावुकता पूर्वक पढनेका गौरव प्राप्त करता है। अन्यान्य स्तोत्र-स्तवन और स्तुतिओकी अपेक्षा इसमें एक प्रकारकी विशेषता है जिसके कारण यह स्तुति कण्ठस्थ रहकर इतनी स्वीकृति और आदरको प्राप्त है। यह इसमें एक विशेषता है, परन्तु वह विशेषता क्या है?

महावीरस्वामीके एक समर्थ गणधर श्रीसुधर्मस्वामी स्वयं अपने अन्तेवासी जम्बूके सन्मुख भक्तिपूर्वक गद्गद होकर वीरप्रभुका प्रताप, प्रभाव और माहात्म्यका वर्णन करते हैं। श्रीसुधर्मास्वामीने अपने जीवनकी धन्य घडियोंमे जो कुछ देखा सुना एवं अनुभव किया है उसीका वर्णन अपने शिष्यके सामने किया है। स्तुतिको पढते या सुनते समय हमें भी यही प्रतीत होता है कि सुधर्म्मास्वामी महावीर परमात्माकी महिमाका वर्णन करते समय गुप्त दृष्टिसे मानो यही कह रहे हैं कि "अभी बहुत कुछ शेष है, अभी और बहुतसा अनिर्वचनीय है" वे प्रभुके स्वरूपका कुछ भान करानेकेलिये जगत्की उत्तमोत्तम सामग्रीओंके साथ उनकी तुलना करते हैं। मेरु पर्वत, नन्दनवन, चंद्रमा, स्वयम्भूरमण समुद्र इनमेसे सभी कुछ, यानी किसी भी सुन्दर वस्तुको वे नहीं भूले हैं। तथापि अन्तमें नेति-नेति कहकर मानो विराम पा रहे हैं। प्रभुके गुण अपार होनेसे उनका अन्त ही न आयगा ऐसी सूचना करनेका आभास भी इसमेंसे मिल रहा है।

जिस वीरपरमात्माका शब्दचित्र इतना भव्य है तब उनके साक्षात् परिचयमें आनेवाले श्रीसुधर्म्मास्वामीके अन्तरमें इस स्तुतिकाव्यकी स्फुरणा हुई होगी तब उन्होंने कैसी रमणीय अन्यमनस्कताका अनुभव किया होगा। तीनलोककी उत्तमोत्तम रससामग्री भी भगवान्के सत्य स्वरूपके सन्मुख उनको तुच्छ लगती होंगी। इतनेपर भी भगवानकी पहिचान करानेके लिये वे प्रयत्न करते हैं और एक अमर स्तुतिकाव्य रचकर जगत्को सौंप देते हैं।

महावीरके भक्तोंके मनको महावीर भगवान्के यथार्थ स्वरूपकी सुन्दर और गहरी झाकी हो, उसकी अपेक्षा मूल्यवान् उपादेय वस्तु और क्या हो सकती है। जैनसघ इस स्तुतिके पठन पाठन और चिन्तनके प्रतापसे उनके सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेके लिये भाग्यशाली हो! इतनी ही प्रार्थना करना बस है।

ज्ञातसेवक

मुणि सिरि उवज्झाय आयारामस्स सम्मइ

मए वीरत्थुइ नामा लहुवी पोत्थियं अवलोइया, सा थुइ पोत्थिया भत्ति भावेण अलंकिया, पोत्थिया भत्तिभावेण विन्नस्सा, अम्भुअरसस्स प्पयाण कत्ता-जहावि कइ वाहं विसएसु मयमेयोऽत्थि किन्तु कत्तुणा भत्तिभावं अणुवमं दंसिता। मम मणो अईव प्पसन्नभूओ, कत्तुणो पुणो पुणो धन्नवायं देमि। जेण अइपरीसमेण भत्तिवसेण अईव सग्गह कट्टु, जणयाए भत्तिमग्गं पदंसिया। सत्थेवि उत्तं, अरिहंताइणा भत्तिभावेण जीवो तित्थयर नामगोयं कम्मं निबंधइ। इयं रयणा सुंदराऽत्थि, भव्वजणाणं अवस्समेव भणणिज्जो, कत्तुणा जहाठाणे अईवउवओगी उद्धरणाणं पससणिज्जो सग्गह कडं, तहा उत्तरज्झयणस्स तव-मग्गोऽवि उत्तं, 'गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ' एवं वीरभत्ति वा वीरत्थुइ वि विणयरुवोऽत्थि, तहा उत्तराज्झयणस्स एगूणतीसाए अज्झयणं थूइस्स एवं फलं वण्णिअ जहा–"थय थुइमगलेणं भंते जीवे किं जणयइ? थ० नाणदंसणचरित्तबोहिलाभ जणयइ। नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसपन्ने य णं जीवे अन्तकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहण आराहेइ ॥ १४ ॥ अओ वीरत्थुइ अवस्स भणणिज्जो।

१९९६ सावणसुद्धा एगादसी, बुधवारे,
लुहियाणा णयरे, उवज्झाय जइणमुणि

आयारामो

देहली शहर महावीर जैनभवन
ता० २७ अगस्त १९३९ ई०

शान्तस्वभावी, वैराग्यमूर्ति, विद्वान **श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यश्री खूब-चन्दजी म०** साहबकी सम्मति —

"वीरस्तुति" नामक पुस्तक भाई पंचमलालजी द्वारा पठनार्थ मिली. पुस्तक सरसरी नजरसे देखी, अहिंसाके अवतार भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुति मूल गाथाओंके साथ हिन्दीभाषामें अच्छे ढगसे लिखी है। वर्तमान समयमें ऐसे २ शुद्ध हिन्दीभाषायुक्त धार्मिक साहित्यकी विशेष आवश्यकता है।

जैनधर्मोपदेष्टा विद्वान् मुनिश्री फूलचन्द्रजी ने **वीरस्तुति** लिखनेका स्तुत्य कार्य किया है। आशा है स्वाध्यायप्रेमी महानुभाव इस वीरस्तुति पुस्तकके स्वाध्यायसे आत्मकल्याणका लाभ अवश्य उठावेंगे। अस्तु।

हस्ताक्षर–आर्य जैन सुखमुनि
द्वितीय श्रावण शु० १३, रविवार, सं० १९९६

पुस्तक दर्शनीय है, मूलगत भावोंको काफी सरलताके साथ समझानेकी चेष्टा की गई है। यथा प्रसग अन्य ग्रन्थोके उद्धरण सोनेमे सुगन्धिका काम करते हैं यह अतिशयोक्ति न होगी। यदि मैं कहूं कि वीरस्तुतिका इतना लोकप्रिय सस्करण अभी तक कहींसे भी प्रकाशित नहीं हुआ।.............. कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहा लेखक स्वतन्त्र होकर चल पडा है, अस्तु तत्तत् स्थलोंपर लेखकसे हमारा 'मत' भेद है। परन्तु ये सब बातें **"एको हि दोषो गुणसंनिपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः"** की सदुक्तिके अनुसार अन्य श्रेष्ठताओंमे छुप जाती हैं। स्थानकवासी (जैन) समाजकी ओरसे ऐसी सुन्दर कृति उपस्थित करने के उपलक्ष्यमे श्रीयुत पुष्पभिक्षु वास्तवमें वधाईके पात्र हैं।

जैनाचार्य-पूज्यश्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज

ता० २५ अगस्त, सन् १९३९

पुस्तक काफी सुन्दर लिखी गई है, वहुतसे स्थलोपर तो व्याख्या काफी प्रभावोत्पादक हो गई है। सस्कृत हिन्दी और गुर्जर तीनों भाषाओंमे व्याख्या को ढालकर लेखकने क्या विद्वान् क्या सर्वसाधारण सभीके लिये अध्ययनका मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

श्रीयुत पुष्पभिक्षुने अन्य भी उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु प्रभु महावीरके चरणोंमे उनकी यह श्रद्धाञ्जलि तो अतीव उत्कृष्ट श्रेणीपर पहुच गई है। मैं आशा करूगा कि समाज उक्त कृतिको अधिकसे अधिक अपनायेगा और प्रभु वीरके गुणगान द्वारा लेखकके श्रमको सफल करता हुआ अपने जीवनको भी सफल वनायेगा॥

व्याख्यान वाचस्पति पंडितश्री मदनलालजी म०,

ता० २५ अगस्त, सन् १९३९

ग्रन्थ परमोपयोगी है, इसमे कुछ सन्देह नहीं कि मुनिजीने हर एक विषयको वडी गम्भीरता और साथ ही सरलतासे सुसज्जित किया है। आशा है कि ईश्वर सस्तवन प्रेमी ससार इस ग्रन्थसे महान् लाभ उठायेगा। मुनिजीका परिश्रम और विज्ञानवोध इस ग्रन्थके अवलोकन करनेसे अतिप्रशंसनीय प्रतीत होता है।

सम्मति प्रदाता—

"मुनि वालभिक्षु प्रेमेन्दुः"

वीरस्तुति नामकी पुस्तक देखी, लेखक मुनिश्रीने अत्यन्त परिश्रमसे तैयार कर जन समाजपर उपकार किया है। तीर्थंकरोंकी स्तुति करना आत्माको पवित्र घनाना है। तीर्थंकरोंकी स्तुतिकरते हुवे उच्चकोटिकीभावना आजाय तो तीर्थं-कर जैसी आत्मा वनजाती हैं। अतः जन समाजको सम्मति देता हूं कि वीर-प्रभुकी स्तुति हमेशा पढा करें। जैनाचार्य पूज्यश्री खूबचन्द्रजी महाराजका सम्प्रदायानुयायी—**आर्य जैन मुनि हीरालाल** २६–८–३९, **अंबाला शहर**

साहित्याकाशभ्रमणभानु पुप्फभिक्खु रचित संस्कृत और हिन्दी भाषामें वीरस्तुतिका दर्शन किया। आपने इस उन्नतिके युगमें इस प्रकार लेखनी उठा-कर जैन ससार पर ही क्या वल्के भव्यसाक्षरसृष्टिका कल्याण कार्य किया है। यह रचना रोचक और हृदयङ्गम है, मानवके आन्तरिक विचार इसका स्वाध्याय करते करते भक्तिसागरमें लहरायमान होने लगते हैं।

वीरस्तुतिके विषयमें मेरा इतना ही कहना वस है कि इसका सम्पादन विज्ञानके युगमें वैज्ञानिक ढंगसे किया गया है, अतः स्थानकवासी जैनसमाजके लिये यह वडे गौरवकी वस्तु है। जैन समाजके मुनि धार्मिक ग्रन्थ शास्त्र अथवा अन्यान्य ग्रन्थोंपर टीका रचना कुछ भूलसे गये थे। लोकाशाहके अनन्तर स्वतन्त्र साहित्य विकासका उत्सर्जन रुकसा गया था परन्तु पुप्फ भिक्खुने वीरस्तुतिके प्रभावसे उस कमीकी पूर्ति कर दी। हे पुप्फभिक्खु! साधुवाद!

शासन प्रेमी–**धनचन्द्र भिक्खु** ता० २८–८–३९, **इंदौर (मध्यभारत)**

अयि, असीमशेमुषिमुषितदोषा! अर्जितविद्याकोषा! धियाधीताध्याताशेष-जैनमुनिप्रवरा! विदितमस्तु अत्र भवता श्रीमता, यन्मुनि पुङ्गवेन श्रीफूल-चन्द्रेण रचितं ममा क्रन्दनकं काव्यं मया सम्यक्गमवलोकि, यन्निश्चितं स्वस्वान्ते यदेतत्काव्यं शिक्षयति जैनमुनीन् यदीदृशेन गुरुणा भाव्य तथेदृक्षेण च शिष्येण। ये हि मुनय पूर्वमपरीक्ष्यैव शिष्यान्दीक्षयन्ति तेऽचिरादेव विकृतिं प्रयान्ति। तान् एषा मुनीन्द्ररचिता कृति सम्यगवबोधयति, ये च जिनधर्माचारप्रचरणे परित्य-क्तनिजप्रयोजना सन्ति, तथा परस्परेर्ष्यामोहनिद्रया निद्रिता वर्तन्ते तेषु मातेव जागृतभावमुत्पादयतीति, नाद्यावधि केनापि जैनमुनिना स्वसम्प्रदायपोषकमीदृक्षं संस्कृतकाव्य विरचितं दृष्टिपथमवतरति। एतद्धि न्यूनतापूरकमिति मे मतिः। अतो एतत्काव्यसुधारस्य स्वादं सन्तुष्यमाणो मेऽन्तरात्मा नान्तर्माति, नूनं हि एतस्य कवित्वतत्त्वमनुकरोति कालिदासादीनां कविपुङ्गवानां कवितामू। अस्मिन्न-[illegible] जैनसम्प्रदायानुसार गुरुशिष्यलक्षणं च, तत्त्वानपि कवित्वसौष्ठवेन [illegible] उत्पादित। नूनमेषा कृतिजनसम्प्रदायानुयायिभिर्मुनिभिः समादरणीया तेषु प्रभावं करिष्यतीति मनुते—

पण्डित–**हंसराजशास्त्री. व्याकरणरत्नः. साहित्याचार्यश्च,**
प्रधानाध्यापक, संस्कृतविद्यालय [illegible] (पञ्जाब)

प्राक्कथन

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रके पंचम अध्यायमें **'नरकविभक्ति'** का अधिकार प्रदिपादन किया गया है और वह ज्ञातपुत्र महावीर भगवान्ने स्वयं कहा है। इसके अनन्तर उनका ही चरित्र इस गुणकीर्तनविभूतिरुप छठवें अध्यागमें वर्णन किया है।

शास्त्रोपदेशकके महत्वसे शास्त्रका महत्व है इस सम्बन्धसे इस अध्यायके उपक्रमादि चार अनुयोग होते हैं। उसमें भी उपक्रमके अन्तर्गत जो अर्थाधिकार है वह महावीर प्रभुके गुणसमूहका उत्कीर्तनरुप है। अनुयोगका दूसरा भेद निक्षेप है, जिसके दो प्रकार हैं। ओघनिष्पन्न और नामनिष्पन्न। ओघनिष्पन्न निक्षेपके रूपमें यह अध्याय और नामनिष्पन्नके रूपमें महावीर स्तुति। उसमें **'महत्'** **'वीर'** और **'स्तव'** के निक्षेप उल्लेखनीय हैं।

'जैसा उद्देश वैसा निर्देश' इस न्यायके अनुसार प्रथम **'महत्'** शब्दका निर्णय किया जाता है। यह **'महत्'** शब्द बहुरुप है। जैसे कि **'महाजन'** बडा आदमी है। **'महाघोप'** अतिरुप है। **महामय**-प्राधान्य रूप है। **महापुरुष** सबमे बडा पुरुष है। ये चार अर्थ **'महत्'** शब्दके प्राधान्य अर्थमें ग्राह्य हैं। **यथा—**

पाहन्ने महासद्दो, दव्वे खेत्ते य काले भावेय।
वीरस्स उ णिक्खेवो, चउक्कओ होइ णायव्वो॥

महावीर स्तवमें **'महत्'** शब्द प्राधान्य अर्थ मे है, और वह नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव इन भेदोंसे छ प्रकारका है। इस प्राधान्यमें नाम और स्थापनाके भेद तो सुगम ही है। द्रव्य प्राधान्य ज्ञ शरीर-भव्य शरीर और ज्ञ भव्य व्यतिरिक्त ये तीन भेद हैं। ज्ञ भव्य व्यतिरिक्तके सचित्त-अचित्त और मिश्र ये तीन प्रकार हैं। उनमें सचित्त भी द्विपद-चतुष्पद और अपदके भेदसे तीन तरहका है। तथा द्विपदमे तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि, चतुष्पादमे हाथी घोडा आदि और अपदमे कल्पवृक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप-रस-गंध और स्पर्शमें उत्कृष्ट पुण्डरीक कमलादि पदार्थोंका प्राधान्य है।

अचित्तमे वैदूर्य आदि विविध प्रभावयुक्त मणिरत्नोंका प्राधान्य है। मिश्रमें विभूपित तीर्थंकरादि।

क्षेत्रमें सिद्धक्षेत्रका प्राधान्य है। धर्म-चरित्रके आश्रयसे विदेहक्षेत्र प्रधान है और उपभोगकी अपेक्षा देवकुरु आदि क्षेत्रका प्राधान्य है। काल प्राधान्य-एकान्त सुषम आदि आरक अथवा धर्मचरणके स्वीकार करने योग्य काल विशेष।

भाव प्राधान्य क्षायिकभावमें है।

अब 'वीर' शब्दके द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव ये चार भेद निक्षेप ज्ञ शरीर भव्य शरीरको छोडकर ज्ञ भव्य व्यतिरिक्तमें द्रव्यसे वीर द्रव्यकेलिये सङ्ग्रामादिमें अद्भुतकाम करनेसे शूर पुरुष अथवा जो कुछ वीर्यवत् हो।

क्षेत्र वीर-क्षेत्रमें अद्भुत काम करनेवाला वीर होता है। अथवा जहां उसके वीरत्वकी गाथायें गाई जाती हों वह। इसी प्रकार कालके आश्रयसे भी जानना चाहिये। भाव वीर वह है जिसका आत्मा क्रोध-मान-माया और लोभ परिषह आदिसे विजित न हो। **यथा—**

पंचेंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिये जियं॥

भावार्थ-पाच इन्द्रियें-क्रोध-मान-माया और लोभको आत्माके लिये जीतना दुष्कर है। यदि एक आत्मा जीत लिया तो सब कुछ जीतलिया समझना चाहिये।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

भावार्थ-जो योद्धा लाखों सुभट युक्त दुर्जय सग्रामको जीत लेता है उसकी अपेक्षा आत्माको जीतनेवाला परम जय पानेवाला योद्धा है।

इसीप्रकार श्रीमन्महावीर प्रभु अनुकूल प्रतिकूल परिषह और उपसर्गोंसे विचलित न हुवे। इस अद्भुतकार्यको करनेके कारण वे गुणनिष्पन्न भावसे महावीर कहलाये। या द्रव्यवीर व्यतिरिक्त भववाला।

क्षेत्रवीरकी अपेक्षा वह जहां होता है अथवा जहां उसके गुणोंका कीर्तन होता है। कालसे भी यही जानना चाहिये। भाववीर नो आगमसे वीर-नामगोत्रकर्मका अनुभव करे।

स्तवके सम्वन्धमें निक्षेपादि—

स्तव-स्तुति के नाम आदि चार निक्षेप हैं, जिसमें नाम और स्थापनाको पूर्ववत् जानना योग्य है। द्रव्य 'स्तव' ज्ञ शरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्त जो पाच अभिगमकी मर्यादा करके तीर्थंकर भगवान्‌का सत्कार करना है और भाव स्तवतो जहा गुण विद्यमान हों उनका उपयोग पूर्वक कीर्तन करना है।

अब प्रथम सूत्रके सस्पर्श द्वारसे सम्पूर्ण अध्यायका संवन्ध प्रतिपादन करनेवाली गाथाका वर्णन करते हैं। **यथा-**

"पुच्छिसु जंवू णामो अज्जसुहम्मा तओ कहेसीय।
एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाहि॥"

भावार्थ–जम्बूस्वामीने आर्य सुधर्म्मास्वामीसे श्रीमान् महावीर प्रभुके गुणोंके सम्वन्धमें प्रश्न किया है। सुधर्म्मास्वामीने 'भगवान् ऐसे गुणोंसे युक्त थे' यह कहा और उस भगवान्‌ने इस प्रकार ससारको जीतनेके वोध दिये अतः आप भी भगवान्‌की तरह ससार जीतनेका प्रयत्न करें।

अधुना निक्षेपके पश्चात् सूत्रानुगममे अस्खलितादि गुणयुक्त सूत्र कहने योग्य है और वह **यह है—**

अह सूयगडांगसुत्तस्स वीरथुइ नाम छट्ठं अज्झयणं

पुच्छिस्सुण समणा माहणाय, आगारिणो या परतित्थिआ य। से केइ णेगत हियं धम्ममाहु, अणेलिस साहुसमिक्खयाए ॥ १ ॥ कहं च णाण कह दसण से, सील कहं णायसुयस्स आसी ? जाणासि ण भिक्खु ! जहातहेण, अहासुय बूहि जहा णिसत ॥ २ ॥ खेयन्नए से कुसले महेसी, अणतनाणीय अणतदसी। जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्म च धिइ च पेहि ॥ ३ ॥ उड्ढ अहेय तिरिय दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा। से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पन्ने, दीवेव धम्म समिय उदाहु ॥ ४ ॥ से सव्वदस्सी अभिभूय नाणी, णिरामगधे धिइम ठियप्पा। अणुत्तरे सव्वजगसि विज्ज, गथा अतीते अभए अणाऊ ॥ ५ ॥ से भूइपण्णे अणिए अचारी, ओहतरे धीरे अणंतचक्खु। अणुत्तरे तप्पइ सूरिए या, वइरोयणिंदे व तम पगासे ॥ ६ ॥ अणुत्तर धम्ममिण जिणाण, णेया मुणी कासव आसुपण्णे। इंदेव देवाण महाणुभावे, सहस्सणेता दिविण विसिट्ठे ॥ ७ ॥ से पण्णया अक्खयसायरे वा, महोदही वा वि अणतपारे। अणाइले वा अकसायी मुक्के, सक्केव देवाहिवई जुईम ॥ ८ ॥ से वीरिएण पडिपुण्णवीरिए, सुदसणे वा णगसव्वसेट्ठे। सुरालए वासिमुदागरे से, विरायए णेगगुणोववेए ॥ ९ ॥ सय सहस्साण उ जोयणाण, तिकडगे पडगवेजयते। से जोयणे णवणवति सहस्से, उद्धुस्सितो हेट्ठ सहस्समेग ॥ १० ॥ पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए, ज सूरिया अणुपरियट्टयति। से हेमवण्णे बहुनदणे य, जंसि रइ वेदयती महिंदा ॥ ११ ॥ से पव्वए सहमहप्पगासे, विरायई कचणमट्ठवण्णे। अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरीवरे से जलिए व भोमे ॥ १२ ॥ महीइमज्झम्मि ठिये णगिंदे, पण्णायते सूरियसुद्धलेस्से। एव सिरीए उ स भूरिवण्णे, मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥ १३ ॥ सुदसणस्सेव जसो गिरिस्स, पवुच्चइ महतो पव्वयस्स। एतोवमे समणे णायपुत्ते, जाईजसो-दसणनाणसीले ॥ १४ ॥ गिरीवरे वा निसहाययाण, रुयए व सेट्ठे वलयाययाणं। तओवमे से जगभूइपण्णे, मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥ १५ ॥ अणुत्तर धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तर झाणवर झियाइ। सुसुक्कसुक्क अपगडसुक्क, सखिंदुएगतवदातसुक्क ॥ १६ ॥ अणुत्तरग्ग परम महेसी, असेसकम्म स विसोहइत्ता। सिद्धिगते साइमणतपत्ते, नाणेण सीलेण य दसणेण ॥ १७ ॥ रुक्खेसु णाए जह सामली वा, जंसि रति-वेदयती सुवण्णा। वणेसु वा नदणमाहु सेट्ठं, नाणेण सीलेण य भूइपण्णे ॥ १८ ॥ थणिय व सद्दाण अणुत्तरे उ, चदो व ताराण महाणुभावे। गधेसु वा चदणमाहु सेट्ठं, एव मुणीण अपडिन्नमाहु ॥ १९ ॥ जहा सयभू उदहीण सेट्ठे, नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे। खोओदए वा रसवेजयते, तवोवहाणे मुणि वेजयते ॥ २० ॥ हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहो मिगाण सलिलाण गगा। पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवे, निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥ २१ ॥ जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु। खत्तीण सेट्ठे जह दतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्ध-माणे ॥ २२ ॥ दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाण, सच्चेसु वा अणवज्ज वयति। तवेसु वा उत्तम

बंभचेर, 'लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥ २३ ॥ ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा, सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा । निव्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी ॥ २४ ॥ पुढोवमे धुणइ विगयगेही, न सण्णिहिं कुव्वइ आसुपन्ने । तरिऊ समुद्द व महाभवोघ, अभयकरे वीर अणतचक्खु ॥२५॥ कोह च माण च तहेव माय, लोह चउत्थं अज्झत्थदोसा, एआणि वत्ता अरहा महेसी, ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ ॥ २६ ॥ किरियाकिरिय वेणइयाणुवाय, अण्णाणियाग पडियच्च ठाण । से सव्व वाय इति वेयइत्ता, उवट्ठिए सजमदीहराय ॥२७॥ से वारिया इत्थिसराइभत्त, उवहाणव दुक्खक्खयट्ठयाए । लोग विदित्ता आर पर च, सव्व पभू वारिय सव्ववार ॥२८॥ सोच्चा य धम्म अरहतभासिय, समाहित अट्ठपदोवसुद्ध । त सद्दहाणा य जणा अणाऊ, इदा व देवाहिवा आगमिस्सति ॥ २९ ॥ त्ति बेमि ॥

सिरि वीरथुई समत्ता

अपने जैन मुनिओंसे प्रार्थना

सैंकेडों वर्षोंसे अपने अपने असर्वज्ञ गुरुओं और वड़े बूढ़ोंके नामसे पुजती आनेवाली प्रचलित ३२ सम्प्रदायोंसे जैनसमाजको अब तक कुछ भी लाभ न होकर प्रत्युत अधिकाधिक हानि ही उठानी पड़ी है। पूर्वकालमें भी जब इन गच्छ और पार्टिबाजियोंसे कुछ लाभ और उन्नति नहीं हुई तब इस अनावश्यक और वृथाकी वाडावदी एव सम्प्रदायवादके नामकी धिकापेलकी इस क्रान्तिकारी वैज्ञानिक-नवयुगमें जरासी भी आवश्यकता नहीं है। आजका नवयुग मनुष्य समाजमें साम्यवाद एव आपसी प्रेमको बढ़ाना अपना मुख्य कर्तव्य समझता है किन्तु इस बे ढगे कुतर्क सिद्ध वैषम्य वादको बिल्कुल नहीं चाहता। इसलिये इन प्रचलित सब सम्प्रदायोंको जड-मूलसे मिटाकर एक मात्र **"ज्ञातपुत्र महावीर भगवान्"** के किसी भी एक नामसे अपनी सम्प्रदायका परिचय देना चाहिये। जिससे जैनसमाजकी मुद्दतसे बिखरी हुई ज्ञानशक्ति-सम्पशक्ति और प्रेमशक्तिका फिरसे पुष्ट संग्रह हो सके। अत निवेदन है कि अपने वढे वूढोंके नामका झूठा मोह नाम मात्रको भी न रखकर महावीर भगवान्का नाम और उनका स्याद्वादसिद्धान्त ही यत्र तत्र सर्वत्र प्रकाशित करना चाहिये क्योंकि प्रत्येक जैनको भगवान् महावीरकी देन है और वह सम्प्रदायवाद-पक्षवाद-जडवाद-गच्छवाद-टोलावाद-जातिवाद-अधिकारवाद-सत्तावादको जडसे मिटाकर एकता एव सङ्घठन-शक्तिसे जाति-समाज और देशका दासत्व दूर करके प्राणीमात्रमें प्रेमभाव रखनेसे ही पूरी की जासकती है।

प्रार्थी—

ज्ञातपुत्र-महावीर जैन संघीय-

'पुप्फभिक्खु'

विषयानुक्रमणिका ।

ॐ

नमोत्थुणं समणस्स भगवओ णायपुत्त महावीरस्स

वीरस्तुतिः ।

हिन्दी-गुर्जरभाषान्तरसमुल्लसितया संस्कृतटीकया सनाथीकृता

मूल—

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य,
आगारिणो या परतित्थिआ य ।
से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु,
अणेलिसं साहुसमिक्खयाए ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

अप्राक्षुः श्रमणा ब्राह्मणाश्च, अगारिणश्च परतीर्थिकाश्च ।
स क इत्येकान्तहितं धर्ममाह, अनीदृशं साधुसमीक्षया ॥ १ ॥

अथ ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसंघीया-संस्कृतटीकाकर्तुर्मंगलाचरणम् ।

ध्यायं ध्यायमशेषदक्षप्रमुखाऽमर्त्याऽर्चिताङ्घ्रिद्वयं,
मोक्षश्रीपरिणीतिसम्भ्रममहानन्दोल्लसन्मानसम् ।
श्रीवीरप्रभुमीश्वरं तदनु च ज्ञानप्रदं श्रीगुरुं,
नामं नाममशेषकल्पमहितं श्रीरत्नचन्द्रो मुनिः १

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गमध्यविलसत्सुश्लोकवीरस्तुते-
र्भव्यानां भवबन्धभेदमनसामानन्दसंवर्द्धिनीम् ।
कुर्वेऽहं विवृतिं तदर्थगतिकृद्भाषान्तरोद्भासितां,
तेन श्रीत्रिशलात्मजाऽन्तिमजिनः प्रीयात्समाराधितः

टीका—इहापारावारसंसाराटव्यां परिभ्रमणं कुर्वतां प्राणिनां चुल्लकादिदशभिर्ज्ञातैरतिदुर्लभं मानुष्यं, तत्राप्यार्य्यदेश-कुलाऽऽयु-रारोग्य-समग्रेन्द्रियानुकूलसामग्रीसयोगो दुर्लभतरः, तत्राप्यतिदुर्लभतमा श्रीजिनधर्म्मप्रवृत्तिः । तत्रेह जगतीदृशः श्रीसर्वज्ञोक्तधर्मः परममङ्गलः समस्तशारीरमानसादिदुःखोच्छेदकश्चाप्यस्ति । धर्मश्चासौ चतुर्धा दान-शीलतपोभावभेदाः, तत्र चतुर्णां धर्मभेदानां मध्ये सर्वज्येष्ठो धर्मो दान-धर्मः, सर्वेष्वपि धर्मभेदेष्वन्तश्चारित्वात् । तथाहि—लौकिके लोकोत्तरे च सर्वत्र दानप्रवृत्तिर्ज्येष्ठतरा, श्रीमन्तस्तीर्थंकरा अपि प्रथमं वर्षीयदानं दत्वा पश्चाद्भिक्षुव्रतं गृह्णन्ति; पुनश्च शीलधर्म्मेऽपि दानधर्म्मोऽविच्छिन्न एव, यतो ब्रह्मचर्य्यव्रतग्रहणेऽसंख्यद्वीन्द्रियाणामसंख्यसम्मूर्च्छिमपञ्चे-न्द्रियाणा। नवलक्षगर्भिजपञ्चेन्द्रियाणां च कृते प्रतिदिनं ब्रह्मव्रतिनाऽ-भयदानं दत्तम्, स्वजीवस्याऽप्यभयदानमाप्तं तेन गर्भादिदुःखनाशक-त्वादिति, व्यवच्छिन्नतया हि शीलेष्वपि दानस्य मुख्यता । तथैव तपो-धर्मेष्वपि दानमन्तर्भवति, यतो षड्जीवनिकायविराधनया च आहारो निष्पाद्यते, परन्तूपवासादितपसि कृते तु तेभ्योऽभयदानं प्रदत्तं तस्मा-त्तपस्यपि दानमन्तर्भूतम् । भावधर्म्मे तु सुतरामेव, यतः 'परमकरु-णया जीवाजीवाऽहिंमनपरिणतिर्भावः' तत्राऽप्यभयप्रदानद्वारा दानमेव पर्य्यवस्यति, जैनमुनयोऽपि प्रतिदिनं देशनादानं ज्ञानशिक्षादानं च कुर्वन्ति; यतो दानस्य त्रिष्वप्यन्तर्भावान्मुख्यतया प्रथमं दानस्योपादानं

कृतम् । परं तद्भावपूर्वकं हि सफलतामेति । दानादिरूपं हि धर्म्मरत्नं प्राप्य सुकुलोत्पत्तिसमस्तेन्द्रियसामग्र्याद्युपेतेनाऽनेकान्तवादरूपमार्हतदर्शनपरिज्ञाय चाशेषकर्म्मोच्छित्तयेऽवश्यं प्रयतितव्यं भव्येनेति । परन्तु कर्म्मोच्छेदश्चापि सम्यग्विवेकसव्यपेक्षोऽसावपि ह्याप्तोपदेशमन्तरेण न सुलभः, आप्तश्चात्यन्तिकाद्दोषक्षयात्, स चार्हन्नेव, स हि श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरचरमतीर्थंकरस्तस्य स्तुतौ कृतयत्नोऽस्मीति, कोविदमुख्यैरिह जगति तस्य गुणवर्णनं बहुधा कृतं परन्त्वहमपि तद्गुणवर्णनोत्कटेच्छया तरलीकृतः सम्यग्दर्शनबलेन क्षयोपशमबलेन च किञ्चिद्विवरीतुं यतिष्ये । किमनन्तमाकाशे पक्षिराजगतं सम्यगवगम्य तेनैव पथा शलभो गन्तुं न वाञ्छति ? वाञ्छत्येवैवमनया रीत्याऽहमप्यल्पज्ञप्राय. परं किञ्चिद्धि श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रे यज्ज्ञातृपुत्रमहावीरस्तुतिनामाध्यायस्य व्याख्यां वितनोमि, तद्वीरकृपयैव, न ममाल्पज्ञस्य माहात्म्येनेति । अथ श्रीमन्महावीरस्य प्रभोर्गुणा निगद्यन्तेऽतोऽत्र जम्बूनामधेयोऽन्तेवासी सुधर्म्माणं धर्म्माचार्यं आ=मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्य्यते सेव्यन्ते जिनशासनोन्नत्यर्थोपदेशकतया तदाकांक्षिभिरित्याचार्यास्तमाचार्य्यम्; उक्तञ्च—

सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढिभूओ य,
गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरिया ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

सूत्रार्थविल्लक्षणयुक्तो, गच्छस्यालम्बनभूतश्च ।
गणतप्तिविप्रमुक्तः सम्यगर्थं वाचयत्याचार्या इति ॥

यद्वा आचारो ज्ञानाचारादिः पंचधा, आ=मर्यादया वा चारो विहार आचारस्तं साधवः स्वयं करणात्प्रभाषणात्प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः ।
आह च—

पंचविहं आयारं, आयरमाणा तहा पयासंता,
आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चंति ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

पंचविधमाचारमाचरमाणास्तथा प्रकाशमानाः ।
आचारं दर्शयन्त आचार्यास्तेनोच्यन्त इति ॥

इति च विशेषावश्यके—

अथवा आ=ईषत् अपरिपूर्णा इत्यर्थः, चारा हेरिका ये ते आचाराः, चारकल्पा इत्यर्थः, युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्याः । एषामाचारोपदेशकतयोपकारित्वात्, तमाचार्यम् । *द्वादशाङ्गशास्त्राध्यापयितारमित्यर्थः । "मन्त्रव्याख्याकृदाचार्य इत्यमरः" । मोक्षशास्त्रोपदेष्टरि, श्रीधर्मगुरौ, "इति शब्दार्थचिन्तामणिः" । अथवा=

---

* समवायागसूत्रगतो द्वादशाङ्ग्या परिचय सक्षिप्यात्र उद्धृत स चैवम् ।

आचाराङ्गः—आयारेणं समणाणं निग्गंथाणं आयार-गोयर-विणय-वेणइअ–ठाण–गमण–चंकमण–पमाण–जोग–जुंजण–भासा–समिति–गुत्तिसेज्जोवहि–भत्त–पाण–उग्गम–उप्पाय–एसणा–विसोहि–सुद्धासुद्धग्गहण–वय–नियमतवो–वहाणसुपसत्थमाहिज्जइ × × × × पढमे अगे दो सुअक्खंधा, पणवीस अज्झयणा, पंचासी उद्देसणकाला, पंचासी समुद्देसणकाला, अठारसपयसहस्साइं ।

भावार्थः—समवायागसूत्रगत द्वादशागी वाणीका संक्षेपसे इस प्रकार परिचय उद्धृत किया जाता है ।

आचारांगः—आचाराग सूत्रमे इस प्रकार के विषयों का वर्णन किया गया है यथा–श्रमण निर्ग्रंथोका सुप्रशस्त आचार, गोचर (भिक्षाविधि), विनय, वैनयिक, कायोत्सर्गादि सुन्दर और एकान्त स्थान, विहारभूम्यादि गमन, चंकमण अर्थात् टहलना, या शारीरिक श्रम दूर करने के लिए उपाश्रयमे वनसे वस्ति में गमन, विश्राम, आहारादि खाद्य पेय पदार्थों का माप, स्वाध्यायादि

'स्वयमाचरते शिष्यानाचारे स्थापयत्यपि । आचिनोति हि शास्त्रार्थ-माचार्यस्तेन कथ्यते' । इति कुलार्णवः । "आम्नायतत्वविज्ञाना-चराचरसमानतः । यमादियोगसिद्धत्वादाचार्य इति कथ्यते" ॥ १ ॥ इति शाकरे ॥ अतोऽत्र जिनधर्म एव मन्त्रस्तस्य व्याख्याकृत्, श्रीमान् सुधर्माचार्य इति भावः । तं सुधर्माचार्यं प्रति श्रीमन्महावीरचरमतीर्थ-कृद्गुणान् पृष्टवान्, विनयेनेति शेषः "सन्मतिर्महतिर्वीरो, महावीरो-

---

नियम, नियोग, भाषा समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्त, पान, उद्गमादि (उद्गम, उत्पाद, एषणा) दोषोंकी विशुद्धि, शुद्धाशुद्धग्रहण, व्रत, नियम, तप और उपधान ।

प्रथम सूत्र आचारांग में दो श्रुतस्कन्ध, ८५ उद्देशनकाल, ८५ अनुद्देशनकाल, तथा १८००० पद कहा है ।

सूत्रकृतः—सूयगडे णं ससमया सूइज्जंति, परसमया सूइज्जन्ति, ससमय-परसमया सूइज्जंति, जीवा सूइज्जंति अजीवा सूइज्जंति, जीवाजीवा सूइज्जंति, लोगे सूइज्जंति, अलोगे सूइज्जंति, लोगालोगे सूइज्जंति, सूअगडेणं जीवाजीवे पुण्णपावा सवसंवरनिज्जरणबंधमुक्खावसाणा पयत्था सूइज्जंति । × × × × × असी-अस्स किरियावाइसयस्स, चउरासीए अकिरियवाईणं, सत्तट्ठीए अण्णाणिय-वाईणं, बत्तीसाए वेणइअवाईणं, तेवीसं उद्देसणकाला, तेवीसं समुद्देसणकाला, छत्तीसं पदसहस्साइं ।

सूत्रकृतः—सूत्रकृतांग (सूयगडांग) में प्ररूपित विषय इस प्रकार हैं । स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, स्व-परसिद्धान्त, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इनके नव पदार्थ, इतर दर्शन मोहित अर्थात् अबोध दीक्षितकी बुद्धिको शुद्ध करनेके लिए १८० क्रियावादी के मत ८४ अक्रियावादीके मत, ३२ विनयवादीके मत, अज्ञानवादीके ६७ मत, सब मिलकर ३६३ अन्यदृष्टिके मतोंका परिक्षेप करके स्वसमय स्थापन,

सूत्रकृतांगमें दो श्रुतस्कंध हैं, २३ अध्ययन हैं, ३३ उद्देशन काल हैं, ३३ समुद्देशन काल हैं । ३६००० पद कहा है ।

ऽन्तकाश्यपः । नाथान्वयो वर्धमानो, यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् ।" इति धनंजयनाममाला । अथाऽसावपि भगवान् सुधर्मास्वाम्येवं गुणविशिष्टो 'ज्ञातृपुत्रो महावीर इति' कथितवांश्च मां प्रतीति शेषः । एवं चासौ वर्धमानोऽर्हन् "सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्, केवली धर्मचक्रभृत्" 'इति धनञ्जयः' । विष्टपस्य संसारस्य सांसारिकविषयस्येत्यर्थः स्रक्चन्दनव-

---

स्थानांगः—ठाणेणं ससमया ठाविज्जंति, परसमया ठाविज्जंति, ससमयपरसमया ठाविज्जंति, जीवा ठाविज्जंति, अजीवा ठाविज्जंति, जीवाजीवा ठाविज्जंति, लोगा, अलोगा, लोगालोगा ठाविज्जंति, × × × × × तइए अगे पणसुअक्खंधा दस अज्झयणा, एक्कवीस उद्देसणकाला, एक्कवीसं समुद्देसणकाला, वावत्तरि पदसहस्साइं ।

स्थानांगः—स्थानांग सूत्र में निरूपण किए हुए ये विषय हैं । स्वसमय, परसमय, स्व-परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक का स्थापन,

तीसरे (स्थानाग) अग मे पाच श्रुतस्कन्ध, दश अध्याय, २१ उद्देशनकाल, २१ समुद्देशनकाल, और ७२००० पद सख्या है ।

समवायांगः—समवाएणं ससमया सूइज्जंति परसमया सूइज्जंति, ससमयपरसमया सूइज्जंति, समवाएणं एकाइयाणं एगठाणं एगुत्तरियं, परिवुड्ढिए, दुवालसगस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समणुगाइज्जइ, × × × × × चउत्थे अगे, एगे अज्झयणे, एगे सुयक्खंधे, एगे उद्देसणकाले, एगे समुद्देसणकाले एगे चउयाले पदसहस्से ।

समवायाङ्गः—समवायागमें स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, स्व-परसिद्धान्त, और एक सख्यासे लगा कर अधिकसख्यातक पदार्थोंका परिगणन एकोत्तरिक, परिवृद्धिपूर्वक प्रतिपादन है, अर्थात् प्रथम एकसख्यक पदार्थोंका निरूपण करके फिर द्विसख्यक पदार्थों का वृत्तान्त है । इस क्रमसे प्रतिपादन करने के बाद द्वादशाग गणिपिटकके पर्य्यवोंका प्रतिपादन किया गया है । चतुर्थ समवाय (अंग) मे एक अध्याय, एक श्रुत स्कन्ध, एक उद्देशन काल, एक समुद्देशन काल, और एक लाख चवालिशहजार पद संख्या है ।

नितादेरिति यावज्जयं तिरस्क्रियां चकार। "विष्टपं भुवनं लोको जगदिति कोषः" । "परिभवः पराभवस्तिरस्क्रियेति कोषः" । अतो

व्याख्याप्रज्ञप्ति.—(भगवती) विआहेणं ससमया विआहिज्जंति, परसमया विआहिज्जंति, ससमय-परसमया विआहिज्जंति, जीवा विआहिज्जंति, अजीवा विआहिज्जंति, जीवाजीवा विआहिज्जंति, लोगे विआहिज्जंति, अलोगे विआहिज्जंति, लोगालोगे विआहिज्जंति, विआहे णं नाणाविहसुरनरिंदरायरिसिविविहसंसइअ पुच्छिआणं, जिणेणं वित्थरे ण, भासिआणं, दव्वगुण-खित्त-काल-पज्जव-पदेस-परिणाम-जहत्थि अभाव अणुगम-निक्खेव-णय-प्पमाण सुनिउणोवक्कम विविहप्पकारपगडपयासिआणं. संसारसमुद्दरुंदउत्तरणसमत्थाणं, सुरवइसंपूजिआणं, भवियजणपयहिअयाभिनंदिआणं, तमरयविद्धंसणाणं, सुदिट्ठदीवभूअईहामतिबुद्धिवद्धणाणं छत्तीससहस्समणूणयाणं वागराणाणं दंसणाओ, सुअत्थबहुविहप्पगारा, सीसहिअत्था × × × × × पंचमे अंगे एगे सुअक्खंधे, एगे साइरेगे अज्झयणसए, दसउद्देसगसहस्साइं, दससमुद्देसगसहस्साइं, छत्तीसं वागरणसहस्साइं, चउरासीइं पयसहस्साइं।

व्याख्याप्रज्ञप्तिः—(भगवती) सूत्र मे स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, इत्यादि कथनके अतिरिक्त, भिन्नभिन्न प्रकारके देव, राजा, राजर्षि, और अनेक प्रकारके सन्दिग्ध पुरुषोंने पूछे हुए प्रश्नोंका जिनेन्द्रदेवने विस्तारपूर्वक जो उत्तर दिए हैं। और वे उत्तर द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल, पर्याय, प्रदेश और परिणाम के अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण और विविध तथा सुनिपुण उपक्रम पूर्वक यथास्थितभावके प्रतिपादक हैं। जिनसे लोक और अलोक दोनों प्रकाशित हैं। जो विशाल संसार समुद्रसे पार कर देनेमें समर्थ हैं। इन्द्रों द्वारा पूजित हैं, भव्य लोकोंके हृदयसे अभिनन्दित हैं, अन्धकार रूप मैलके नाशक हैं। सुन्दर और दर्शनीय हैं, दीपक की तरह [illegible] तथा निर्णय देने वाले हैं। ईहा, मति, और बुद्धिके बढानेवाले हैं, जिनकी संख्या ३६००० से पूरी होती है, और जो उत्तरोंके उपनिबन्धसे बहुत प्रकारके श्रुतार्थके [illegible] शिष्योंके हितार्थ [illegible] हैं। पंचम अंग (भगवती) में एक श्रुतस्कन्ध, [illegible] १०० अध्ययन हैं। दश हजार उद्देशक, १०००० समुद्देशक, ३६००० प्रश्न और ८४००० पद संख्या है।

वीरः ससारं यथा जितवान्, वयमपि तथैव तज्जयाय प्रयत्नं कुर्म्मः । भगवन्! वहुविधां नरकविभक्ति च श्रुत्वा संसारादुद्विग्नमनसः 'केनेयं नरकविभक्तिः प्रतिपादितः' इति मामप्राक्षुरिति, पुनश्चैवं भूतो धर्मः

ज्ञाता-धर्मकथांगः—णाया-धम्म-कहासु णं णायाण नगराइं, उज्जाणाइं, वणखण्डा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइ, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइअ-इड्ढिविसेसा, भोग परिच्चाया, पवज्जाओ, सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, परियागा, सलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइ, सुकुलपच्चाया, पुण वोहिलाभो, अतकिरिआओ, अ आघविज्जति, × × × × × छट्ठे अगे· दो सुअक्खंधा, एगूणतीस अज्झयणा, ते समासओ दुविहा, पन्नत्ता, तंजहा, चरित्ता अ, कप्पिआ अ, दश धम्म कहाण वग्गा, तत्थणं एगमेगाए धम्म कहाए पंच पंच, अक्खाइयासयाइं, एगमेगाइ अक्खाइआए पंच पंच उवक्खाइआसयाइं, एगमेगाए उवक्खाइआए पच पंच अक्खाइआ, उवक्खाइअसयाइ, एवामेव सपुव्वावरणं अद्धुट्ठाए अक्खाइअकोडिओ, भवंतीतिअक्खायाओ, एगूणतीस उद्देसणकाला, एगूणतीस समुद्देसणकाला, सखेज्जाइ पयसहस्साइ, ।

ज्ञाताधर्मकथा—इस सूत्रमे उदाहरणभूत पुरुषो के नगर, उद्यान, वनखण्ड, राजा, माता पिता, समवसरण, धर्म्माचार्य, धर्म्मकथा, ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या, श्रुत परिग्रह, तप, उपधान, पर्याय, सलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, फिर उत्तम कुल मे अवतार, पुनर्जन्म, वोधिलाभ और अन्तक्रिया इत्यादि अनेक विषयो-का कथन विस्तारसे कियागया है । छठवे ज्ञाता धर्म्मकथांगमें दो श्रुतस्कन्ध हैं, जिनमे २९ अध्याय हैं, वे अध्याय चरित्र और कल्पिक भेदसे दो तरहके बताए हैं । धर्मकथाके १० वर्ग हैं । जिसकी एक-एक धर्म्म कथामे ५००-५०० आख्यायिकाए हैं, एक एक आख्यायिकामे ५००—५०० उपाख्यायिकाएं हैं, एक एक उपाख्यायिकामे ५००—५०० आख्यायिकोपाख्यायिकाएँ हैं, और फिर इसी प्रकार से सपूर्वापर (सवमिलकर) साढे तीन क्रोड आख्यायिकाए हो जाती हैं । इसमे २९ उद्देशनकाल, तथा २९ समुद्देशनकाल हैं, और सख्यात लाख पद हैं, यानी ५ लाख ७६ हजार पद हैं ।

संसारोत्तारणसमर्थः केन प्रतिपादितः । इत्येतद्ब्रूवो मामिति भावः । ते के इत्याकांक्षायामाह श्रमणाः=साधवो निर्ग्रन्थादयः । "तपस्वी

उपासकदशांगः—उवासगदसासु णं उवासगाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसंडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरियाइं, धम्मकहाओ, इहलोइय, परलोइअइड्ढिविसेसा, उवासयाणं, सीलव्वय वेरमणगुणपच्चक्खाण, पोसहोववासपडिवज्जिआओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणा, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चाया, पुणो बोहिलाभो, अंतकिरिआओ, आघविज्जति, × × × × × सत्तमे अंगे एगे सुअक्खंधे, दसअज्झयणा, दसउद्देसणकाला, दस समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं ।

उपासकदशांगः—इसमें उपासकोंके (श्रावकोंके) नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, इहलोक और परलोककी ऋद्धिविशेषता तथा श्रावकोंका शीलव्रत, विरमण, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास, श्रुतपरिग्रह, तप उपधान, प्रतिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, श्रेष्ठकुलागमन, बोधिलाभ और अन्तक्रियादिकका वर्णन है। × × सातवें उपासकदशांगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश अध्ययन, दश उद्देशनकाल, दश समुद्देशनकाल, और संख्यात हजार पद अर्थात् ११५२००० पदोंकी संख्या है।

संयमी वर्णी, योगी साधुश्च तापसः । ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुः संयतः श्रमणो व्रतीति" धनंजयः । "यतिभेदे, साधुभेदे वा, भिक्षाजीविनि, शरीरभेदे वेति शब्दस्तोममहानिधिः" । "तपस्विनि, श्रमणः परिव्राट्, संन्यासीति पूज्यपादाः" । जैनभिक्षुके, निर्ग्रन्थे चापि, 'श्राम्यतीति

एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, सत्तवग्गा, दस उद्देसणकाला, दस समुद्देसण-काला, सखेज्जाइं पयसहस्साइं,

अन्तकृद्दशांगः—अन्तगडदशाग सूत्रमे अन्तकृत् (तीर्थंकरादि) पुरुषोंके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्म्माचार्य, धर्मकथा, ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धि, भोगपरित्याग, प्रव्रज्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, बहुविधप्रतिज्ञाराधन, क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य सहित शौच, सतरह प्रकारका सयम, उत्तम ब्रह्मचर्य, अकिंचनता, तप, क्रिया, समिति, गुप्ति, अप्रमादयोग, उत्तमस्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग का स्वरूप, उत्तम संयम-प्राप्ति और परिषह जीतनेवाले पुरुषोंका चारप्रकारके घातिक कर्म क्षय होने से केवलज्ञानका प्राप्त करना, (अनन्त चतुष्टयकी प्राप्ति) मुनि पर्यायके पालन करनेकी अवधि, पादपोपगत पवित्र मुनिवर जितने भक्तों (भोजन समयों) को बिताकर जहा अन्तकृत् हुए वह विवरण और भी मुनिराज कि जो मुक्तिके अचल सुखोंको प्राप्त हुए, इत्यादि सब वर्णन आठवे (अतगड) अगमें एक श्रुतस्कन्ध के ही अन्दर है, इसके दश अध्ययन हैं, सात वर्ग हैं, दश उद्देशन काल हैं, दश समुद्देशन काल है, और सख्यात लाख पद है, अर्थात् २३०४००० पद सख्या है ।

अनुत्तरोपपातिकदशांगः—अणुत्तरोववाइअ दसासु णं अणुत्तरोव-वाइआणं नगराइ, उज्जाणाइं, वणखडा रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोग-परलोगस्स इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, सुअपरिग्गहाओ, तवोवहाणाइं, परियागो, पडिमाओ, सलेहणाओ, भत्तपाण-पच्चक्खाणाइं, पावोवगमणाइं, अणुत्तरोववाइ ओ, सुकुल पचाया, पुणोबोहिलाभो, अनकिरियाओ, आघविजंति, + + + + + नवमे अगे एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, तिण्णि वग्गा, दस उद्देसणकाला दस समुद्देसण-काला, संखेज्जाइ पयसहस्साइं,

श्रमणः ।' इति "शब्दार्थचिन्तामणिः" श्राम्यति परदुःखं जानातीत्यपि ।' च पुनर्ब्राह्मणाः ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः । "द्विजात्यग्रजन्म, भूदेववाडवाः । विप्रश्च ब्राह्मण" इत्यमरः । ब्रह्म परमात्मानं

अनुत्तरोपपातिकः—इस सूत्रमें अनुत्तरोपपातिकोंके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्म्माचार्य, धर्म्मकथा, इत्यादिकका वर्णन है, और ऐहिक तथा पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, पर्य्याय, प्रतिज्ञा, सल्लेखना, भक्तपानप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, श्रेष्ठकुलमें पुनर्जन्म, बोधिलाभ, अन्तक्रिया, इत्यादि विषयोंका वर्णन है। × × नवम (अनुत्तरोपपातिक) अगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश-अध्याय, तीन वर्ग, दश उद्देशनकाल, दशसमुद्देशनकाल, संख्यातलाख पद—अर्थात् ४६०८००० पद हैं।

प्रश्नव्याकरण—पण्हावागरणेसु अट्ठुत्तर अपसिणसयं, अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं, विज्जाइसया, नागसुवण्णेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति, विमलयराण अइसयमइ अयालदमसमतित्थकरुत्तमस्स ठिइकरणकारणाणं, दुरहिगमदुरवगाहस्स, सव्वसव्वण्णुसम्मअस्स, अबुहजणबोहणकरस्स, पच्चक्खयपच्चयकराणं, पण्हाणं, विविहगुणमहत्था, जिणवरप्पणीआ आघविज्जंति, + + + + दसमे अंगे एगे सुयक्खंधे, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाणि पयसयसहस्साणि ।

सिद्धं जानातीति ब्राह्मणः । परब्रह्मज्ञे ब्राह्मण इति शब्दस्तोममहानिधिः । ब्राह्मणलक्षणानीत्थं ब्रुवन्ति वृद्धाः । यथा—

'क्षमा, तपो, दया, दानं, सत्यं, शौचं, ह्यणुव्रतम् ।
विद्याविनयसम्पन्नं प्रथमं ब्रह्मलक्षणम् ॥ १ ॥
शान्तो दान्तः सुशीलश्च, सर्वभूतहिते रतः ।
क्रोधावेशं न जानाति, द्वितीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥ २ ॥
निर्लोभो निरहंकारः पापत्यागं करोति यः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तस्तृतीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ३ ॥
परद्रव्यं यथा दृष्ट्वा, पथि गेहेऽथवा वने ।
अदत्तं नैव गृह्णाति, चतुर्थं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ४ ॥
मद्यमांसमधुत्यागी—त्यक्तोदुंबरपञ्चकः ।
भुनक्ति न निशाहारं, पञ्चमं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ५ ॥

ज्जाओ, य आघविज्जति, से तं दुहविवागाणि, से किं तं सुहविवागाणि? सुहविवागेसुण सुहविवागाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणखडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोअ–परलोअ इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाआ, पव्वज्जाओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, परियागा, पडिमाओ, संलेहणाओ, भत्तपाणपच्चक्खाणाइ, पावोवगमणाइ, देवलोगगमणाइं, सुकुल पच्चाया, पुणबोहिलाहो, अतकिरियाओ, आघविज्जति, × × × × × एक्कारसमे अगे वीस अज्झयणा, वीस उद्देसणकाला, वीस समुद्देसणकाला, सक्खेज्जाइं पयसयसहस्साइ ।

विपाकश्रुत—इसमें सुकृतकर्म्मोंका और दुष्कृत कर्म्मोंका फलविपाक-परिणाम बताया गया है । वह फलविपाक संक्षेपसे दो प्रकारका है । यथा दुःखविपाक और सुखविपाक । जिनके १०—१० भेद है । दुःखविपाकमें दुःखविपाकवालोंके नगर, उद्यान, वनखड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्म्माचार्य्य, धर्म्मकथा, नगरगमन, संसार प्रबन्ध, दुःखपरम्पराका ब्यौरेवार वर्णन है ।

'कश्चित्तु ब्राह्मणा दशधा प्रोक्तास्त एवम्'

यथा—देवो द्विजो मुनी राजा, वैश्यः शूद्रो बिडालकः ।
खरो म्लेच्छश्च चाण्डालो, विप्रास्तु दशधा मताः ॥ १ ॥

देवः—एकाहारेण सन्तुष्टो, मद्यमांसविवर्जितः ।
पारीणस्तत्त्वविज्ञाने, स विप्रो देव उच्यते ॥ १ ॥

द्विजः—यागिको नियमी चैव, संयमी संयतेन्द्रियः ।
समो दमक्षमायुक्तो द्विजो विप्रः स उच्यते ॥ १ ॥

मुनिः—रूक्षाऽऽहारी दिवाहारी, वनवासे रतः सदा ।
कुरुतेऽहर्निशं ध्यानं, स विप्रो मुनिरुच्यते ॥ १ ॥

नृपः—अश्वादियानैर्न्नकुर्यो विग्रहे चातिवर्तते ।
आरंभः शासकः शूरः, स विप्रो हि नृपः स्मृत. ॥ १ ॥

वैश्यः—कृषिवाणिज्यगोरक्षां, न्याय सेवां करोति यः ।
धातूना संग्रही नित्य, स विप्रो वैश्य उच्यते ॥ १ ॥

शूद्रः—लाक्षातैलक्रयं चैव, विक्रयं व्याजभक्षकः।
विक्रेता मद्यमांसानां, स विप्रः शूद्र उच्यते ॥ १ ॥

बिडालः—भक्ष्याभक्ष्यं न जानाति, नाट्यं वाद्यं करोति यः।
परस्त्रीगमनं कर्ता, बिडालः स हि प्रोच्यते ॥ १ ॥

म्लेच्छः—वापीकूपतडागानामपूतजलसंग्रहः।
परदुःखं न जानाति, विप्रो म्लेच्छः स कथ्यते ॥ १ ॥

चाण्डालः—अहिंसां नैव जानाति, सर्वदा प्राणिघातकः।
वनं दग्ध्वा कृषिं कुर्यात्, विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥ १ ॥

खरः—शास्त्राध्ययनजाप्यादिकर्मषट्कविवर्जितः।
जातमृत्युगृहे भोजी, खरो विप्रः स उच्यते ॥ १ ॥

श्वः—नाच्छादयति परदोषं, कुर्यात्स्वपापगोपनम्।
शुनः पुच्छमिव व्यर्थं, ब्राह्मधर्मविवर्जितः ॥ १ ॥

जन्मकाले भवेच्छूद्रो, वृद्धिकाले भवेद्द्विजः।
शास्त्राभ्यासे भवेद्विप्रो, ब्रह्मविद्ब्राह्मणः स्मृतः ॥ १ ॥

स तत्राऽब्राह्मणो यथा—

कोहो य माणो य वहो य जेसिं,
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा,
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥ १४ ॥

(संस्कृतच्छाया)

क्रोधश्च मानश्च वधश्च येषां, मृषाऽदत्तं च परिग्रहं च।
ते ब्राह्मणा जातिविद्याविहीना-स्तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि ॥१४॥

उत्तराध्ययन अ० १२

[ब्राह्मणोचितश्रेष्ठयज्ञः]

सुसंवुडा पंचहिं संवरे हिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणा ।
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा,
महाजयं जयइ जन्नसेट्ठं ॥ ४२ ॥

सुसंवृताः पंचभिः संवरै-, रिह जीवितमनवकांक्षमाणाः ।
व्युत्सृष्टकायाः शुचित्यक्तदेहाः, महाजयं यजन्ते श्रेष्ठयज्ञम् ॥ ४२ ॥

उत्तराध्ययन अ० १२

[ब्राह्मणोचितस्नानतीर्थम्]

धम्मे हरए बम्भे संति तित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ ४६ ॥
एयं सिणाणं कुसले हि दिट्ठं,
महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा,
महारिसि उत्तमं ठाणं पत्ते ॥ ४७ ॥

संस्कृतच्छाया

धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्तितीर्थं, अनाविल आत्मप्रसन्नलेश्ये ।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः, सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥ ४६ ॥
एतत्स्नानं कुशलैर्दृष्टं, महास्नानमृषीणां प्रशस्तम् ।
यस्मिन् स्नाता विमला विशुद्धा, महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ॥ ४७ ॥

यथाऽऽगारिणो-गृहपतिः, 'सदनं सद्म भवनं धिष्ण्यं गेहमालय मन्दिरम्, गेहं निकेतनमागारमिति' धनंजयः । आ-न्, [illegible]

घञ्, आगमृच्छतीति, प्राप्नोति वेति, आग, आ-ऋ गतावण् वेति आगारं,=गृहमस्यास्तीत्यागारी, ते । आगारिणः, क्षत्रियादयश्चेति भावः । परतीर्थिकाः परमतावलम्बिनः शाक्यादयश्चेति वा; ते सर्वेऽपि, किं तदिति दर्शयति, स को योऽसावेनं धर्मम् । आगारानागारविच्छिन्नमाहोक्तवान् । धृञ् धारणे धातौ मन्, "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृष" इत्यमरः । 'वत्थुसहावो धम्मो' 'यतोऽभ्युदयो निःश्रेयसी स धर्मः,' दुर्गतौ प्रपततां प्राणिनां धारणाद्धर्मं रक्षकमेकान्तहितमाहोक्तवानिति । किंभूतं धर्ममनीदृशमतुलम् । कयोक्तवान्? साधुसमीक्षया समतयेति भावः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(समणा) भिक्षु (माहणा) ब्राह्मण (य) और (अगारिणो) श्रद्धालु गृहस्थ (य) तथा (परतित्थिया) और और जैनतरमतावलम्बी (पुच्छिस्सु) पूछेंगे कि–जिन्होंने (साहुसमिक्खयाए) अच्छी तरह स्वाभाविक ज्ञानद्वारा (णेगंतहियं) सब प्रकारसे कल्याण और उद्धार करनेवाला (अणेलिसं) उपमा रहित (धम्मं) आत्म–धर्म (आहु) कहा है (से) वे (केइ) कौन थे? ॥ १ ॥

भावार्थ—आर्य सुधर्म्माचार्य भगवान्से उनके सदैव समीपमे रहनेवाले आयुष्मान् जंबू शिष्यने पूछा कि–हे आर्य्य! संसारसमुद्रसे पार करनेवाला, एकान्त हितकारी एवं अनुपम आत्म–धर्म किसने प्रतिपादन किया है? मुझसे इस प्रकार अनेक भिक्षु–गृहस्थ एवं अन्यान्य–मतवालोंने प्रश्न किया है ॥ १ ॥

भाषाटीका—इस ससाररूपी गहन वनमें घूमते फिरते प्राणिओंके लिए दश दृष्टान्तोंसे मनुष्यजन्मका मिलना अत्यन्त कठिन है, इसके अतिरिक्त आर्यदेश [आर्य भोजन, आर्य वृत्ति, आर्य वेशभूषा, आर्य पडौस, आर्य सहवास, आर्य भाषा,] उत्तम कुल, लम्बा आयु, आरोग्य शरीर, समस्त इन्द्रियोंकी इच्छानुकूल सामग्रियोंका सयोग मिलना तो और भी कठिन है, परन्तु श्रीवीतराग भगवान्के धर्ममे प्रवृत्त होना सबसे अधिक मुश्किल है, और जगत्के जीवोंको सर्वज्ञोक्त धर्म ही कल्याण और मगलका करने वाला है । इसी मात्र औषधके अनुपानसे शरीर और मन सम्बन्धी कर्म्म रोग नाश होते हैं, और वह धर्म ज्ञातपुत्रमहावीर प्रभुने चार प्रकारका प्रतिपादन किया है । जो कि–दान, शील, तप और भावसे पहचाना जाता है ।

दान धर्म की विशेषता-

दानको सबसे प्रथम इसलिए कहा है कि यह दान धर्म पिछले तीन भेदोंमें भी समाया हुआ है, लोकोंमें इसलोक, तथा परलोककी अपेक्षासे दान देनेकी प्रणाली सबसे पुरानी है, श्रीमान् तीर्थङ्कर भगवान् सबसे पहले एक वर्ष दान देकर फिर दीक्षा लेते हैं।

शीलमें भी दान धर्मका समावेश-

शील धर्ममें भी दानधर्म ज्योंका त्यों समाया हुआ है, क्योंकि ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करनेपर असंख्य द्वीन्द्रिय, और असंख्य सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय जीवोंको तथा नवलाख गर्भजपंचेन्द्रिय जीवोंको ब्रह्मचर्य पालन करनेसे प्रतिचार अभयदान मिलता है। इसीसे शास्त्रकारोंने भी इसका बडा माहात्म्य लिखा है।*

शील व्रतको स्वीकार करके वीर्य (प्राणशक्ति) का रक्षण करता हुआ मर्यादित [illegible] [illegible] से मुक्त होजाता है, और मानो वह अपने को भी अभयदान देता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शीलमें भी दान ही गर्भित है।

तपमें भी दानधर्मका अन्तर्भाव-

शीलकी तरह तपश्चरण करनेमें भी दानधर्मकी आराधना हुई है। यह सब जानते हैं कि [illegible] पापकी विराधना (हिंसा या आरंभ) के लिए भोजनका बनाना आवश्यक है। परन्तु [illegible] उपवासादि तप करनेपर [illegible] होतेहुए [illegible] होकर उस दिन [illegible] [illegible] है, इस [illegible] तप करनेमें भी दान धर्मका [illegible] होजाता है।

भावधर्म तो दान धर्म है ही–

भाव प्रवृत्तिको रोक कर करुणा पैदा करनेका नाम है । तथा जीव और अजीवकी अप्रमत्तयोगसे रक्षाकरना भाव है, वहां भी सबको भावकी दृष्टिसे अभयदान ही मिलता है । अत. प्राणीरक्षाका नाम ही भाव या भावशुद्धि है ।

क्या साधु भी दान देता है ?

जैन मुनि भी प्रतिदिन उपदेशदान, ज्ञानदान, शिक्षादान, रूढिच्छेदक शिक्षा दान देकर मानव समाजपर महान् उपकार करते हैं । इसपर लोक कभी यह भी कह देते हैं कि–साधुको अन्नदाता न कहकर दानी या राजाको ही अन्नदाता कहना चाहिए । साधु क्या कभी किसीको रोटी पानी दे सकता है ? मगर इतना तो अवश्य समझ लेना चाहिए कि–क्या भोजन अन्न ही हो सकता है ? और कोई वस्तु नहीं, क्या अन्नसे ही तृप्ति होती है ? यदि सच पूछा जाय तो आत्माकी खुराक अन्न पानी नहीं है । यह तो परवस्तु तथा शरीरको पोषण करनेवाली पौद्गलिकवस्तु है । और आत्माकी निजी खुराक तो उसका ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, सम, संवेद, निर्वेद, अनुकम्पा आस्तिक्य ही है । इस वास्तविक खुराकको प्राप्त करनेपर आत्माकी सदाके लिए तृप्ति हो जाती है । अतः पूज्य मुनिवर्य्य ज्ञान, दर्शन चरित्रकी आत्मीय खुराक देनेके नाते अन्नदाता भी हो सकते हैं । और इस दानके सुन्दर कार्य भारके सचालक मुनि ही होते हैं जोकि दोनों प्रकारसे निर्द्वन्द्व हैं ।

शील, तप और भाव गुप्त रीतिसे दानमे ही छुपे हुए हैं । अत एव चारों धर्मोंमे पहले दानको प्रमुखस्थान प्राप्त है । परन्तु दान, शील, तप भी भावके सद्भावसे अर्थात् पवित्रभावरूपी सुन्दरलहरके आनेपर सफल हो सकते हैं अन्यथा नहीं ।

धर्मरत्न–

चतुर्विध अमूल्य धर्मरत्न पाकर श्रेष्ठकुलकीप्राप्ति, समस्त इन्द्रियादिक की अनुकूल सामग्री युक्त मानवका कर्तव्य है कि–वह अनेकान्तवादकी शैलीको समझकर जिनेन्द्रके धर्मतत्वका आश्रय पाकर आठकर्मरूप पर्दोंको तोड़नेका प्रयत्न करे ।

कर्म नाश करनेकी कसौटी–

कर्मोंका नाश त्याग, वैराग्य, सयम, नियम, तपकी अग्निमे आत्मासे इस

प्रकार होता है जैसे अग्निसे सुवर्णका मल नाश होता है अतः उपरोक्त साधनोंसे साधकका कर्तव्य है कि उन्हें समझनेकेलिए सर्वज्ञप्रभुका उपदेश सुनना चाहिए। और आप्तका रहस्य जानना चाहिए। यह निस्सन्देह है कि आप्त अठारह दोषों से रहित होते हैं। वे चार घनघातिक कर्म क्षय करके अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और वह अनन्तसुख देहावस्थामें भी प्राप्त कर सकते हैं। वे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चार धर्मतीर्थ स्थापन करनेके नाते तीर्थंकर कहलाते हैं। और धर्मका आद्य प्रवर्तन करनेसे तथा अनन्त विभूति प्राप्त करनेपर वे असंख्य देव और इन्द्रकी सेवा के योग्य होते हैं अतः अर्हन भी हैं। और इस वर्तमान अवसर्पिणी-कालके चतुर्थ-आरकमें हमारे इस भारत वर्षमें २४ अर्हन् हो गए हैं। जिनमें अन्तिम भगवान् महावीर प्रभु हुए हैं।

वीर प्रभुकी स्तुति-

ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुका हमपर पूरा उपकार है। उनके उपकारोंका अनुमान नहीं हो सकता है। उन्हें निर्वाण हुए यद्यपि २४६५ वर्ष होगए हैं तथापि उनका अनुकरण करनेके लिए उनके गुणोंका स्मरण करना, तथा उनकी भक्ति करना हमारा परम कर्तव्य है, अतः आज उनकी स्तुतिरूप स्तोत्र प्रचार करनेकेलिए प्रकाशित हुआ है।

उनकी अनेक स्तुतियें और मेरा उद्देश्य-

अवश्य प्राप्त होगी। क्योंकि मणिमें डोरा पिरोने की अपेक्षा उसका वेध करना कठिन होता है। अतः उनकी स्तुति रूप कृति तो पहलेसे ही विराजमान है किन्तु मैं तो उनकी स्तुतिरूप मणिको अपनी अननुभूत टूटी फूटी लोक भाषाके डोरेमे ही पिरोनेका सतत प्रयत्न करुंगा। और यह मेरी अनल्पीयसी भक्तिके कारण अधिक कठिन नहीं है। परन्तु यह सब प्रभुकी कृपा ही है। मेरी इसमे कुछ विशेषता नहीं है। क्योकि उन्होने २५०० वर्ष पहले आत्म-ज्ञानका मार्ग भव्यात्माओकेलिए परिमार्जित कर दिया है। इसमे मुझ सम अल्पमतिकी मजाल नहीं कि–कुछ विशेपता पैदा कर सकूं, यह सब प्रक्रिया उनकी ही बताई हुई तो है।

वीर प्रभु का गुण गान करते समय–
आरंभमें गुरु और शिष्यकी बातें।

अन्तिम तीर्थंकर ज्ञातनन्दन–महावीर प्रभुके गुणोको जाननेकेलिए जिज्ञासु जम्बू ने जोकि एक मुमुक्षु अन्तेवासी शिष्य थे, वे वस्तुका निश्चय करनेमें सदैव सचेष्ट रहते थे, वे तत्वको पाकर असीम श्रद्धा और प्रतीति के साथ मनन करनेवाले महापुरुषों मे से एक थे;

आचार्य और उसकी पहिचान

वे भगवान् सुधर्माचार्यकी सेवामे सदाकाल तत्पर रहते थे। सुधर्म्मा एक विशेप आचार्य तथा समझदार जैनसमाजके सच्चे नेता थे। वे चतुर समाजको हमेशा सगठन और सच्चरित्री रहनेका पूर्णतया प्रभावोत्पादक उपदेश कियाकरते थे। वे स्वयं भी विनयशील और आचारयुक्त थे। क्यौंकि जो स्वयं परिशुद्ध और गुणसमन्वित होता है वही चरित्राकांक्षीकी अध्यात्म-मनोरथ माला को गूथ सकता है अतः वही आचार्य होनेका सर्वाधिकारी है। कहा भी है कि–"जो सूत्र और अर्थका जाननेवाला है, आत्माके ज्ञानलक्षणको माजकर जिसने चमकीला कर दिया है। चारोसघकेलिए जो (पृथ्वी की भान्ति) अवलम्बनभूत है, सबकी अशान्तिका नाश करदेता है, आत्म–तत्व का उपदेशक है, वही आचार्य होता है",

वह पाच प्रकारके आचारोंका सतत पालन करता है। आपकी देखा देखी संघ भी सदाचारका अनुकरण करता है। इस प्रकारसे आचारका याथातथ्य उपदेश आचार्यके द्वारा ही मिलता है। क्योकि—

“जो पांच प्रकारके आचारोंका स्वयं समाचरण करता है, अध्यात्म-ज्ञानका प्रकाशक है, चरित्रको प्रगटसे पवित्र दृष्टिसे भावके रूपमें भर देता है, वही आचार्य होता है।”

आचार्य के छत्तीस गुण–

पांच इन्द्रियोंको वश करते हैं, नववाडविशुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभको दूर करते हैं, पांच महाव्रतोंका पालन करते हैं, पांच आचारोंका समाचरण करते हैं, पांच समिति, तीनगुप्ति इन आठ प्रवचनोंको धारण करते हैं, ये छत्तिस–गुण उत्पन्न होनेपर आचार्यकी योग्यता आ सकती है अन्यथा नहीं।

"ये मोक्ष शास्त्रके उपदेशक हैं।"
"शिष्योंको सदाचारमे स्थापन करते हैं।"
"शिक्षाके पूर्ण-स्वामी होते हैं।"
"आत्मयोग-सिद्धिका मार्ग इन्ही से मिलता है।"

श्रीमान् सुधर्म्म-आचार्य=आचार्यके समस्त गुणो से मण्डित हैं।

जम्बू अन्तेवासी का सुधर्म्माचार्य से प्रश्न।

अगाध गुणसमुद्ररूप सुधर्म्माचार्यसे जिज्ञासु शिष्य जम्बूने अतिम-तीर्थंकर भगवान् ज्ञातृपुत्र-महावीरस्वामीके गुणोका परिचय प्राप्त करनेके लिए यह पूछा कि वे प्रभु कैसे थे। धर्म-वर-चक्रसे संसारमे रुलानेवाले कर्मोका अन्त उन्होने किस प्रकार किया। जिसमार्गका अनुसरण उन्होने किया था यदि हम भी उसी मार्गका आश्रय ले तो हमारा प्रभुके साथ कैसे साम्य हो सकता है? नरकके दु खोंको सुनकर जिनका मन अत्यन्त उदास हो गया है, त्याग और वैराग्यसे जो समलंकृत होना चाहते हैं, वे श्रमणादि मुझसे पूछते हैं कि-ससारसे पार करनेवाला धर्म किसने प्रतिपादन किया है? ससारमे विचरण करते समय वहुतसे श्रमण भी यही प्रश्न करेंगे। वे श्रमण-साधु होते हे। परिग्रह ग्रन्थीके काटनेवाले हैं। निष्काम तप करते हैं। ये दूसरेके दु ख सुखको अपनी तरह समझनेके कारण खेदज्ञ भी होते हैं।

ब्राह्मण—

इसके अतिरिक्त मुझसे कई ब्राह्मण भी यही पूछेंगे। और वे ब्रह्मचर्य पालन करने से, सिद्ध-परमात्माका ज्ञान-मार्ग सुननेसे, परका आत्मा अपने समान जाननेसे, ब्रह्मके नाममे प्रसिद्ध हैं।

वृद्ध पुरुषों के बताए ब्राह्मण लक्षण—

जिसमें सहनशीलता, निरीहता, अहिंसकता, उदारता, सत्य, शौच, पाच अणुव्रत, क्रिया, विनय सम्पन्नता है उस पुरुषमे ब्राह्मणका पहला लक्षण है।

जो शान्त है, इन्द्रियोंको अपने वशमें करता है, पवित्र और दृढ ब्रह्मचारी है। सब प्राणियोंके हित और कल्याणमे सदैव लगा रहता है। जो कभी भी क्रोधके आवेशमें नहीं आता। यह ब्राह्मणका दूसरा लक्षण है।

जो निर्लोभी है, अभिमानसे रहित है, सर्वथा पापको त्याग चुका है, राग, द्वेष और मोहसे मुक्त है, यह तीसरा लक्षण है।

मार्गमें जंगलमें, या किसीके घरमें पर वस्तुको देख कर जिसका चोरी करनेको जी नहीं चाहता, चोरी करके परवस्तु नहीं लेता है यह ब्राह्मणका चतुर्थ लक्षण है।

जो मांस, मदिरा, मधुका कभी सेवन नहीं करता है; गूलर, अंजीर आदि बहुत से बीजोंवाले फल नहीं खाता है, तथा रातको भोजन नहीं करता है, यह पांचवा लक्षण है।

किसीने ब्राह्मण के १० प्रकार भी कहे हैं।

वैश्य-

जो खेती करता है, न्याय नीतिसे व्यापार करता है, पशु पालन करता है, सदैव न्यायका पक्ष लेता है, जन समाज की सेवा मे तत्पर है, जो दानके अर्थ सब प्रकारके धातुओंका अनुकूल-आर्य वृत्ति से सग्रह करना जानता है, वह ब्राह्मण वैश्यके समान है ।

शूद्र-

जो लाख और तैलका क्रय, विक्रय करता है, व्याज खाता है, माम, मदिरा वेचता है, वह शूद्र ब्राह्मण है,

विलाव-

जिसे भक्ष्याभक्ष्यका ज्ञान नहीं है, जो गाने वजानेका काम करता है, परस्त्री गामी है, वह ब्राह्मण विलाव प्रकृति का है ।

म्लेच्छ-

वावडी, कुँवा, तालावसे जो अनछना पानीका व्यवहार करता हो, परके आत्मसवन्धी दु खको न जानता हो, वह म्लेच्छ ब्राह्मण है ।

चाण्डाल-

जो जगलमे आग लगा कर खेती करता है, जो हरेक जीवको मार टालता है, अहिंसा धर्म से अनभिज्ञ है, वह विप्र चाण्डाल है ।

खर-

शास्त्र अध्ययन और जप तप आदि अध्यात्मीय षट् कर्म करना नहीं जानता है, मृतक के घर आहार करता है, उसे खर-ब्राह्मण समझना चाहिए ।

अयोग्य ब्राह्मण-

जो अन्यके दोषोंको प्रगट करता है, और अपने पापको छुपा देता है, वह ब्राह्मण धर्मके अयोग्य है, उसका जीवन कुत्ते की पूछ की तरह व्यर्थ है ।

ब्राह्मण-परम्परा-

जन्म कालमे वह शूद्र रहता है, गुण वृद्धि पाकर द्विज होता है, शास्त्राभ्यास करनेमे विप्र है, और वह अध्यात्मयोग तथा ब्रह्मज्ञान पाकर ब्राह्मण हो जाता है ।

अब्राह्मण-

जो क्रोध और मान तथा प्राणि-हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, परिग्रह-तृष्णा युक्त है। वह ब्राह्मण जाति और विद्यासे हीन तथा पतित है, वही अब्राह्मण और पाप क्षेत्र कहलाता है।

ब्राह्मणोचित-सर्वश्रेष्ठ यज्ञ-

जो पांच संवर भावोंसे आस्रवद्वारा आनेवाले पापको रोकता है, जिसे जीवित रहनेकी आकांक्षा नहीं होती, जो कायोत्सर्ग द्वारा आत्म-चिंतनमें लगा रहता है, मन, वाणी तथा कायके पापविकारोंसे अलग हटकर जो सर्वथा पवित्र हो गया है। जिसने देहका मोह त्याग दिया है, वह महाजय पानेका उत्तम अधिकारी है, वही श्रेष्ठ यज्ञ करता है।

ब्राह्मणोचित तीर्थस्नान-

आर्यभाषा, आर्यजीवन,] उत्तम कुल, दीर्घ आयुष्य, आरोग्य शरीर, समस्त इन्द्रियोने इच्छानुकूल सामग्रीनो सयोग अने अध्यात्मिकजीवन गाळनार साधुपुरुषोनो सत्सग ए तेनाथी वधु कठण छे। पण वीतराग प्रणीत धर्ममां प्रयत्नशील वनवुं, ए सौथी वधु कठण छे। जगत्‌ना जीवोने कल्याणकर सर्वज्ञ कथित धर्मज छे, आ भाव औपधिना सेवनथी शारीरिक तेमज मानसिक सर्व रोगो नाश पामे छे, ते धर्म ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर प्रभुए दान-शील-तप-भाव ए चार प्रकारे वतावेलो छे.

दान धर्मनी विशेषता—दानने सौथी प्रथम एटला माटे कहेवामां आवेल छे के दान धर्मनो पाछलना त्रणे प्रकारोमा पण समावेश थएला छे, जगतमां आ लोक तथा परलोकनी खातर दान देवानी प्रणाली सौथी पुराणी छे। श्रीतीर्थंकर भगवान् सौथी पहेला वरसीदान आपीने पछी दीक्षा अगीकार करे छे।

शीलमां दान धर्मनो समावेश—शील धर्ममा पण दानधर्मनो समावेश थाय छे, ब्रह्मचर्य पालनथी दरेक वखते असंख्य वेइन्द्रिय असख्य सम्मूर्छिमपचेन्द्रिय तथा नव लाख गर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवोने अभयदान मळे छे। अन्य शास्त्रकारोए पण आ व्रतनुं वहु ज माहात्म्य दर्शावेल छे।

एकरात्रोषितस्यापि, या गतिर्ब्रह्मचारिणः।
न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर ॥

[मार्कण्ड ऋषि]

भावार्थ—एक रात्रिना पण ब्रह्मचर्य पालनथी जे उत्तम गति तथा श्रेष्ठ फल ब्रह्मचारीने मळे छे, ते हे युधिष्ठिर! हजार यज्ञोथी पण मळतां नथी।

शीलव्रतनुं पालन करीने वीर्य (आत्मशक्ति) नु रक्षण करनार गर्भ, जन्म मरणादि दु खोथी मुक्त थाय छे। एटले के ते पोताने पण अभयदान आपे छे। आथी शीलमा पण दान गर्भित होवानु स्पष्ट जणाय छे।

तपमां पण दानधर्मनो अन्तर्भाव—शीलनी माफक तपश्चर्यामां पण दान धर्मनी आराधना छुपायेली छे। आ वात सर्व कोई जाणे छे के छकायनी विराधना [हिंसा या आरम्भ] वगर भोजन तैयार थई शकतुं नथी। परन्तु

इच्छानिरोधरूप उपवासादि तप करवाथी कर्मोनो आरम्भ बंध थतां ते निमित्ते अनन्त जीवोने अभयदान मळे छे, तेथी तप करवाथी पण दानधर्मनुं अनायासे पालन थई जाय छे।

भाव धर्म तो दानधर्म छेज-

प्रवृत्तिने रोकी राखवा रूपथी तथा अप्रमत्तयोगथी जीव तथा अजीवनी रक्षा करवी, तेनुं नाम भाव छे, त्यां पण भावनी दृष्टिए बधाने अभयदान मळे छे, तेथी प्राणीरक्षानुं नामज भाव अथवा भावशुद्धि छे।

शुं साधु पण दान दे छे?

जिनेन्द्र कथित धर्मतत्वनो आश्रय लइने आठकर्मरूपी जालने तोडवानो तेणे अवश्य प्रयत्न करवो जोइए ।

कर्मनाशनो उपाय–

जेवी रीते अग्निथी सुवर्णनो मेल नाश पामे छे तेवीज रीते त्याग, वैराग्य, सयम, नियम, तपरूपी अग्निथी कर्मोनो नाश थई जाय छे । साधकनुं ए कर्तव्य छे के उपरोक्त साधनोने समजवाने माटे तेणे सर्वज्ञ प्रभुनी वाणीरूप उपदेश साभळवो जोइए अने आप्त [सर्वज्ञ] कोने कहेवाय ते समजवुं जोइए ।

आप्त अढार दोष रहित छे, चार घनघाती कर्मनो क्षय करी अनन्त चतुष्टय [अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति] ने वरेला छे साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका ए चार तीर्थना स्थापक होवाथी तीर्थंकर कहेवाय छे । धर्मनी आदि करवाथी तेमज अनन्त विभूतिमय होवाथी तेओ असख्य देव तेमज इन्द्रोथी सेववा योग्य छे । तेथी अर्हत्–पण कहेवाय छे । वर्तमान अवसर्पिणी कालना चोथा आरामा आ भारतवर्षमा २४ तीर्थंकर, एटले आप्त पुरुषो थई गएला छे । जेमाना अन्तिम तीर्थंकर ज्ञातृपुत्र महावीर प्रभु छे ।

वीरप्रभुनी स्तुति–

ज्ञातृपुत्र महावीर प्रभुनो आपणापर अत्यन्त उपकार छे । तेमना उपकारोने भूली जवामा कृतघ्नता छे, तेथी जोके तेमनुं निर्वाण थया २४६५ वर्ष थई गया छता तेमना गुणोनु स्मरण करवुं तथा तेमनी स्तुति करवी, ए आपणुं परम कर्तव्य छे, तेथी आजे हु तेमनी स्तुतिरूप व्याख्या करवा प्रयत्नशील बन्यो छुं ।

तेमनी अनेक स्तुति अने मारुं असामर्थ्य–

तत्वज्ञोमा मुख्य विद्वानोए अनेक गुणोनु अनेक उत्तम शब्दोमा वर्णन करेलुं छे, परन्तु हु पण पोताना सम्यग्दर्शनना बलथी काइक स्तुति करूं, एवी उच्च अने पवित्र अभिलाषा प्रगट थई । जो के मारामा ते विद्वानो जेवी प्रतिभा नथी, छता मारा उत्साह अने भक्ति मने बळात्कारे प्रेरणा करी रहेल छे, कारण के जे रस्ते गरुड पोतानी प्रचंड गतिथी उडीने पसार थई गयेल होय छे, ते रस्ते तेनी पाछल एक नाना पक्षीने जवानी इच्छा शुं नथी थती ? जरूर थाय छे ।

आचार्यना छत्रीश गुण–

पाच इन्द्रियोने वश करे छे, नव वाड विशुद्ध ब्रह्मचर्यनुं पालन करे छे। क्रोध-मान-माया-लोभ दूर करे छे। पाच महाव्रतोनुं पालन करे छे, पाच आचारोनु समाचरण करे छे, पाच समिति-त्रणगुप्ति ए आठ दया माताना प्रवचनने धारण करे छे। ए छत्रीस गुणवाला आचार्य कही शकाय, बीजा नहीं।

आचार्यने चतुर गोपालनी उपमा–

चतुर गोपाल बधा पशुओ पर पोतानी दृष्टि राखे छे, तेमने कोईना खेतरमा दाखल थवा देतो नथी, तेवीज रीते आचार्यदेव पण पोताना सघने अशान्ति-कुसम्प-कषाय-रुढिवाद-विषमता-तरफ जवा देता नथी, क्लेश थता वेतज आचार्य तरत तेने शमावी दे छे, भव्यात्माओना जन्म जन्मान्तरोना क्लेशने मटाडी दे छे, तेमने सन्मार्ग–सम्यग्दर्शननो सरल रस्तो बतावे छे। योग्य-अयोग्य, ससार-मोक्ष, हित-अहित, धर्म-अधर्म-विगेरेनी समजण आपे छे। एवा आचार्यप्रभु वादवा योग्य छे।

आचार्यने नमस्कार करवानुं प्रयोजन–

आचार सम्बन्धी उपदेश तेओनी पासेथी मळे छे, तेथी तेमने त्रीजा पदमां नमन करेलो छे, कारणके चरित्रोपदेशनो आपणा पर तेओ प्रभाव पाडे छे, आपणे तेमने उपकारनी दृष्टिथी निरभिमानी बनीने नमस्कार करिए छीए। द्वादशागी-[शास्त्र-] वाणीना तेओ पूर्णपाठी छे, तेमज बीजाओने भणाववानुं कार्य पण तेमने हाथ छे।

आचार्यनी विशेषता–

ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तप रूप गुप्त मंत्रनी उत्तम शैली थी तेओ व्याख्या करेछे, तेओ मोक्ष शास्त्रना उपदेशक छे, शिष्योने सदाचारमा स्थिर करे छे, शिक्षाना पूर्ण स्वामी छे, आत्म-योग-सिद्धिनो मार्ग तेमनी पासेथी प्राप्त थाय छे, श्रीमान् सुधर्माचार्य आचार्यना बधा गुणोथी विराजमान हता।

अन्तेवासी जंबूनो सुधर्माचार्यने प्रश्न–

अगाध गुण समुद्ररूप सुधर्माचार्यने जिज्ञासु जंबूए अन्तिम तीर्थंकर भगवान् ज्ञातपुत्र महावीर स्वामीना गुणोनो परिचय प्राप्त करवाने माटे प्रश्न कर्यो के "तेओ केवा हता? ए धर्मवर- चक्रवर्तीए पोताना धर्मचक्रथी ससारमा रखडा-

द्विज ब्राह्मण—महाव्रती, नियमयुक्त, संयमपालक, इन्द्रियविजेता, समतोलनवृत्तिवाला, आत्मा अने मनना विजेता, क्षमावान्, अने सहिष्णु छे ते द्विज ब्राह्मण छे ।

मुनिब्राह्मण—जे लुखो सुको आहार लईने पण सन्तोष माने छे, मात्र दिवसेज भोजन करे छे, हमेशा वनमा वसे छे, दिनरात आत्मध्यानमा मग्न रहे छे; योगाभ्यासनी साधना करे छे, ते मुनिब्राह्मण छे ।

नृपब्राह्मण—

जे हाथी, घोडा पर स्वारी करवानी इच्छा राखे छे, रण भूमिमा जई युद्ध करे छे, स्वदेशने गुलामीनी जजीरथी मुक्त करी तेने स्वतंत्र बनावे छे, अन्यायनो नाश करवाने जे प्रयत्नशील छे, न्यायथी शासन चलावे छे, साम्यवादनी स्थितिपालकतामा शूरवीर छे, कायरतानो अंशमात्र जेनामा नथी, ते नृपब्राह्मण होय छे।

वैश्य ब्राह्मण—जे खेती करे छे, न्यायनीतिथी वेपार करे छे, पशुनुं पालन करे छे, हमेशा न्यायनो पक्ष ल्ये छे, जनसमाजनी सेवामा तत्पर रहे छे, जे दान देवा अर्थे सर्व प्रकारनी धातुओनो आर्यवृत्तिथी संग्रह करवानुं जाणे छे, ते वैश्य ब्राह्मणछे ।

शूद्र ब्राह्मण—जे लाख, तेमज तेलनो वेपार करे छे, व्याज खाय छे, मास मदिरा वेचे छे, ते शूद्र ब्राह्मण छे ।

विलाव ब्राह्मण—जेने भक्ष्याभक्ष्यनु ज्ञान नथी, जे गावा वजाववानुं कार्य करे छे, परस्त्रीगामी छे, ते ब्राह्मण बिलाव प्रकृतिनो छे ।

म्लेच्छ ब्राह्मण—वाव-कुवा-तळावमाथी जे अणगल पाणीनो उपयोग करे छे, परना दुखोनो जे विचार करतो नथी, ते म्लेच्छ ब्राह्मण छे ।

चाण्डाल ब्राह्मण—जे जंगलमा आग लगाडीने खेती करे छे, जे दरेक जीवने मारी नाखे छे, अहिंसा धर्मथी अज्ञात छे, ते चाडाल ब्राह्मण छे ।

खर ब्राह्मण—शास्त्र नुं अध्ययन करता छतां अध्यात्म-षट्कर्म करवानु जे जाणता नथी, प्रेतभोजन करे छे ते खर ब्राह्मण छे ।

अयोग्य ब्राह्मण—जे अन्यना दोषो प्रगट करे छे, अने पोताना पापोने छुपावे छे, ते ब्राह्मण धर्म माटे अयोग्य छे, तेनुं जीवन कुतरानी पूछडी माफक व्यर्थ छे ।

संस्कृतच्छाया

कथञ्च ज्ञानं कथं दर्शनं तस्य, शीलं कथं ज्ञातसुतस्याऽऽसीत् ?
जानीषे भिक्षो ! याथातथ्येन, यथाश्रुतं ब्रूहि यथानिशान्तम् ॥२॥

सं० टीका—तथैव तस्य भगवतो ज्ञातृसुतस्य महावीरस्यान्तिमतीर्थकृतः सम्यग्ज्ञानादिगुणावाप्तये प्रश्नयन्नाह—कथं केन प्रकारेण स वीरो "वि=विशिष्टां, ई=लक्ष्मीं, राति=ददातीति सः । अथवा विशेषेण ईर्ते=सकलान् पदार्थान् जानातीति वीरः, यद्वा वि=विशिष्टा इरा=वाग्दिव्यध्वनिरूपा, इरा=पृथ्वी–ईषत्प्राग्भारा स्वरूपाऽस्ति यस्यासौ वीरः, अथवा वीरयति, वीर इवाचरतीति वा वीरः । वीररसपूर्णतामासाद्य कामराज-यमराज-मोहराजान् निराकरोतीति वीरः । यद्वा वि=विशिष्टा इरा गगनगमनं अपुनरावृत्तिरूपं यस्यासौ वीरः ।"

तस्य भगवतो, ज्ञानं "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्" "तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्"

अथवा—

"त्रिकालगोचरानन्त-गुणपर्य्यायसंयुताः,
यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ।
ध्रौव्यादिकलितैर्भावैर्निर्भरं कलितं जगत्,
चिन्तितं युगपद्यत्र, तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥"

पुनश्च—

"अनेकपर्य्यायगुणैरुपेतं, विलोक्यते येन समस्ततत्वम् ।
तदिन्द्रियानिन्द्रियभेदभिन्नं, ज्ञानं जिनेन्द्रैर्गदितं हिताय ॥
रत्नत्रयीं रक्षति येन जीवो, विरज्यतेऽत्यन्तशरीरसौख्यात्,
रुणद्धि पापं कुरुते विशुद्धिं, ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थवद्भिः ॥

तच्छीलं चरित्रं यमनियमरूपं "शुचौ तु चरिते शीलमित्यमरः" । अतस्तत् स्वात्मभावेऽपि, यदाह मेदनी कोषे,—"शीलं स्वभावे सद्वृत्ते योगान्तरे सिते" इति । "शीलं स्वभावे सद्वृत्त" इत्यमरोऽपि । तत्कीदृक् । ज्ञाताः क्षत्रियास्तेषां पुत्रो ज्ञातपुत्रः । "राजन्यः क्षत्रियो ज्ञात इति कोषः" । "णायपुत्ते विसोगे" "गच्छति णायपुत्ते असणाए" "इत्याचाराङ्गसूत्रे नवमाध्याये" । ज्ञातृपुत्रो भगवान् महावीरप्रभुरिति । तस्यासीदिति । यदेतन्मया पृष्टं तच्च हे भिक्षो ! "भिक्षुः परिव्राट् कर्मन्दीत्यमरः" । सुधर्मस्वामिन् ! याथातथ्येन सम्यक्प्रकारेण जानास्यवगच्छसि । तत्कृत्स्नं त्वया यथा श्रुतं कर्णगोचरी [यथा भवति तथा] कृतं, यथा निशान्तं नितरामतिशयेन शान्तं ब्रूह्याचक्ष्वेति भावः । "निशान्तमित्यवधारितं यथा दृष्टं तथेति केचित् ।"

अन्वयार्थ—(से) उस (णायसुयस्स) ज्ञातृपुत्र-महावीर भगवान्का (णाणं) ज्ञान (कहं) कैसा था, (दंसण) दर्शन (कह) कैसा था, और (सीलं) चरित्र (कहं) कैसा था, [भिक्खु !] हे सुधर्मस्वामिन् ! आप [जहातहेण] अच्छे प्रकार [जाणासि] जानते हो अत एव [अहासुयं] आपने जैसा सुना है एवं [जहाणिसतं] जैसा निर्धारण किया है उसी प्रकार [बूहि] फर्माइए ।

भावार्थ—आर्य जम्बू नामक जिज्ञासु-शिष्यने निवेदन किया कि-हे सुधर्मस्वामिन्! गुरुवर्य्य ! आप सब कुछ अच्छीतरह जानते हैं अत एव कृपा करिए और यह फर्माइए कि-भगवान् ज्ञातृपुत्र महावीरका ज्ञान कैसा था ? उन्होंने उस सम्यग्ज्ञानको किस प्रकार प्राप्त किया ? और उनका दर्शन सामान्य प्रतिभास तथा यम-नियम और संयमादि शील-चरित्र किसभान्तिके थे ? ॥ २ ॥

भाषाटीका—मोक्ष लक्ष्मीके प्रदाता, सर्वपदार्थोंके ज्ञाता, जिसकी वाणी विलक्षण और अमोघ है, जो अष्टम पृथ्वी [मोक्ष] को प्राप्त कर चुकाहै, वीर रस पूर्ण है, वीरता पूर्वक जिसने कामराज, मृत्युराज और मोहराजको जीत लिया है, जिसका अविरल ज्ञानमें विशेष गमन अर्थात् प्रवेश है, वह वीर

रूपसे मैत्री भाव पैदा करनेका स्वभाव होजाता है। इसके अनन्तर मोह, अवि-वेक, चित्त विकारके पर्दे तोड डालता है। मोहका सर्वथा नाश होनेपर चित्त निर्मल और पवित्र हो कर स्थिर होता है, पवित्र चित्तवाला कामदेवका नाश करता है। जिसके ज्ञान-आत्माका उदय होगया हो उसमे इनकी क्रियाओं-का भी मननात्मक उदय हो जाता है, इससे ज्ञानी अटल सुखके पदको पानेका पूर्ण साधक वन जाता है।"

'जो आत्माको राग द्वेषसे निकालकर निश्चय हेतु वन जाता है वुद्धि-मानोंने उसे भी ज्ञान कहा है।'

'जिससे सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका और असत्का विवेक हो उठता है, उसे भी ज्ञान ही कहा है।'

ज्ञान विशेष वस्तुका वोध कराता है, लोक और अलोकके परदे खुल जाते हैं। हथेली पर रक्खे हुए आमलेकी भाति ससारका सव स्वरूप और घटनात्मक भाव जानने लगता है। वह सपूर्ण ज्ञान केवलज्ञान या ब्रह्मज्ञान है। इससे वढकर ज्ञानकी और कोई भूमिका नही है। केवल नाम भी पूर्णताका है, वह ज्ञान असाधारण है, निरपेक्ष और परमशुद्ध है, सव पर्यायो और भावोका ज्ञापक है। इससे लोक और परलोक अवगम्य है। ज्ञानसे सहज और उत्कृष्ट अनन्त आनन्द मिलता है। यही ज्ञान प्राणिओंके कर्मवन्धका समय, तथा उनके शुभाशुभ फलका वोध कराता है। तथा सूक्ष्म—वादर, चर-अचरकी पूरी खवर रखने वाला सर्वज्ञ कहलाता है।

दर्शन—

जिसमे किसी प्रकारका व्यभिचार नहीं पाया जाता, सशय, विपर्यय, मिथ्यात्व-या अनध्यवसाय आदि दोषो से रहित हो, इन्द्रिय और मनके विषय भूत समस्त पदार्थोंकी दृष्टि-श्रद्धारूप प्राप्तिको, अथवा सगत युक्तिसे सिद्ध दर्शनको सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा जीव आदि नव पदार्थोंके भावो पर श्रद्धान पूर्वक यथानुरूप धारण करना, जिससे कि-समता भाव, अस्थिर वस्तुओंसे विरक्ति दिलानेवाला वैराग्य, कर्म वन्धसे मुक्त होने की निरन्तर अभिलाषा, शत्रु मित्रके जटिल प्रश्नको उठाकर अभेद रूप अनुकम्पा और आत्मीय कर्मोका उदय होने पर ही सुख दु ख होता है इस रीतिका आस्तिक्यादि लक्षणोंका समुदय

गुजराती अनुवाद—वीरभगवाननां रत्नत्रय सम्बन्धी प्रश्नो—

मोक्षलक्ष्मीना दाता, सर्व पदार्थोना ज्ञाता, जेमनी वाणी अमोघ अने विलक्षण छे, जे अष्टम पृथ्वी मोक्षने प्राप्त करीचुक्या छे, वीर रस भरपूर छे,वीरताथी जेमणे कामराज मृत्युराज अने मोहराजने जीती लीधेल छे, ते वीर कहेवाय छे, महावीर प्रभु महावीरज हता, तेमनामा आ वधी वातो हती ।

ज्ञान—

तेमनु ज्ञान केवुं हतुं ? कारणके प्रमाणज हितनी प्राप्ति अने अहितनो त्याग करवामा समर्थ छे, तेथी ज्ञानज प्रमाण होई शके छे ।

वळी ज्ञानज वस्तु तत्वनो निर्णय करावे छे, तेथी ज्ञानज परम उपकारी छे।

पुन कहुं छे के—जेमा त्रणे काल गोचर अनन्तगुण पर्याय सयुक्त पदार्थ अतिशय साथ प्रतिभासे छे, तेने ज्ञानीजनो ए ज्ञान कहेलुं छे, आ सामान्यपणे पूर्ण ज्ञाननुं स्वरुप छे, आकाशद्रव्य अनन्तप्रदेशी छे तेना मध्यमा असख्यात प्रदेशी लोकाकाश छे, तेमा जीव-अजीव-पुद्गल-धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय अने काल ए अनन्तद्रव्य छे। तेना त्रण काल सम्बन्धी भिन्नभिन्न अनन्त पर्याय छे, ते बधाने युगपत् [एक समयमा] जाणवानो पूर्णज्ञान आत्मानो निश्चय स्वभाव छे।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाला पदार्थोथी आ जगत् अतिशय भर्यु पड्युं छे, जे ज्ञानमा आ बधु एकदम प्रतिबिम्बित थाय छे, ते ज्ञान परम योगीश्वरोने माटे तो नेत्र समान छे ।

तदुपरान्त पण कह्युं छे के—"जेनी द्वारा बधा तत्वोने विचार श्रेणिथी आत्मा स्पष्ट रुपे जुए छे, जे तत्वमा अनन्त पर्याय-गुणनी सत्ता छे, तेने सम्यक् प्रकारे जाणवाने माटे ज्ञानज हितकर अने प्रथम साधन छे, तेनाथी आत्मा जड-ससारथी अलग थई शके छे ।"

आत्मानो कल्याण करवावाळाओ माटे ज्ञाननुं आराधन सौथी प्रथम एटलामाटे इष्ट छे के तेनाथी जीव पौद्गलिक तेमज शारीरिक सुखथी विरक्त बनी जाय छे। पोताना आत्मीय गुणरत्ननी रक्षा तेनी छत्र छायामा थई शके छे। वळी तेनाथी प्रवृत्ति-पापद्वार ने रोकीने आत्मशोधमा लागी जाय छे ।

ज्ञाननी पूर्ण मात्राना प्रभावथी क्रोध शान्त थई जाय छे । तेनाथी आत्मामा पूर्ण समभावनी जागृती थाय छे। शान्तिना कारणे सर्वप्राणिओमा अभेदरुपे

चरित्र-

उत्तराध्ययनना २८ मां अध्यायमा श्रीवीरप्रभुए स्वयं प्रतिपादन करेलुं छे के मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद अने मन-वचन-कायना अशुद्ध योगथी जे पापकर्म बंधाएला छे के जेनां शुभाशुभ फलमा परिवर्तन करवानी सत्ता आपणा हाथमा नथी रही, ते कर्मोनो पुरुषार्थबळथी नाश करीने आत्माने कषायात्मा अने योगात्माथी अलग करी देवो, तेनुं नाम चरित्र छे, चरित्रथी भविष्यनी प्रवृत्तिमार्गनो अवरोध करीने जेम अग्निथी सुवर्णनो मेल दूर थाय छे, तेम तपथी जन्मान्तरना कर्मोनो नाश करीने आत्मा सर्व दुःखोथी रहित थाय छे ।

आ चरित्रना अणुव्रत तथा महाव्रत एम बे भेद छे, पोताना भावोने कषायरहित करवाथी मूल गुण तथा उत्तरगुण रूप चरित्र एक देश अथवा सर्वथा संयम गुण प्राप्त करे छे ।

जम्बूमुनि सुधर्माचार्यने पूछे छे के भगवान् ज्ञातपुत्र-महावीरनु रत्नत्रय केवुं हतुं ?

ज्ञातपुत्र-

तेओ ज्ञातृ वंशना क्षत्रिय कुलमा जन्म्या होवाथी ज्ञातपुत्र कहेवाता हता, मुनि बनीने ज्ञातपुत्र कोई वस्तुनी वियोग दशामा शोक नहोता करता, ज्ञातपुत्र कोईने वश न थता, पण सदैव स्वावलंबी रहेता, तेमनी भावना रागद्वेष रहित मध्यस्थ हती । तेओ अनुकूल प्रतिकूल प्रसंगो पर ध्यान आप्या वगर संयम मार्गमा स्थिर रहीने पोतानी धर्मप्रतिज्ञाओमा हमेशा प्रवृत्त रहेता हता ।

तेथी हे आचार्य्य भगवन् ! मे तेमना ज्ञान-दर्शन अने चरित्र सम्बन्धी जे प्रश्न कर्यो छे, तेनो आपे यथानुरूप अनुभव प्राप्त कर्यो छे ते जेम तमे साभळ्युं होय अने धार्युं होय ते शान्त चित्ते मने कहो ।

मूल

खेयन्नए से कुसले महेसी,
अणंतनाणीय अणंतदंसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स,
जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥ ३ ॥

इति पाठान्तरं तस्याऽयमर्थः । आसुपन्ने=आशु शीघ्रं प्रज्ञा यस्यासावाशुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगत्वात् [न तु छद्मस्थः शाठ्योऽल्पज्ञ इव विचिन्त्य जानातीति भावः । छद्मनि शाठ्येऽल्पज्ञत्वे तिष्ठतीति छद्मस्थः । "कपटोऽस्त्रीव्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे, कुसृतिर्निकृतिः शाठ्यमित्यमरः ।" छाद्यते स्वरूपमनेनेति छद्म, कपटे, छले, व्याजे, अपदेशे, स्वरूपाच्छादने, रजते, नवनीते, शुद्धे, ऽक्षिरोगभेदे च,] महर्षिः=महाँश्चासावृषिश्चेति महर्षिरित्यत्यन्तोग्रतपश्चरणानुष्ठायित्वादनुकूलप्रतिकूलपरिषहोपसर्गादिमहातितिक्षासहनाच्चेति वा, याथातथ्येन तत्वाना प्रकाशकत्वात्सत्यवाक्त्वान्महर्षिः । "ऋषयः सत्यवचस इत्यमरः" । अनन्तज्ञानी=अनन्तमवसानरहितमविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा विशेषार्थग्राहकं ज्ञानमस्यास्तीति अनन्तज्ञानी । एवं सामान्यार्थपरिच्छेदकत्वादनन्तदर्शीत्यथवा विशेषार्थज्ञानमनन्तमनवधिकमपरिच्छिन्नमित्यर्थः सर्वज्ञतेति भावः । सामान्यार्थग्राहकदर्शनं ते द्वे अपि यस्यानन्ते । "अनन्तोऽनवधावित्यमरः" तदेवं भूतस्य युक्तस्य, अनन्तगुणसहितस्य भगवतो यशःसुरासुरनरातिशाय्यतुलं प्रमाणरहितं चास्ति यस्य स यशस्वी=तस्य यशस्विनो, लोकस्य=जगतश्चक्षुःपथे=नयनमार्गे भवनस्य केवलावस्थायां विद्यमानस्य लोकाः सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भवनेन च दृग्भूतस्य स्थितस्य जानीह्यवगच्छ । धर्मं संसारोद्धरणस्वभावत्वावच्छिन्नं श्रुतचारित्ररूपं । समतातपस्तुष्टियमार्जवोत्तमक्षमादिविहितात्मपुरुषार्थं वा । "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधं दशकं धर्मलक्षणमिति" स्मृतिः ।

तथा च—

धारणाद्धर्ममित्याह, धर्मो धारयते प्रजाः,
धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

३४ अतिशय-

(१) केश तथा दाढी मूछ के वाल वढते नहीं, या असुन्दर रीति से नहीं वढते। (२) शरीर नीरोग रहता है। (३) उनके शरीरका रुधिर तथा मास दुग्धकी तरह सुन्दर और स्वच्छ होता है, अदेय होता है, घिनौना नहीं लगता। (४) मुखमें कमलकी सी सुगंधि रहती है, अमल्य अथवा दुर्गंध नहीं होती। (५) आहार और नीहारको चर्मचक्षुवाले नहीं देखते, क्योंकि ये क्रियाएं गुप्त की जाती हैं। (६) आकाश गत छत्र रहता है, अर्थात् सिद्धो का स्मरण अभेद रूपसे करते रहते हैं। (७) आकाश गत चमर युग्म श्रुत, चारित्र रूप धर्म ऊंचा रहता है। (८) आकाश गत स्फटिकमय सिंहासन, उनका १३ वा गुणस्थान शोभित है। (९) पादपीठिका सहित ध्वजरूप तीर्थंकर नाम कर्मकी कीर्ति आकाशमें गूंजती रहती है। (१०) प्रभु अशोकमय छायामें रहते हैं, वहा जानेसे औरोंका शोक निवारण करते है। (११) मार्गमें चलते समय काटेकी तरह तीक्ष्ण और पैने हठवादी विनीत हो जाते हैं। (१२) ऋतु अर्थात् समय अनुकूल तथा धर्मकाल हो जाता है। (१३) १२ योजन तक शान्तिका वायु चलता है। (१४) ज्ञान धारा प्रवाहित होनेसे कर्म रजका अभाव हो जाता है। (१५) भगवान् के समवसरणमें समभावका साम्राज्य छा जाता है। (१६) शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्शमें अनुकूलता और प्रतिकूलता रूप प्रवृति विकृति भाव जाता रहता है। (१७) निश्चय और व्यवहार नय रूपी चवॅर ढुलते रहते हैं। (१८) प्रभा या अनन्तज्ञानप्रतिभारूप भामंडल पीठ आसन या आत्माकी शोभा युक्त हैं। (१९) उनकी मधुर भाषा एक योजन तक सुनाई पडती है। (२०) स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी उनकी साकेतिक अर्ध मागधी भाषाको अपनी भाषामें समझते हैं। (२१) गर्व लेकर आनेवाले लोक प्रभुकी वाणीसे न्याय लेकर निरहंकार होजाते हैं। (२२) प्रभु जहा विचरते हैं वहासे १२५ योजन चारो ओर सात ईतियोंमेंसे कोईभी ईति (भय) नहीं होती। (२३) मनुष्य और तिर्यंच आपसका जातीय द्वेष भाव तथा वैर विरोध छोड देते हैं। (२४) जनता मे किसी प्रकार का भय नहीं होता। (२५) मारि आदिक रोग नहीं होते। (२६) अतिवृष्टि नहीं होती। (२७) अनावृष्टि नहीं होती। (२८) दुर्भिक्ष नहीं होने पाता। (२९) स्वचक्र-अपने राजा या अशुभ कर्मोका उपद्रव नहीं होता। (३०) पर चक्र-पर राजा या पुद्गल प्रपंचका

खेदज्ञ—

ससारके प्राणियो द्वारा अर्जन किए हुए मार्मिक दु खविपाकको जानते हैं। कर्म विपाकसे उत्पन्न शारीरिक मानसिक क्लेशोको प्रभु सदय होकर जानते तथा देखते है । उनको दु खोका ज्ञान करानेके अनन्तर प्राण, भूत, जीव और सत्वकी अशान्ति दूर करनेके लिए अहिंसा, सत्य, निस्तृष्ण आदिका उपदेश करके ससारमे शान्तिकी स्थिति—स्थापना करते है । अत खेदज्ञ है ।

क्षेत्रज्ञ—

आकाशके अनन्त प्रदेशोंमें धर्म, अधर्म, जीव, काल और पुद्गलके अनन्त समूहको जाननेके कारण प्रभु क्षेत्रज्ञ भी है । क्योंकि लोक और अलोकके गुप्त और प्रगट सब भावो और विषयोके ज्ञाता हैं । यथातथ्य स्व-स्वरूप और परस्वरूप जाननेसे आत्मज्ञ हैं । तथा इस नश्वर शरीर क्षेत्र मे आत्मा या धर्म रूप सार जाननेसे, तथा स्त्रीके विषय दोष और उसके रमण और अनुरक्त रहनेमे जो दोष हैं उसे जाननेके कारण क्षेत्रज्ञ हैं ।

कुशल—

सत् और असत्को अलग करके बता देते हैं, आठ प्रकारके कर्मरूपी तीक्ष्ण कुशको काटनेमे कुशल है । निर्जराका पथ बतानेमे समर्थ है, धर्मोपदेश देनेमे मंगलप्रद हैं अत कुशल भी है ।

आशुप्रज्ञ—

आपका उपयोग अनन्त होनेसे आशुप्रज्ञ हैं, परन्तु वह उपयोग छद्मस्थो-कामा नहीं है । [वहतो कुछ देर सोच विचार करनेके पश्चात् जानता है, कार्माण वर्गणाओद्वारा आत्म-स्वरूप पर पर्दा पड जाने के कारण उस कर्म सहित ससारी आत्मा की छद्मस्थ सज्ञा है । परन्तु भगवान् तो 'वियट्ट छउमाणं' इस दोपसे निवृत्त है]

महर्षिः—

अत्यन्त उग्र तपरूपी अनुष्ठान करनेसे, अनुकूल प्रतिकूल परिषह और उपसर्ग सहन करनेसे, नाना तितिक्षाओं को सहनेसे, तत्व वस्तुका वास्तविक रूपमे प्रकाश करनेसे, सत्य वाणीका उच्चारण करनेसे महर्षि थे ।

अतीत, अनागत, वर्तमानका अनन्त स्वरूप जाननेकी दृष्टिसे अनन्तज्ञानी; ग सामान्य अर्थका भिन्न करण करनेसे अनन्तदर्शी थे ।

उनके अक्षय और अतुल यश का गायन मनुष्य-असुर और देव सब मिल कर करते थे। संसारकी दो आखों द्वारा प्रत्यक्षतया सूक्ष्म और वादर पदार्थोंका ज्ञान भलिभाति करा देनेसे उनके प्रतिपादित धर्मको तथा उनकी धीरताको देख !

धर्म–

ससारके प्राणिओंका दु खोंसे उद्धार करना उसका स्वभाव है अत वह धर्म है तथा ज्ञान और क्रियाके मेदसे धर्म दो तरहका है।

"समता, तप, सन्तोष, सरलता, उत्तम क्षमा, आदिक विहित पुरुषार्थको भी धर्म कहा है।"

"मनुने धैर्य रखना, शान्ति करना, अकिंचनवृत्ति रखना, इन्द्रिय दमन करना, आत्माको वुरे विचारोंसे हटा कर पवित्र करना, आत्मदोषका निग्रह करना, वुद्धि द्वारा सत्, असत् युक्त अयुक्तका निर्णय करना, निष्पाप तथा निस्पृह सत्य बोलना, आए हुए क्रोधको निष्फल करना, यह १० प्रकारका धर्म बताया है।"

धर्मके पारको पानेवाले पुरुषोंने देश काल, अवस्था, वुद्धि, शक्ति, आदि के अनुरूपसे धर्मोपदेशको ही औषध रूप कहा है।

इसके अतिरिक्त उनकी चरित्रमें निश्चलता धीरता देख! क्योंकि वे अपनी प्रतिज्ञामें सदैव दृढ रहते थे। सयम के अतिरिक्त वे किसीमें अनुरक्त न थे ॥ ३ ॥

गुजराती अनुवाद—ज्ञातनन्दन शासनपति महावीर प्रभु ३४ अतिशय तथा ३५ प्रकारना वाणी गुणे करी अलंकृत हता।

३४ अतिशय—(१) माथाना केश-दाढीमूछ तथा शरीरना वाळ अने नख मर्यादित होय। (२) नीरोगी अने मेल, रज आदिथी निर्लेप शरीर होय। (३) मास अने लोही गायना दूध जेवा उज्वल अने मीठा होय। (४) श्वासोश्वास कमल जेवा सुगन्धित होय। (५) प्रभुना आहार अने निहार चर्मचक्षुओथी अदृश्य होय, कारणके ते क्रियाओ गुप्त करवामा आवे छे। (६) आकाशमा धर्म चक्र चाले। (७) आकाशमा छत्र रहे। (८) आकाशमा श्वेतवर चामरो विंझाय । (९) आकाशमा अत्यन्त स्वच्छ स्फटिक सिंहासन पादपीठ सहित थई आवे। (१०) आकाशमा लघुपताकाओथी परिमंडित रमणीय इन्द्र

ध्वज प्रभुनी आगल चाले । (११) अशोकवृक्ष थई आवे, त्या जवाथी वीजा-ओना शोकनुं निवारण थाय । (१२) जरा पाछलना भागमा मस्तक प्रदेशे तेजोमंडल थई आवे, ते दशे दिशाओना अन्धकारने दूर करे । (१३) पृथ्वी वहु सपाट अने रमणीय वनी जाय । (१४) काटा ऊंधा थई जाय, तेनी माफक वहु हठवादी विनीत थई जाय, (१५) विपरीत ऋतु सुखस्पर्शा थई जाय, समय अनुकूल तथा धर्म माटे योग्य थई जाय । (१६) शीतल-सुखकर-सुगन्धयुक्तवायु एक योजन क्षेत्रमा वहे । अने सर्व प्रकारनी अशुचि दूर करे । (१७) सुगन्धि वृष्टि थाय तेथी आकाशनी रज अने भूमि ऊपरनी रेणु टंकाई जाय, ज्ञानधारा वरसवाथी कर्म रज दूर थई जाय । (१८) रमणीय पंचवर्ण फूल प्रगटे । (१९) अमनोज्ञ (अशुभ) शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध उपशमे अर्थात् नाश पामे । (२०) मनोज्ञ शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध उत्पन्न थाय । (२१) चारे वाजुए बेठेली परिषद भगवान्‌नो योजनातिक्रमी स्वर वरावर श्रवण करी शके अने ते शब्दो श्रोताओने प्रिय लागे । (२२) प्रभु अर्धमागधी भाषामां धर्मदेशना आपे । (२३) आर्य अनार्य देशना मनुष्यो-पशुओ-पक्षीओ विगरेने आ भाषा पोतानी भाषामा परिणमे, ते हितकर-सुखकर-आनन्दकर अने मोक्षदायी लागे । (२४) जन्मवेर, जातिवेर, शान्त थाय. । (२५) भगवान्‌ने देखता अन्य दर्शन-मताभिमानी हठ छोडी नम्र वने छे । (२६) प्रतिवादी निरुत्तर वने । (२७) प्रभु विचरे छे त्याथी २५ योजन चारे दिशामा दुष्काल-उंदर-तीड विगेरेनो उपद्रव रहे नहि । (२८) महामारी मरकी प्लेग न होय । (२९) स्वचक्रनो भय नहीं थाय । (३०) पर लश्करनो भय न होय । (३१) अति वृष्टि न थाय । (३२) अनावृष्टि न थाय । (३३) दुकाल न पडे । (३४) उत्पातो अने व्याधिओ तुरत शमी जाय ।

सत्यवाणीना ३५ गुण–

(१) भगवान्‌नी वाणी संस्कार—लक्षण युक्त होय । (२) वुलंद आवाज वाली वाणी । (३) सादी । (४) गंभीर । (५) पडछंदा युक्त । (६) सरल । (७) उपनीत रागत्व-श्रोताओ धारे के भगवान् मने उद्देशीनेज उपदेश आपे छे । (८) महार्थ—सूत्र थोडो अर्थ घणो । (९) पूर्वापर वाक्यनी अविरोधी । (१०) शिष्ट । (११) असंदिग्ध, (१२) वाणीमा-अर्थमां दूषण रहित । (१३) हृदयग्राही, (१४) देश कालने अनुकूल । (१५) तत्वनी

यथार्थ स्वरूप दर्शक। (१६) जे सम्बन्ध चालतो होय तेनी सिद्धि पुरतुंज कहेवुं ते। (१७) पद वाक्यनुं परस्पर सापेक्ष पणुं। (१८) इष्ट रीतिए तत्वनु कहेवुं। (१९) अत्यन्त मधुर-सुखकर। (२०) परना रहस्य विगेरेने प्रकट नहि करनारी। (२१) वस्तुना अर्थ तथा धर्म सहित। (२२) अर्थनो झलकाट उठे एवा पदो सहित। (२३) पर निन्दा अने आत्मप्रशंसा रहित। (२४) कहेला गुणोना योगथी प्रशंसा करवा लायक। (२५) व्याकरणना दोष रहित। (२६) श्रोताओने पोताना विषयनो जवाव मळवाथी आश्चर्य अने वैराग्य उत्पन्न करनारी। (२७) अद्भुत। (२८) अत्यन्त विलम्ब रहित। (२९) मननी भ्रान्ति तथा वाक्य वोलवानी अशक्ति विगेरे दोष रहित। (३०) सर्व सुर-असुर-नर-अने तिर्यंच पोतानी भाषामां समजे तेवी। (३१) बीजा पुरुषोनी अपेक्षाए शिष्योने विषे विशेष बुद्धिने पेदा करनारी। (३२) पदो, वाक्यो स्पष्ट रीते समजाय तेवी चोक्खी। (३३) पराक्रमवाळी अनायासे वाणी प्रकाशे जाय। (३५) कहेवा धारेला अर्थोनी सारी रीते सिद्धि थाय त्यां सुधी अविच्छिन्न वाग्धाराए बोल्या जवाय तेवी।

खेदज्ञ–

ससारना प्राणिओए सचय करेला मार्मिक कर्मना दु खविपाकने तेओ जाणे छे। कर्मना परिणामे उत्पन्न शारीरिक तथा मानसिक क्लेशोने प्रभु दयार्द्र वनीने जाणे छे तेमज देखे छे। तेमना दु खोनुं ज्ञान कराववाने तथा प्राण-भूत-जीव-सत्वनी अशान्ति दूर करवाने तेओ अहिंसा-सत्य-निस्तृष्ण विगेरेनो उपदेशकरीने ससारमा शान्तिनी स्थापना करे छे। तेथी भगवान् खेदज्ञ छे।

क्षेत्रज्ञ–

आकाशना अनन्त प्रदेशोमा धर्म-अधर्म-जीव-काल अने पुद्गलना अनन्त समूहने तेओ जाणे छे। तेथी क्षेत्रज्ञ पण छे। अथवा लोक-अलोकना गुप्त अने प्रगट सर्व भाव अने विषयना ज्ञाता छे। यथातथ्य स्वस्वरूप तथा परस्वरूपना ज्ञाता होवाथी आत्मज्ञ छे। आ नश्वर शरीर क्षेत्रमा तेमना आत्माना अथवा धर्मरूप सारना जाणकार होवाथी, तेमज स्त्रीना विपय दोप अने तेमा रमण करवाथी जे दोषो उत्पन्न थाय छे, तेना पण जाणकार होवाथी तेओ क्षेत्रज्ञ छे।

कुशल–

सत्-असत्ने भिन्न भिन्न करीने वतावे छे। आठ प्रकारना कर्मरूपी तीक्ष्ण

कुशने कापवामां कुशल छे। निर्जरानो मार्ग वतावत्रामा समर्थ छे, धर्मोपदेश देवामा मंगलप्रद छे ।

आशुप्रज्ञ–

तेओनो उपयोग अनन्त होवाथी आशुप्रज्ञ छे । परन्तु ते उपयोग छद्म-स्थोना जेवो होतो नथी । [छद्मस्थ तो थोडो समय विचारणा कर्या वाद जाणे छे। कार्मण वर्गणाओ द्वारा आत्म स्वरूप पर पडदो पडता कर्म सहित ससारी आत्माने छद्मस्थ कहे छे । परन्तु भगवान् तो "वियट्ट छउमाणं" ए दोप थी मुक्त छे ।

महर्षि–

अत्यन्त उग्र तपश्चर्या करवाथी अनुकूल प्रतिकूल परिपह तथा उपसर्ग सहन करवाथी नाना प्रकारना दु खो सहवाथी तत्ववस्तुनुं वास्तविक रूप प्रगट करवाथी, सत्यवाणी वोलता होवाथी, तेओ महर्पि हता ।

भूत-भविष्य अने वर्तमानना अनन्त स्वरूप जाणवानी अपेक्षाए तेओ अनन्तज्ञानी तथा सामान्य अर्थनुं भिन्नकरण करवाथी अनन्तदर्शी हता ।

तेमना अक्षय अने अतुल यशनुं गान मनुष्य-सुर-असुर विगेरे सर्वे मळीने करता हता ।

लोकने चक्षुभूत एवा श्रीमहावीरदेवना परूपेला धर्मने तथा तेमनी धीर-जने जाण अने देख ।

धर्म–

ससारना प्राणिओने दु खमाथी उद्धार करवानो तेनो स्वभाव छे । ज्ञान अने क्रिया ए वे प्रकारनो धर्म छे । समता-तप-सन्तोप-सरळता-उत्तम क्षमा-विगेरेने पण धर्म कहेवामा आवे छे । धीरज राखवी-शान्तिधारण करवी-अकि-चनवृत्ति भजवी-इंद्रिय दमन-आत्माने खराव विचारोथी हटावीने पवित्रवनाववो-आत्मदोपनिग्रह-वुद्धि द्वारा सत्-असत्-युक्त-अयुक्तनो निर्णय, निष्पाप-निस्पृह-सत्य, क्रोध निष्फल करवो-एम दश प्रकारनो धर्म मनुए पण वतावेलो छे ।

धर्म पारगत पुरुपोए देश-काल अवस्था-वुद्धिष्शक्तिने अनुरूप धर्मोपदेश आप्यो छे ।

महावीरप्रभुनी चारित्रमा निश्चलता, धीरता एटले तेओ पोतानी प्रतिज्ञामा हमेश दृढ रहता हता, सदैव सयमसाज तेओ मग्न रहता ।

मूल

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जेय पाणा ।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पन्ने,
दीवेव धम्मं समियं उदाहु ॥ ४ ॥

संस्कृतच्छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु दिक्षु,
त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणिनः ।
स नित्यानित्याभ्यां समीक्ष्य प्राज्ञः
दीप [द्वीप] इव धर्मं समितमुदाह ॥ ४ ॥

सं० टीका—अधुना सुधर्माचार्यस्तद्गुणान् स्फुटं प्रकटनचिकीर्षुराह—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु दिक्ष्वथवा चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके ये जीवाः "शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यावसानवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधिशुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवन्ति, तथाप्यशुद्धनिश्चयनयेनानादिकर्म्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवन्तीति जीवाः । 'उपयोगमयाः' शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनोपयोगमयास्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिवृत्तत्वाज्ज्ञानदर्शनोपयोगमया भवंति । "अमूर्तयः" यद्यपि व्यवहारेण मूर्तकर्म्माधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या सहितत्वान्मूर्तास्तथापि परमार्थेनामूर्तातीन्द्रियशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्ताः । "कर्तारः" यद्यपि भूतार्थनयेन निष्क्रियटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽयं तथाऽप्यभूतार्थनयेन मनोवचनकायव्यापारोत्पादककर्म्मबीजसहितत्वेन शुभाशुभकर्म्मकर्तृत्वात् कर्तारः । "सदेहपरिमाणा" यद्यपि निश्चयनयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशास्तथापि व्यवहारेणानादिकर्म्मबन्धाधीन-

त्वेन शरीरनामकर्म्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्थप्रदीपवत् सदेहपरिमाणाः । "भोक्तारः" यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वात्मोत्थसुखामृतभोक्तारस्तथाऽप्यशुद्धनयेन तथाविधसुखामृताभावाच्छुभाशुभकर्म्मजनितसुखदुःखभोक्तृत्वाद्भोक्तारः । "संसारस्थाः" यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन निस्संसारनित्यानन्दैकस्वभावास्तथाप्यशुद्धनयेन द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपञ्चप्रकारसंसारे तिष्ठन्तीति संसारस्थाः । "सिद्धा" व्यवहारेण स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धत्वप्रतिपक्षभूतकर्मोदयेन यद्यप्यसिद्धास्तथापि निश्चयनयेनानन्तज्ञानानन्तगुणस्वभावत्वात् सिद्धाः । त एवंगुणविशिष्टा जीवाः । "विस्रसोर्द्ध्वगतिकाः ।" यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्म्मोदयवशेनोर्द्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावास्तथापि निश्चयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणावाप्तिलक्षणमोक्षगमनकाले विस्रसा स्वभावेनोर्द्ध्वगतिकाश्चेति । अत्र शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन नयार्था अप्युक्ताः । आगमार्थः पुनः "अस्त्यात्माऽनादिबद्धः" इत्यादिप्रसिद्ध एव शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूपमुपादेयं शेषं च हेयम् । एवंविधा जीवास्त्रस्यन्त्युद्वेगं भयं प्राप्नुवन्ति यद्वा चरन्ति चेतस्ततो गच्छन्तीति त्रसाः । "चरिष्णु जंगमचरं त्रसमिंगं चराचरमित्यमरः ।" ते त्रसास्तु द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदाच्चतुर्धा । तथा ये च स्थावराः पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतिभेदात्पंचधा । तिष्ठन्तीति स्थावरा भूताः सत्वाश्चापि, यथा च—

"प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ता भूतास्तु तरवः स्मृताः ।
जीवाः पचेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्वा उदीरिताः ॥"

"स्थावरो जंगमेतर इत्यमरः ।" एते प्राणानां धारकत्वात्प्राणिनो भवन्ति । प्राणास्तु दशधा यथा—"पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं

च, ह्युच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः, प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरणं हि हिंसा।" एते विद्यन्ते यस्य ते प्राणिनो, जीवस्याधुना तु बाह्यप्राणधनपराक्रमत्वात् "शक्तिः प्राणः पराक्रम इत्यमरः।" चार्वाकशाक्यादिमतनिराकरणेन पृथ्व्याद्येकेन्द्रियाणामपि जीवत्वमित्यावेदितम्। तान् जीवान्नित्यानित्याभ्यां ध्रुवव्ययाभ्यां समीक्ष्य=ज्ञात्वा केवलज्ञानित्वात्प्रकर्षेण जानातीति प्राज्ञः। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयाश्रयणादावेद्येति भावः। स ज्ञातृपुत्रो महावीरो भगवान् तत्व-पदार्थ-स्वरूपाणां ज्ञापकतया दीपवद्दीपः प्रकाशकत्वात् यथार्थधर्ममाह-उक्तवान्। सम्यक्तया समतया श्रुतचरित्रात्मकं धर्मं वीतरागभावेन राग-द्वेषरहितत्वेन सदनुष्ठानितया चेति। परमकारुणिको हि भगवान् लोकाननुग्रहीतुमेव धर्ममावेदितवान्नतु निजोत्कर्षप्रकाशनार्थमपीति सहृदयैर्ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—[से] उस [पन्ने] आत्मप्रज्ञ केवलज्ञानी प्रभुने [उड्ढं] ऊपर [अहेयं] नीचे और [तिरियं] तिरछी [दिसासु] दिशाओंमें [जे] जो [तसा] त्रस-हिलने सरकनेवाले (य) और [थावर] स्थावर [पाणा] प्राणी हैं, उनको [णिच्चणिच्चेहि] नित्य और अनित्यदृष्टिसे [समिक्ख] जान कर [दीवे व] दीवेकी सदृश अथवा विश्वसागरमें डूवते जीवोंकेलिए टापूकी तरह (धम्मं) धर्मको [समियं] समानभावसे [उदाहु] वताया ॥ ४ ॥

भावार्थ—आर्य्य सुधर्म फिरयों वोले कि-भगवान् महावीर त्रस और स्थावर जीवोको जोकि-ऊपर-नीचे और इधर उधर भरे पडे हैं, सव जगह विद्यमान हैं, और जीवोंको उन्होंने पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य और द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य वताया है। और उनके उत्तम धर्मका उपदेश जगत्-सागरमे डूवते हुए प्राणिओंको टापूके समान सहारा देते है, और अज्ञाननाके अंधेरेको मिटानेके-लिए दीवेके समान है। इस प्रवचनसे अनात्मवादका खण्डन हो जाता है

एवं वृक्ष-वायु-पृथ्वी आदिमें जीव है यह सिद्ध किया है, और जैनदर्शनके प्राणभूत स्याद्वाद-सिद्धान्तका सम्यक् दिग्दर्शन कर दिखाया है ॥ ४ ॥

श्रीसुधर्माचार्य वीर प्रभुके गुणों को प्रकट करते हैं !

भाषा-टीका—सर्वज्ञ-वीर भगवान्‌ने ऊर्ध्वलोक, मानवलोक, अधो-लोक के सब जीवोंका स्वरूप इस भान्ति वर्णन करके बताया है कि-**"जीव"** यद्यपि जीवसमूह शुद्ध निश्चयनयसे आदि, मध्य और अन्त से रहित, अपने और परके गुणोंका प्रकाशक, उपाधिरहित और शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राणसे ही जीवित है, तथापि अशुद्ध- निश्चयनयसे अनादि कर्मबन्ध के वशसे जो अशुद्ध द्रव्यप्राण और भाव प्राण हैं उनसे जीवित रहने के कारण-यह जीव है ।

उपयोगमय—

यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे परिपूर्ण तथा निर्मल ज्ञान और दर्शन ही उपयोग हैं इसी से जीवसज्ञा है, तौ भी अशुद्ध-नयसे क्षायोपशमिकज्ञान और दर्शनसे बना हुआ है, इस लिए ज्ञानदर्शनोपयोगमय है ।

अमूर्त—

यद्यपि व्यवहारनयसे यह जीव मूर्त कर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाली मूर्तिके द्वारा रचित रहनेके कारण मूर्त है तथापि निश्चय नयसे अमूर्त, इन्द्रियोंसे अगोचर, शुद्धरूप स्वभावका धारक होने से अमूर्त है ।

कर्ता—

यद्यपि जीव निश्चयनयकी दृष्टिसे क्रिया रहित, उपाधिरहित जाननेके स्वभावका धारक है । तथापि व्यवहारनयसे मन, वचन तथा कायके व्यापारको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंसे युक्त होनेके कारण शुभ और अशुभ कर्मोंका करनेवाला है, अत कर्ता है ।

सदेह परिमाण—

यद्यपि जीव निश्चयनयपूर्वक स्वभावसे उत्पन्न शुद्धलोकाकाशके समान है और असख्य प्रदेशोंका धारक है, तथापि शरीर नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न—सकोच तथा विस्तारके अधीन होने से घडे आदि पात्रोंमे रहे हुए दीपककी सदृश अपने देहके परिमाण जितना है ।

भोक्ता-

यद्यपि जीव शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे रागादिविकल्परूप उपाधियोंसे शून्य है, और अपने आत्मासे उत्पन्न हुए अमृतको भोगनेवाला है, तथापि अशुद्ध-नयसे उस सुखरूप अमृतपदार्थके अभावसे शुभ कर्म्मसे उत्पन्न सुख और अशुभ कर्मसे उत्पन्न दु खोंको भोगता है अत भोक्ता भी है।

संसारस्थ-

ससारमें स्थित रह कर अनेक पर्याय बदलता रहने के कारण ससारी है। यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनयसे ससार रहित है और नित्य आनन्दघन रूप एक स्वभावका धारक है तथापि अशुद्ध निश्चय नयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव इन भेदोंसे पाच प्रकारके ससारमे रहता है अत यह आत्मा—जीव ससारस्थ भी है।

सिद्ध—

यह आत्मा सिद्ध भी है। यथाह प्रज्ञापनायाम्—सितं बद्धं—अष्टप्रकारं कर्म्मेन्धनम्, ध्मातं दग्धं जाज्वल्यमानशुक्लध्यानानलेन यैस्ते निरुक्तविधिना सिद्धाः। अथवा 'षिधु गतौ' इति वचनात् सेधन्ति स्म अपुनरावृत्त्या निवृत्तिपुरीमगच्छन्, अथवा 'षिधु सराद्धौ' इति वचनात् सिद्ध्यन्ति स्म निष्ठितार्थो भवन्ति स्म। अथवा "षिधूञ् शास्त्रे मांगल्ये च" इति वचनात् सेधन्ति स्म शास्तारोऽभूवन्, मांगल्य-रूपतां चानुभवन्ति स्मेति सिद्धाः। अथवा सिद्धा नित्या अपर्य्यवसान-स्थितिकत्वात्, प्रख्याता वा भव्यैरुपलब्धगुणसन्दोहत्वात्, आह च,

"ध्मातं सितं येन पुराणकर्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि;
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, य. सोऽस्तु सिद्धः कृतमंगलो मे"

अतः स सिद्धो नमस्करणीयश्चैपामविप्रणाशिज्ञान-दर्शन-सुख-शक्त्यादिगुणयुक्ततया स्वविषयप्रमोदप्रकर्षोत्पादनेन भव्यानामतीवो-पकारहेतुत्वादिति।

भावार्थ—"आठ प्रकारके कर्मरूपईन्धनको शुक्लध्यानकी आगसे जिसने जला दिया हो वह सिद्ध होता है, अथवा गत्यर्थक 'षिधु' धातुसे सिद्ध अर्थात् अपुनरावृत्ति की अपेक्षा जो निर्वृत्तिपुरीमें पहुंच गए हैं वह सिद्ध है; अथवा निष्पत्यर्थक 'षिधु' धातु द्वारा 'सिद्ध' यानी जिसने अपने अर्थको निष्पन्न किया है, और जो कृतकृत्य होगया हो, वह सिद्ध है, अथवा शास्त्रार्थक और मागल्यार्थक 'षिधूञ्' धातुसे 'सिद्ध' यानी जो शासनकर्ता हो, अथवा जो मंगलत्वके स्वरूपका अनुभव कर्ता हो, या जो स्वयं मंगलरूप हो वह 'सिद्ध' है; अथवा नित्य कारण जिनकी स्थिति अविनाशी है, अथवा भव्य जीवोंको जिनके गुणसमूह उपलब्ध होने से प्रसिद्धि प्राप्त है, या जिन्होंने बांधा हुआ पुराना कर्म जला दिया है, जो निर्वृत्तिरूप महलके शिखरके ऊपर जा पहुंचा है, जो प्रसिद्ध है, अनुशासन करनेवाला है, कृतार्थ है, वह सिद्ध प्रभु हमारे लिए कृत मंगल है नमस्कार करने योग्य है, इसीलिए कि–वे अविनाशी–ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति, आदिकसे युक्त है और स्वविषय आनन्दोत्कर्ष के उत्पादक होनेसे भव्य जीवोके ऊपर अप्रतिम उपकार करने से वे नमन करने योग्य हैं; ।" यद्यपि जीव व्यवहार नयके कारण अपनी आत्माकी प्राप्ति रूप उपरोक्त सिद्धत्व युक्त है, और उसके प्रतिपक्षी कर्मोंके उदयसे असिद्ध है, तथापि निश्चय नयसे अनन्तज्ञान और अनन्तगुण स्वभावका धारक होनेसे सिद्ध है;

ऊर्द्ध्वगामी–

इन कहे हुए गुणोका धारक जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगमनकरनेवाला है, यानी व्यवहारसे चार गतियोको पैदा करनेवाले कर्मोंके उदयसे ऊंचा, नीचा, तथा तिर्छा गमन करनेवाला है, तथापि निश्चयनयसे केवलज्ञान, आदि अनन्त-गुणोंकी प्राप्ति स्वरूप मोक्षमे चला जानेके कारण स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करने वाला है, इस प्रकार जीवका स्वरूप शुद्ध और अशुद्ध नयकी दृष्टिसे समझाया गयाहै। और अनादि कालसे कर्म्मोंद्वारा आत्मा स्वयं बंधकर ससारमें रुल रहा है इत्यादि आगमका अर्थ तो प्रसिद्ध ही है । और शुद्ध नय के आश्रित जीवका स्वरूप उपादेय यानी ग्रहण करने योग्य है और बाकी सब हेय है तथा उनके त्रस और स्थावर ये दो भेद हैं ।

त्रस–

त्रस प्राणी वे हैं जो किसी के द्वारा भय, त्रास, और उद्वेग पाकर, या

सताया जाकर अपने वचनेके लिए जो इधर उधर भाग फिर सकते हैं, जिनके दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाच इन्द्रिय, ये चार प्रकार हैं।

स्थावर-

पृथिवी, पानी, आग, हवा, वनस्पतिके भेदसे पाच स्थावर हैं। ये अपने ऊपर आए हुए सकट से वचनेके लिए उद्यम करनेमें सर्वथा अशक्त हैं, वहुत थोडी समझ है, और जन्म मरण भी अधिक करते रहते हैं, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु के जीव ४८ मिनिट मे १२८२४ वार मर कर जन्म लेते हैं, वनस्पतिमे निगोदजीवकी अपेक्षा ६५५३६ वार जन्मते मरते हैं। हमारा एक श्वास सुखसे आता है और वे १७ वार जन्म कर मरते हैं। अत ये सव स्थावर कहलाते हैं। इन्ही में भूत सत्व भी हैं यथा-

२-३-४ इन्द्रियवालोंको प्राणी सज्ञक जानना चाहिए। वनस्पतिकी भूत सज्ञा है। पाच इन्द्रिय वालोंको जीव सज्ञक माना है। पृथ्वी, पानी, आग, हवाको सत्व सज्ञासे पहचानते हैं। इन सव जीवोंमे १० द्रव्य प्राण होते हैं। जिनकी गणना इस भाति है।

१० द्रव्य प्राण—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेंद्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयुके प्रमाण, श्वास उच्छ्वासका लेना छोडना, इत्यादि १० प्राण हैं। यह प्राण धन सव जीवोंको अत्यन्त प्रिय है। जव इन पर मुसीवतका कुल्हाडा वजता है तव उस धनसे मोह एक दम हटा देता है। स्थावरोंमें जीव सिद्धि होनेसे चार्वाकादि का खण्डन हो जाता है। भगवान्ने इन सव जीवोंको द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य और पर्याय की दृष्टिसे अनित्य फ़र्माया है। इसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके आश्रयसे भी समझाया है। प्रभु स्वयं टापू की तरह डूवते हुए ससारी जीवोंको सहायक भूत हैं, और उनका ज्ञान तत्व-पदार्थ का पृथक् ज्ञान करानेके कारण दीपकके समान हैं। दीपककी तरह स्व-पर रूपका ज्ञान प्रकट हो जाता है। यही भगवान्का धर्म है, जिसे उन्होंने और तीर्थकरोंकी भाति समता अर्थात् तुलनात्मक दृष्टिसे कहा है। इनका धर्मोपदेश करनेका आशय लोकोंको समभाव-उपशमभाव-अहिंसाभाव तथा सत्यका स्वरूप समझाकर ससारमे परोपकारिता फैलाना था कुछ अपना उत्कर्ष प्रकट करनेका उद्देश नही॥ ४॥

गुजराती अनुवाद—सुधर्माचार्य वीरप्रभुना गुणोनुं वर्णन करे छे।

सर्वज्ञ प्रभु श्रीवीरभगवाने ऊर्ध्वलोक अधोलोक अने त्रिछालोकना समस्त जीवोनुं स्वरूप आ रीते वर्णवेलुं छे ।

जीव-

जो के जीव समूह शुद्ध निश्चय नयथी आदि-मध्य अने अन्त रहित, स्व तथा पर गुण प्रकाशक, उपाधि रहित, अने शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राणथी जीवित छे । तो पण अशुद्ध निश्चय नये अनादि कर्म बंधना कारणे जे अशुद्ध द्रव्य प्राण अने भाव प्राण छे तेनाथी जीवित रहेवाने कारणे जीव छे ।

उपयोगमय-

जो के शुद्ध द्रव्यार्थिक नये जीव परिपूर्ण तथा निर्मल ज्ञान दर्शन मय छे, तो पण अशुद्ध नये क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शन युक्त छे, तेथी जीव ज्ञानदर्शनोपयोगमयी छे ।

अमूर्त-

व्यवहारनयथी आ जीव मूर्त कर्मोने वश होवा थी स्पर्श-रस-गंध-वर्ण वाळी मूर्तिथी रचित होवाना कारणे मूर्त छे । पण निश्चय नये अमूर्त, इन्द्रियोथी. अगोचर शुद्धरूप स्वभावनो धारक होवाथी अमूर्त छे ।

कर्ता-

जीव निश्चयनये क्रिया रहित, उपाधिरहित, जाणवानो स्वभावनो धारक छे; पण व्यवहार नये मन–वचन–कायना व्यापारने उत्पन्न करवावाळा कर्मोथी सहित होवाना कारणे शुभाशुभ कर्मनो कर्ता छे ।

सदेह परिमाण—जीव निश्चय पूर्वक स्वभावथी उत्पन्न शुद्ध लोकाकाश समान छे, तेमज असंख्य प्रदेशोनो धारक छे, पण शरीर नामकर्मना उदये घडा विगेरे पात्रमा रहेला दीवानी माफक सकोच विकोचमय होवाना कारणे देहप्रमाण रहे छे ।

भोक्ता—शुद्ध द्रव्यार्थिक नये जीव रागादि विकलपरूप उपाधिथी रहित छे, तेमज निजात्मथी उत्पन्न अमृतनो भोक्ता छे, पण अशुद्धनये ते सुखरूप अमृत पदार्थोना अभावे शुभकर्मथी उत्पन्न सुख अने अशुभ कर्मथी उत्पन्न दुःखनो भोक्ता छे ।

संसारस्थ—संसारमा रहीने पर्याय वदलता रहेवाने कारणे संसारी छे, जो के शुद्ध निश्चय दृष्टिए जीव संसार रहित छे, तेमज नित्य आनंदघनरूप स्वभावनो धारक छे, तो पण अशुद्ध निश्चय नये द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव–भव ए पाच प्रकारे संसारमा रहे छे, तेथी आत्मा–जीव संसारस्थ पण छे।

सिद्ध—आठ प्रकारना कर्मरूप ईंधणने शुक्लध्याननी आग वडे जेणे वाळी दीधा होय, ते सिद्ध छे; अथवा गत्यर्थक "षिध्" धातु थी सिद्ध अर्थात् अपुनरावृत्तिनी अपेक्षा जे निवृत्ति पुरीमा पहोंची गया छे, ते सिद्ध छे, अथवा निष्पत्त्यर्थक "षिधु" धातु थी सिद्ध एटले जेणे पोताना अर्थ निष्पन्न कर्या छे, अने जे कृतकृत्य थई गया छे, ते सिद्ध छे, अथवा शास्त्रार्थक तेमज मागल्यार्थक 'षिधुञ्' धातुथी सिद्ध अर्थात् जे शासन कर्ता छे, अथवा जे मंगलत्वना स्वरूपना अनुभव कर्ता छे, अथवा जे स्वयं मंगलरूप छे, ते सिद्ध छे; अथवा नित्य होवाना कारणे जेनी स्थिति अविनाशी छे, अथवा भव्य जीवोमा जे गुणसमूह उपलब्ध होवाना कारणे प्रसिद्धि पामेला छे, अथवा जेणे पूर्वे वाधेला जुना कर्मो वाळी नाख्या छे, जे निवृत्ति महेलना शिखर पर विराजे छे, जे प्रसिद्ध छे, शासन कर्ता छे, कृतार्थ छे, ते सिद्ध प्रभु उदासीन रूपेण आपणा मंगलना करनार छे, नमस्कार करवा योग्य छे, एटला माटे के तेओ अविनाशी ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति आदि थी युक्त छे, अने स्वविषय आनन्दोत्कर्ष उत्पादक होवाथी भव्य जीवो पर अप्रतिम उपकार करवाने लीधे नमन करवा योग्य छे, जो के जीव व्यवहार नये पोताना आत्मानी प्राप्तिरूप उपरोक्त सिद्धत्व गुणवालो छे, ने तेना प्रतिपक्षी कर्मोना उदये असिद्ध छे, तो पण निश्चय नये अनन्तज्ञान अने अनन्तगुण स्वभावनो धारक होवाथी ते सिद्ध छे।

ऊर्ध्वगामी—उपरोक्त गुणो धारण करनार जीव स्वभावथी उर्ध्वगमन करवा वाळो छे, अने व्यवहारे चतुर्गतिमा रखडावनार कर्मोना उदयथी ऊंची, नीची तथा तिरछी दिशामा गमन करवावाळो छे, तो पण निश्चय नये केवलज्ञानादि अनन्त गुणोनी प्राप्ति स्वरूप मोक्षमा जवाना कारणे स्वभावथी ऊर्ध्वगमन करवावाळो छे, आ रीते शुद्ध अने अशुद्ध नये जीवनुं स्वरूप समजावेलुं छे, अनादिकालथी कर्मबधथी बंधाएलो आत्मा ससारमा रखडीज रह्यो छे, इत्यादि आगमथी प्रसिद्ध छे, शुद्ध नये जीवनुं स्वरूप उपादेय अर्थात् ग्रहण करवा योग्य छे, अने बाकी बीजुं वधुं हेय छे, तेना त्रस अने स्थावर एवा बे भेद छे।

त्रस–कोई थी भय, त्रास, उद्वेग पामीने अथवा सतामणी पामता पोताना बचाव अर्थे जे अही तहीं हरी फरी के भागी शके छे, ते त्रस छे, तेना बेंद्रिय, तेंन्द्रिय, चौरिंद्रिय अने पंचेंद्रिय एवा चार भेद छे;

स्थावर–पृथ्वी-पाणी-अग्नि-वायु अने वनस्पति ए पाच स्थावरना भेद छे। तेओ पोताना पर आवी पडेला सकटोमाथी बचवानो प्रयत्न करवामा सर्वथा अशक्त छे, घणीज ओछी समजवाला छे, जन्म-मरण घणा करे छे; पृथ्वी-पाणी-अग्नि अने वायुना जीवो ४८ मिनिटमा १२८२४ वार जन्मे छे ने मरे छे, वनस्पतिमा निगोदना जीवो ६५५३६ वार जन्मे मरे छे, एक श्वासोश्वासमा ते एटला भव करे छे, आथी आ वधा स्थावर कहेवाय छे। आ दरेकमा जीव छे, अने ते केवा स्वरूपे छे ते नीचेनी हकीकते समजाशे ते तमामने शरीर छे, अने तेना शरीरने मनुष्यना शरीर साथे जुदी जुदी रीते सरखाववामा आवे छे।

पृथ्वीकाय—जेम मनुष्यने काइ वागेलुं होय अने घा पडेल होय, ते रुझाता धीमे धीमे भराइ जाय छे, तेम खोदेली खाणो पण स्वयं भराइ जाय छे, जेम उघाडापगे चालनार मनुष्यना पगनुं तळिऊं घसाय छे तेम वधतुं जाय छे, तेवीज रीते माणसो-पशुपक्षी तथा वाहनोनी आवजाव थवाथी पृथ्वी पण रोज घसाय छे, ने रोज वधवा पामे छे, जेम बालक वधे छे तेम पर्वत पण धीमे धीमे नित्य वधे छे, माणसने लोढुं पकडवुं होयतो माणसने लोढा पासे जवुं पडे छे, त्यारे लोह चुंवक नामनो पत्थर पोताने स्थाने रहीने पोतानी चैतन्य शक्ति थी लोढाने पोतानी पासे खेंची ले छे, माणसना पेटमा पथरीनो रोग थाय छे ते सचेत पत्थर होवाथी नित्य वधे छे, माछलीना पेटमा रहेल मोती पण एक जातनो पत्थर छे, अने ते पण नित्य वधे छे, जेम माणसना शरीरमाना हाड-कामा जीव होय छे, तेम पत्थरमां पण जीव होय छे।

अपकाय—जेम पक्षीना इंडामा रहेल प्रवाही पदार्थ पंचेन्द्रिय पक्षीना पिंड स्वरूपे छे, तेम पाणीना जीवो पण ते एकेन्द्रिय जीवोना पिंड रूपे छे, मनुष्य तथा तिर्यंच गर्भ अवस्थामा शरूआतमा प्रवाही पाणी रूपे होय छे, तेम पाणीमा पण जीव समजवा, जेम शियाळामा मनुष्यना मुखमाथी वराळ नीकळे छे, तेम कुवाना पाणीमाथी पण वराळ नीकळे छे, जेम शियाळामा मनुष्यनुं शरीर गरम होय छे, तेम शियाळामा कुवानुं पाणी पण गरम होय छे, जेम गरमीमा मनुष्यनु शरीर शीतळ होय छे, तेम उनाळामा कुवानुं पाणी पण शीतल होय छे,

जेम मनुष्यनी प्रकृतिमां पण शरदी तथा गरमी होय छे, तेम पाणी नी प्रकृतिमां पण शरदी तथा गरमी होय छे, जेम मनुष्यनुं शरीर शियाळामा अकडाइ जाय छे, तेम शियाळामां तळावनुं पाणी पण अकडाई जइने बरफ बने छे, जेम मनुष्य बाल्यावस्था, युवावस्थाने वृद्धावस्था जेवा नवा रूप धारण करे छे, तेम पाणी पण वराळ-बरफ ने वरसाद आदि रूप धारण करे छे, जेम मनुष्यनो देह माताना गर्भमा पाके छे, तेम पाणी पण छ मास वादळामां गर्भ रूपे पाकीने वर्षानुं रूप धारण करे छे, जेम मनुष्यनो काचो गर्भ कोईक वार गळी जाय छे, तेम पाणीनो पण काचो गर्भ गळी जाय छे, जेने करा पड्या कहेवाय छे;

तेजस्काय—जेम मनुष्य श्वासोश्वास सिवाय जीवी न शके, तेम अग्नि पण श्वासोश्वास सिवाय जीवी शक्तो नथी, जेम तावमा मनुष्यनुं शरीर गरम रहे छे, तेम अग्निना जीवो पण गरम होय छे, मरण पामवाथी मनुष्यनुं शरीर ठडु पडी जाय छे, तेम अग्निना जीवो पण मरी जवा थी ठंडा पडी जाय छे, जेम आगीयाना शरीरमा प्रकाश होय छे, तेम अग्निना जीवोमा पण प्रकाश होय छे, जेम माणस चाले छे, तेम अग्नि पण चाले छे, एटले अग्नि फेलाइने ते आगळ वधतो जाय छे, जेम मनुष्य ऑकसीजन [प्राणवायु] हवा ले छे, ने कार्बन [विषवायु] वहार काढे छे, तेम अग्नि पण ऑकसीजन हवा लइने कार्बन हवा व्हार काढे छे ।

वायुकाय—हवा हजारो गाऊ सुधी स्वतन्त्र रीते चाली शके छे, हवा पोताना चैतन्य बळथी मोटा विशाळ वृक्ष तथा मोटा महेलोने पाडी नाखे छे, हवा पोतानुं शरीर नानामाथी मोटुं वनावे छे, वर्तमानकाळमा विज्ञानिओए शोध करी छे, के हवामा थेक्सस नामना सूक्ष्म जंतुओ उडे छे ने ते एटला सूक्ष्म छे के, सोयनी अणी जेटला भागमा एक लाख जंतुओ सुखेथी आराम पूर्वक वेसी शके छे।

वनस्पति काय—मनुष्यनो जन्म माताना गर्भमा रहया पछी थाय छे, तेम वनस्पतिना जीवो पण पृथ्वीमाताना गर्भमा अमुक समय रह्या पछी वहार नीकळे छे, जेम मनुष्यनुं शरीर नित्य वधे छे, तेम वनस्पतिनुं शरीर पण नित्य वधे छे, जेम मनुष्य वालावस्था-युवावस्था ने वृद्धावस्था भोगवे छे, तेम त्रणे अवस्था वनस्पति पण भोगवे छे, जेम मनुष्यना शरीरने कापवाथी लोही नीकळे छे, तेम वनस्पतिना शरीरने कापवाथी तेमाथी प्रवाही पदार्थ विविध रगना नीकळे छे,

जेम खोराक मळवाथी मनुष्यनुं शरीर पुष्ट थाय छे, अने न मळवाथी सुकाई जाय छे, तेम वनस्पति पण खातर तथा पाणीनो खोराक मळवाथी ते विकास पामे छे, अने तेना अभावे ते सुकाई जाय छे, जेम मनुष्य श्वास ले छे, तेम वनस्पति पण श्वास ले छे, दिवसे कार्बन हवा लईने रात्रे वनस्पति ऑकसीजन हवा बाहर काढे छे, जेम केटलाक मनुष्यो मासाहारी होय छे, तेम वनस्पति पण माखी-पतंग आदि नाना जीवोना सत्वने पोताना पाडडा वती चुसी ले छे, या खातर अने हवा द्वारा मासाहार करे छे, चन्द्रमुखी पुष्प चन्द्रमानी सामे ने सूर्यमुखी पुष्प सूर्यनी सामे खीले छे, अने तेमना अस्त थवाथी बीडाई जाय छे ।

तेमा भूत-सत्व पण छे, जेमके बे-त्रण-चार इन्द्रियवाळा जीवो प्राणी कहेवाय छे, वनस्पतिने भूत, पाच इंद्रियवालाने 'जीव,' अने पृथ्वी-पाणी-अग्नि-वायुने 'सत्व' कहे छे, ए वधा जीवोमा १० द्रव्य प्राण होय छे, जेनी गणतरी नीचे मुजब नी छे ।

पाच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयुष्य, श्वासोश्वास, ए दश प्राण छे, आ प्राणधन सर्व जीवोने अत्यन्त प्रिय छे ।

स्थावरोमा जीव होवानु साबित थवाना पुष्ट कारणे चार्वाक-नास्तिक आदिनुं खंडन थई जाय छे, आ सर्व जीवो द्रव्य दृष्टिए नित्य अने पर्याय दृष्टिए अनित्य छे, एम महावीर भगवाने फरमावेलु छे, प्रभु पोते बेट समान डूबता समारी जीवोने सहायक छे, तेमज तेमनुं ज्ञान तत्वनो निर्णय करावबाने कारणे दीपक समान छे, दीपक समान स्वरूप-पररूपनुं ज्ञान प्रगट थई जाय छे, आ भगवान्नो धर्म छे, के जे तेओए तुलनात्मक दृष्टि थी कहेलो छे। धर्मोपदेश करवानो तेमनो उद्देश लोकोने समभाव-शान्ति-अहिसा-सत्यनुं स्वरूप समजावीने परोपकार करवानो हतो, पण पोतानो उत्कर्ष प्रगट करवानो न हतो ॥ ४ ॥

मूल

से सव्वदंसी अभिभूय नाणी,
णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा;
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं,
गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥ ५ ॥

संस्कृतच्छाया

स सर्व्वदर्शी अभिभूय ज्ञानी, निरामगन्धो धृतिमान् स्थितात्मा।
अनुत्तरः सर्व्वजगति विद्वान्, ग्रन्थादतीतोऽभयोऽनायुः ॥ ५ ॥

सं० टीका—स ज्ञातृपुत्रमहावीरो भगवान् सर्व्वदर्शी समासीत्, किं कृत्वा, अभिभूय=यावद्द्वाविंशतिपरिषहान् तिरस्कृत्य पराजयं कृत्वेति। पुनः केवलाख्यं ज्ञानमस्यास्तीति सः। "अत इनिठनौ।" परतीर्थाधिपाधिकत्वमावेदितमित्यनेन ॥ अथ ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष इति तस्य भगवतो ज्ञानं प्रदर्श्य क्रियां दर्शयितुमाह ॥ निर्गतोऽपगत आमो विशोधिकोटिरूपो गन्धो यस्मात् सोऽस्ति निरामगन्धो=मूलोत्तरगुणसमन्वितां चरित्रक्रियां कृतवान् इति। धृतिमान् स्थैर्यसम्पन्नो निश्चलतया चरित्राराधकः। स्थितात्मा=निर्मलात्मा शुक्लध्यानीति, यावदथवा स्थित्यात्मा मर्यादान्वितात्मा, यथा "संस्थातु मर्यादा धारणा स्थितिरित्यमरः।" अशेषकर्म्मविगमात्स्थितो व्यवस्थित आत्मा यस्य स स्थितात्मा। परिणामद्वारेण विशेषणं ज्ञानक्रिययोरेतच्चेति भावः। अनुत्तर=उत्कृष्टः श्रेष्ठो नास्मादुत्तरं प्रधानं सर्वस्मिन्नपि जगति विद्यते सोऽनुत्तरः। "अनुत्तर एषां विपर्य्यये श्रेष्ठ इत्यमरः"। विद्वान्=सर्वहेयोपादेयज्ञेयपदार्थवेत्ता, सकलद्रव्याणा करतलामलकवत्प्रत्यक्षदर्शीति भावः। "विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः, धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञ, इत्यमरः"। ग्रन्थादतीतो=ऽन्तर्बाह्यपरिग्रहग्रंथादतीतो रहितः, अथवा कर्मरूपाद्ग्रन्थादतिक्रान्तो रहितो निर्ग्रन्थ इत्यर्थः। प्रवृत्तिभावेऽथवा कर्म्मपर्व्वणोऽतीत इत्याशयः। "ग्रन्थिर्ना पर्व्वपरुषी इत्यमरः"। अभयः=सप्त प्रकारकं भयं न विद्यते यस्यासावभयो भीतिरहितः। "दरस्त्रासो भीतिर्भीः साध्वस भयमित्यमर."। अनायु.=नारकतिर्य्यङ्नृसुरायुरहितत्वात्। दग्धकर्म्मबीजत्वेन पुनरु-

त्पादस्याभावाच्चेत्यर्थः । "दग्धे वीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः। कर्मवीजे तथा दग्धे, नारोहति भवांकुर इति" ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह [सव्वदंसी] सब कुछ देखनेवाले भगवान् [अभिभूय] क्षायोपशमिक ज्ञानोंको जीतकर [नाणी] केवलज्ञान सयुक्त, [णिरामगंधे] निर्दोष चरित्र पालनेवाले [धिइमं] धीरता समन्वित [ठिअप्पा] अपने आत्म-स्वरूपमे स्थिर-लय [सव्वजगंसि] अखिल विश्वमे [अणुत्तरे] सबसे उत्कृष्ट [विज्जं] पदार्थोंके जाननेवाले सर्वज्ञ-सर्वविषयज्ञ [गंथा] परिग्रह-ग्रन्थीसे [अतीते] रहित [अभए] सात भयोसे रहित [अणाउ] और आयु रहित थे ॥ ५ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीर स्वामी सामान्यरूपसे पदार्थोंके जाननेवाले तथा मति-श्रुति-अवधि और मन पर्यव इन चार क्षयोपशमजन्य ज्ञानोको लाघकर केवलज्ञानसमुत्पन्न थे, और उन्होने यह भी वताया कि-ज्ञान और चरित्रसे ही मोक्ष होताहै अत प्रभुके ज्ञानका वर्णन करके चरित्रका वर्णन करते है। भगवान्ने मूलगुण और उत्तरगुणोंका पूर्णतासे पालन किया तथा अनेक विघ्न वाधा और परिषह पडनेपर भी स्वचरित्रमे निश्चल रहे। भगवान् तीनों लोकमे सबसे श्रेष्ठ विद्वान् परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ और सातभयसे रहित तथा सब कर्मोंसे मुक्त थे ॥५॥

भाषा-टीका—प्रभु २२ परिषह और शारीरिक मानसिक कष्ट तथा रागादिक एव ज्ञानावरणीयादिक आन्तरिक शत्रुओंको जीत कर केवल ज्ञानी होगए। आपने ज्ञानको प्रमुख पद देकर ससारको क्रियाका भी भान कराया। और यह सिद्ध कर दिखाया कि ज्ञान और क्रिया इन दोनोंका आश्रय लेनेसे मोक्ष है। अत वे स्वयं आमगन्ध—मूल गुण और उत्तर गुणरूपी दोषोसे रहित थे। आपने धीरतासे चरित्रका पालन किया, आत्माको शुक्लध्यानमे स्थिर किया। कर्मोंका सर्व्वथा नाश करनेके लिए निवृत्तात्मा होकर स्थित रहे, स्थिरता उनका प्रधान गुणथा। और ब्रह्मज्ञान—पाकर हाथ पर धरे आमलेकी तरह सब चराचरको जान लिया। क्योंकि अन्तर और वाह्य परिग्रहसे रहित होकर कर्म ग्रन्थिका सर्व्वथा भेदनकर चुके थे अत आप निर्ग्रन्थ थे। यही कारण हैं कि वौद्धादिक आपको अव तक भी निग्गण्ठके नामसे स्मरणमे रखते हैं। आप स्वय अभय रहकर औरोंको निर्भय वनानेके अर्थ उपदेश देते और लोकोंमे

सच्चा वीर रस पैदा करते। देव, मनुष्य, पशु और नरकके आयुके लम्बे तारोंको तोड फोड कर नष्ट कर दिया । क्योंकि जब बीजको सेक भून दिया जाता है तब उसे बोया भी जाय तब भी वह अकुर नहीं देता अर्थात् उसकी सृष्टि अगाडी नहीं बढती, इसी प्रकार कर्मबीज नष्ट होने पर संसारका अकुर अर्थात् जन्म और मरण नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

गुजराती अनुवाद—२२ परिषह, शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, रागादिक तथा ज्ञानावरणीयादिक आन्तरिक शत्रुओने जीतीने प्रभु केवलज्ञानी थया, अने ज्ञानने प्रमुख पद आपीने संसारने क्रियानु पण भान कराव्यु, अने सिद्ध करी बताव्युं के ज्ञान अने क्रियाथी मोक्ष छे, मूल तथा उत्तरगुणे दोष रहित सयमना पाळनारा, धैर्यवान्, सर्व कर्म नाश थवाथी स्थित आत्मवान्, सर्व जगतने विषे प्रधान ज्ञानवान्, बाह्य अने अभ्यन्तर परिग्रह रहित तेमज कर्म-ग्रन्थीनो सर्वथा नाश करवाथी निर्ग्रन्थ थया आ कारणे बौद्धादिक आपनुं 'निग्ग-ण्ठ' (निर्ग्रन्थ) एवा नामथी स्मरण करे छे, आप सात भय रहित थया, अने बीजाओने निर्भय बनाववाने माटे उपदेश देता, अने लोकोमा साचो वीर रस पेदा करता, चार गतिना आयुष्य रहित ज्ञातृपुत्र श्रीमहावीर देव हता, कारणके ज्यारे बीजने शेकी नाखवामा आवे त्यारे तेने वाववामा आवे तो पण ते उगतुं नथी, आ रीते कर्मबीजनो नाश थई जवाथी ससारना अकुर जन्म-मरण नाश पामी जाय छे ।

मूल

से भूइपन्ने अणिए अयारी,
ओहंतरे धीरे अणंतचक्खु ।
अणुत्तरे तप्पइ सूरिए वा,
वइरोइणिंदे व तमं पगासे ॥ ६ ॥

संस्कृतच्छाया

स भूतिप्रज्ञोऽनियतचारी, ओघंतरो धीरोऽनन्तचक्षुः ।
अनुत्तरं तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशः ॥ ६ ॥

सं० टीका—'से इति'। भूति शब्दो वृद्धौ, सम्पदि, ऐश्वर्ये, भस्मनि वर्तते, भूतिप्रज्ञस्तत्र प्रवृद्धज्ञानोऽनन्तज्ञानवानिति, तथा च भूतौ भस्मनि कर्म्मणां भस्मसात्करण इत्यर्थः कर्म्मक्षय इति यावत् प्रज्ञा यस्य स भूतिप्रज्ञः, तथा समग्रात्मैश्वर्य्योदयवान् च। "भूतिर्भस्मनि सम्पदि, इत्यमरः"। पुनस्तथा भूतिप्रज्ञो जगद्रक्षाविषयको भूतिप्रज्ञः। सर्वमंगलभूतिप्रज्ञ इत्यपि;। अनियतचारी=अप्रतिवन्धविहरमाणत्वात्, वायुरिवेतिभावः। ओघं संसारं तरीतुं शीलमस्येति ओघतर.। उत्पादव्यययोः ओघं परम्परां तरतीति सः। "ओघो वेगे जलस्य च। वृन्दे परम्परायां च, द्रुतनृत्योपदेशयोरिति" मेदिनी। अथवा कर्म्मणामोघः समूहस्तं तरतीति सः। "ओघो वृन्देऽम्भसां रय इत्यमरः"। धीर्वुद्धिस्तया राजत इति धीरः,=परिषहोपसर्गेऽक्षोभ्यो दृढो वेति धीरः। "धीरोमनीषी ज्ञः प्राज्ञ इत्यमरः।" अनन्तत्वाच्चक्षुर्ज्ञान तत्केवलज्ञानमेव तदेव चक्षुर्भूतः सोऽनन्तचक्षुरिति। यथार्कः सूर्योऽनुत्तरमुत्कृष्टं सर्वतोऽधिकं तपति न तस्मादधिकस्तापे कश्चनास्ति, तथैव भगवानपि ज्ञानेन सर्व्वोत्कृष्टः। पुनः कथंभूतो हि सूर्यो, विशेषेण रोचनो दीप्तिमान्, प्रकाशकाधिकत्वात्, इन्द्रोऽसौ यथा तमोऽपनीय-दूरीकृत्य प्रकाशयति, एवमसावपि भगवानज्ञानतमोऽपहृत्य यथावस्थितपदार्थान्प्रकाशयतीत्यर्थः। 'विरोचन इत्यत्र स्वार्थेऽणि, वैरोचनः सूर्य्योऽथवाग्निरिव कर्म्मेन्धनं ज्वालयित्वा अकर्म्मकः परिशुद्धो जात इत्यपि। "विरोचनः प्रल्हादस्य तनयेऽर्केऽग्निचन्द्रयोर्गनि मेदिनी।" विरोचनो रविरेवेति वहुमतम्, यथा—"तरणिस्तपनो भानुर्व्रघ्न पूषार्य्यमा रविः, तिग्मः पतंगो द्युमणिर्मार्तण्डोऽर्को ऽन्वाधिप इनः सूर्य्यस्तमोध्वांतस्तिमिरारिर्विरोचनः। इति धनञ्जयना-

ममालायाम्" । "द्युमणिस्तरणिर्मित्रश्चित्रभानुर्विरोचन इत्यमरः" विरोचन एव वैरोचनः सूर्यः । स इव प्रकाशोऽतिप्रसिद्धो, जगद्विख्यातो ज्ञातपुत्र—महावीरप्रभुरित्यर्थः । "प्रकाशोऽतिप्रसिद्धेऽपीत्यमरः" । अथवा सः प्रभुर्ज्ञानातपने महान् इति । "प्रकाशोद्योत आतप इत्यमरः ।" ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—[से] वे भगवान् [भूइपण्णे] अत्यन्त बुद्धिमान् [अणिए अचारी] विचरते समय प्रतिबन्ध रहित [ओहंतरे] ससार समुद्रसे पार होनेवाले [धीरे] धैर्य्यवान् [अणतचक्खु] अनन्तज्ञानवान् [अणुत्तर] सबसे अधिक पवित्र-श्रेष्ठ [तप्पति] तपश्चरण करनेवाले [सूरिए वा] सूर्यके समान तथा [वइरोयणिंदे व] वैरोचन नामक अग्नि के सदृश [तम] अज्ञानान्धकारको नष्ट करके [पगासे] ज्ञानद्वारा तत्वोंको प्रकाशित करते थे ॥ ६ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीरकी प्रज्ञा ससारका मंगल कल्याण एवं रक्षा करनेवाली थी, उनका भ्रमण अप्रतिबद्ध था, क्योंकि वे सर्वथा परिग्रहसे रहित थे, उनका चरित्र ससार समुद्रसे पार करनेवाला था, परिषह-शत्रुओंका आक्रमण समान भावसे सहन करते थे, इसीसे धीर एवं धी-बुद्धिसे राजित-शोभित थे, अनन्त ज्ञेय पदार्थोंके ज्ञाता थे, इसीकारण अनन्त ज्ञान सहित थे, विश्वमें सबसे अधिक तप करते थे, और जिसप्रकार सूर्य अन्धकारको नष्ट करता है अथवा वैरोचन नामक अग्निके जलनेसे अन्धकार या काष्ठका नाश होता है उसी प्रकार महावीर भगवान् भी अज्ञान अन्धकार या कर्मकाष्ठके नाशक थे ॥ ६ ॥

भाषा-टीका—वीर भगवान्‌का ज्ञान चौथी भूमिकासे बढकर अनन्त—शुद्धिको प्राप्त होगया। यह अनन्तज्ञानमय ऐश्वर्य सर्व्वथा घातिया कर्म्म क्षयकरनेपर ही मिला। तब संसारके लिए आप मंगलभूत और रक्षक बने तथा आपका वायुकी समान अप्रतिबद्ध विचरणथा। आपने ससारके समुद्रको पार किया। उपदेश दान देकर औरोंको भी जन्म मरणसे मुक्त कर दिया, जिससे कहा जा सकता है कि-कर्मके समीपसे आप पार हुए। परिषह और उपसर्ग सहते समय किसी प्रकारका क्षोभ न होनेसे आप धीर थे। इसीके बाद आप अनन्त चक्षुवाले कहलाए। जिस तरह सूर्य उत्कृष्ट तापसे तपता है

उसी तरह महावीर भगवान्‌भी ज्ञानकी अनन्तताकी अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट थे। उस ज्ञानसे भगवान् जनताके अज्ञानान्धकारको अपहरण करके यथार्थ रीतिसे ज्ञानका आविर्भाव-प्रकट करनेवालोंमेंसे थे । प्रभुने अग्निकी तरह कर्म रूप ईंधनको भी जलाकर अनन्त संसारकी अज्ञान आत्माओंको प्रकट रीतिसे परिशुद्ध किया। और सूर्यकी सदृश भगवान् महावीर प्रभु अखिल विश्वमें अद्वितीय प्रसिद्धि प्राप्त महापुरुष थे। अधिकतर संसारमें उनदिनों प्रभुकी ज्ञान–कान्ति ही सब ओर चमक रही थी ॥ ६ ॥

गुजराती अनुवाद—वीर परमात्मानुं ज्ञान चोथी भूमिकाथी वधीने अनन्तताने प्राप्त थयु, कर्मोनो क्षय थवाथी भगवान् अनन्तज्ञानवाळा थया, त्यारे संसारना मगळ समान तेमज रक्षक तेओ थया, वायु समान अप्रतिबंध विहारी, संसार समुद्रने तारनार भगवान् हता, बीजाओने उपदेश दान करीने जन्म मरणथी मुक्त करावनार हता, परिषह तेमज उपसर्ग सहती वखते आपने कोई पण प्रकारनो क्षोभ न थवाना कारणे धीरजवान्, अनन्तज्ञानरूप चक्षुवाळा, तथा सूर्य जेम सर्वथी अधिक तपे छे, तेम प्रभु ज्ञाने करी सर्वोत्तम छे, विरोचन अग्नि जेम सळगवाथी प्रकाश करे तथा इन्द्रनी पेठे अन्धकारने दूर करी प्रकाश करे छे, तेम श्रीमहावीर देव पण अज्ञानरूप अन्धकार दूर करी प्रकाश करे छे, अग्निनी माफक कर्मरूप ईंधणने वाळी अनन्त संसारना अज्ञान आत्माओने प्रगट रीते परिशुद्ध कर्या, अने सूर्यनी पेठे प्रभु अखिल विश्वमा अद्वितीय प्रसिद्धिने पामेल महापुरुष हता, ते दिवसोमा प्रभुनी ज्ञान–कान्ति अधिकतर प्रकाशती हती ॥ ६ ॥

मूल

अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं,
णेया मुणी कासव आसुपण्णे;
इंदेव देवाण महाणुभावे,
सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे ॥ ७ ॥

संस्कृतच्छाया

अनुत्तरं धर्म्ममिमं जिनानां, नेता मुनिः काश्यप आशुप्रज्ञः ।
इन्द्र इव देवानां महानुभावः सहस्रनेता दिवि विशिष्टः ॥ ७ ॥

सं० टीका—अनुत्तरं० इति—अनुत्तरमुत्कृष्टं प्रधानं धर्म्मं जिनानामृषभादितीर्थंकृतां सम्बन्ध्ययं 'मुनिः, 'मनेरुच्चेत्युणादिसूत्रेणे प्रत्यये कृते चोपधोत्वे जाते 'मुनि'रिति सिद्धं, परंन्त्वत्र लघूपधगुणा-देशः प्राप्तस्तथापि तपरोच्चारणासामर्थ्यात् किदित्यनुवर्तनाच्च न भव-तीति भावः' । "वाचं यमो मुनिरित्यमरः" । "मुनिर्भिक्षुश्च संयमीति, कोषः" । श्रीज्ञातृपुत्रमहावीराख्यः सुमुनिः, काश्यपो=गोत्रेण, आशु-प्रज्ञः=केवलज्ञानी उत्पन्नदिव्यज्ञान इत्यर्थः । नेता,=प्रणेता चतुर्विधस्य संघस्य धर्म्मप्रणेता, चतुष्प्रकारधर्मोपदेष्टा दानशीलतपोभावभेदाद्वा । अथवा साधुसाध्वीश्राद्धश्राविकारूपचतुर्विधसंघस्य प्रभुत्वादपि नेता=नायकः । ताच्छीलिकस्तृन् । "अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽ-धिपः" इत्यमरः । धर्ममित्यत्र कर्म्मणि द्वितीयैव । ताच्छीलिकस्तृन् तद्योगे 'न लोकाव्ययनिष्ठेत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् । यथेन्द्रो दिवि=देव-लोके=स्वर्गे महानुभावो महाप्रभावः । एवमेव याथातथ्येन सम्यक्प्रकारेण अखिलद्रव्यपदार्थनिश्चयकर्ता महावीर इति । "अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चय इत्यमरः" । प्राकृतशैल्या णमिति वाक्यालंकारार्थे । सहस्रनेत्रो=विलक्षणसहस्रनयनयुक्तोऽसाविन्द्रः । विशिष्टो रूपबलव-र्णादिकैर्विशिष्टो युक्तो हि प्रधानस्तथैव भगवानपि सर्व्वेभ्योऽपि विशिष्टः प्रणायको महानुभावश्चेति सर्वं पूर्ववृत्तान्तं सयोज्यमिति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—[जिणाणं] जिन भगवान्‌के [णं] इस [अणुत्तर] सर्व श्रेष्ठ [धम्मं] धर्मके [णेया] नेता [मुणि] मुनि [कासव] काश्यप-गोत्रीय [महाणुभावे] महाप्रभावशाली भगवान् महावीर [दिवि] स्वर्गमें [सहस्स] हजारों [देवाण] देव समूहके [इंदे व] इन्द्रके समान [विसिट्ठे] रूप और गुण आदिमें सबसे उत्तम और प्रधान [णेता] नेता अर्थात् संपूर्ण ज्ञानयुक्त ईश्वर थे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिसप्रकार स्वर्गके समस्त देवोंमें इन्द्र, रूप-गुण और ऐश्वर्यादि गुणोमे प्रधान होता है उसी प्रकार महावीर भगवान् सब लोकोंमें उत्तम और प्रधान थे, आदिजिन प्रमुख पहले २३ तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित धर्मके नेता-प्रचारक थे, इस वचनसे उनकी भ्रमणा दूर होजाती है जो महावीर प्रभुको ही जैनधर्मका सस्थापक मानते है, परन्तु श्रीमहावीरदेव तो जैनधर्मके आद्य सस्थापक न होकर उनसे पूर्व होनेवाले २३ तीर्थंकरोद्वारा कथित धर्मके प्रचारकमात्र थे और उस प्रभुका गोत्र काश्यप था ॥ ७ ॥

भाषा-टीका—ये तरुण तपस्वी मुनि उत्कृष्ट और प्रधान धर्मका सरल और आत्माके लिए उन्नत मार्ग बतानेवाले थे। वह धर्म ऋषभादि २३ तीर्थंकरके बताए हुए धर्मसे भिन्न न था। हा कुछ देशकालके अनुसार सशोधन अवश्य किया था परन्तु आप जैन धर्मके आद्य प्रवर्तक न थे, [इससे वीर प्रभु जैन धर्मको फिरसे प्रचार करने वाले सिद्ध होते हैं इनसे पूर्व २३ तीर्थंकर और होगए हैं] प्रभु काश्यप गोत्रकी विमल विभूति थे। दिव्य ज्ञानको पाकर चतुर्विध सघके लिए धर्मपथ बतानेके नातेसे आप नेता भी थे। क्योंकि संघको आपने ही तो ज्ञान, दर्शन, चरित्र, अहिसा, तप, त्याग, संयम आदिमे प्रवृत्त किया था। अपनी भलाई और ससार की भलाई या कल्याणके अर्थ संघको दान, शील, तप, भाव ये धर्मके चार भेद बताए। तथा साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चार प्रकारके सघको स्थापन करके आपने उनको सगठनकी परम शक्ति का तत्व बताया था। इन्द्र का स्वर्गके देवों पर उसके महान् होनेके कारण महाप्रभाव है, उसी प्रकार पदार्थ विज्ञानका निश्चय प्रगट करने वाले तत्ववित्दोमे महावीर प्रभु ऐश्वर्य्य शाली थे। ससार और मोक्ष की गुत्थीको सुलझानेमें और सारभूत तत्वोंको प्रगट करनेमे प्रखरप्रकाशक थे। सात तत्व-नव पदार्थ-आदि महान् तथा गंभीर पदार्थों का सरल आशय जनतामे आपने ही निपुणतामे प्रगट किया। यथा शक्रेन्द्रके ५०० प्रधानो की दृष्टि उसीकी ओर रहती है जिस ओर इन्द्र की दृष्टि होती है। इसी तरह जिस अनेकान्त पथ पर आपकी दृष्टि जमी थी समारने उसी पथ का अनुसरण किया इस अपेक्षासे आपके भी सहस्रनेत्र थे। रूप, बल, वर्ण, वीर्य आदिमे आप सर्व्व प्रधान थे, मुनिगणरूपी सितारों मे आप मुनिचन्द्ररूपी ईश्वर थे ॥ ७ ॥

गुजराती अनुवाद—आ तरुण मुनिश्रेष्ठ उत्कृष्ट धर्मनो सरळ तेमज

आत्माने माटे उन्नत मार्ग बतावनार हता, ते धर्म ऋषभादि २३ तीर्थंकरोए बतावेल धर्मथी भिन्न न हतो, देश कालने अनुसार संशोधन अवश्य करेलुं हतुं, पण तेओ जैनधर्मना आदि प्रवर्तक न हता, ते प्रभु काश्यप गोत्रीय क्षत्रियोमानी विमल विभूति हता, दिव्य ज्ञान प्राप्त करीने चतुर्विध संघने धर्म पथ बतावनार होवाथी तेओ नेता पण हता, कारणके संघने तेओएज ज्ञान–दर्शन-चरित्र-अहिंसा-सत्य-तप-त्याग-संयमादिमां प्रवृत्त कर्यो हतो, संसारना कल्याणार्थे तेओए संघने दान-शील-तप-भाव एम धर्मना चार भेद बताव्या, साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप संघनी स्थापना करीने तेओए तेमने संगठननी परम शक्तिनुं तत्व बताव्युं हतुं, देवलोकने विषे इन्द्र जेम देवोमा महाप्रभावान्, हजारो देवोनो नायक अने सर्वोत्तम छे, तेम पदार्थ विज्ञाननो निश्चय प्रगट करवावाळा तत्ववेत्ताओमा महावीरप्रभु ऐश्वर्यशाळी हता, संसार अने मोक्ष तेमज सारभूत तत्वोने प्रगट करवामा प्रखर प्रकाशक हता। सात तत्व–नव पदार्थ आदि महान् तेमज गंभीर पदार्थोनो सरळ आशय निपुणताथी जनतामां तेओए प्रगट कर्यो हतो। जे तरफ इन्द्रनी दृष्टि रहे छे, तेज तरफ तेना ५०० प्रधानोनी नजर पण रहे छे, तेज रीते अनेकान्त पर तेओनी दृष्टि हती। तेज मार्गनुं संसारे पण अनुसरण कर्युं। जेथी तेओ पण सहस्रनेत्र गणाया। रूप-बल-वर्ण-वीर्य विगेरेमा तेओ सर्वोत्तम हता। मुनिगणरूपी ताराओमा तेओ मुनिचन्द्ररूप ईश्वर हता ॥ ७ ॥

मूल

से पन्नया अक्खयसागरे वा,
महोदही वा वि अणंतपारे।
अणाइले वा अकसायी मुक्के,
सक्केव देवाहिवई जुईमं ॥ ८ ॥

संस्कृतच्छाया

स प्रज्ञयाऽक्षयसागरो वा, महोदधिरिव अनन्तपारः।
अनाविलो वा अकषायी मुक्तः, शक्र इव देवाधिपतिर्द्युतिमान् ॥८॥

सं० टीका—स इति, पुनरसौ भगवान् प्रज्ञयाऽक्षयोऽक्षीणज्ञानः, प्रज्ञायत अनयेति प्रज्ञा तयाऽक्षयो, ज्ञातव्येऽर्थे तस्य बुद्धिर्न प्रक्षीयते

न प्रतिहन्यते वेति, "बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञेत्यमरः" । अथवा तस्य बुद्धि केवलज्ञानाख्या सा साद्यनन्ता-साद्यपर्य्यवसाना कालतो, द्रव्यक्षेत्रभावापेक्षयाऽप्यनन्ता तयाऽक्षयः, यथा सागरो महोदधिः स्वयंभूरमणः समुद्रः स इवानन्तपारः । यथासौ विस्तीर्णो गंभीरजलोऽक्षोभ्यस्तथैव तस्य भगवतो विस्तीर्णा प्रज्ञाऽनन्तप्रज्ञा, स्वयंभूरमणसमुद्रादनन्तगुणितो गंभीरोऽक्षोभ्यश्च, अनाविलोऽकलुषजलः, "कलुषोऽनच्छ आविल इत्यमरः" । नाविलोऽनाविलो निर्मलस्तथैव कर्म्मलेशाभावादकलुषज्ञानो निर्मलज्ञान इति । न कषायी-अकषायी ज्ञानावरणीयादिकर्म्मबन्धनवियुक्तत्वात् । मुक्तःकर्मरहितोऽपुनरावृत्तिं प्राप्तः । सर्वलोके पूज्यत्वेऽपि, निश्शेषान्तरायक्षयेऽपि निरवद्यभिक्षामात्रोपजीवित्वाद्भिक्षुः । पुनश्च स ज्ञातपुत्रीयो महावीरो भगवान् दीप्तिमान्, शक्र इव देवाधिपतिरिव कान्तिमानिति, "शक्र इन्द्रः सुनासीरः शतक्रतुरिति धनञ्जयः" । "जिष्णुर्लेखर्षभः शक्र इत्यमरः" ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—[से] वे भगवान् महावीर [पन्नया] बुद्धिकी अपेक्षा अनन्तपारवाले तथा [अणाइले] पवित्र जलसे भरपूर [महोदहीवावि] स्वयम्भूरमण समुद्रकी तरह [अक्खयसायरे] अक्षीण समुद्र थे तथा [अकसाइ] चार कषायसे रहित [मुक्के] आठ कर्मोसे रहित [देवाहिवइ] असख्य देवोंके अधिपति [सक्केव] इन्द्रकी तरह [जुईमं] दीप्तिमान्-चमकीले थे ॥ ८ ॥

भावार्थ—भगवानको किसी अन्य पदार्थसे उपमा न दी जा सकनेके कारण समुद्रसे हि एक देशीय उपमा दी गई है । अर्थात् जिसप्रकार स्वयंभूरमणसमुद्र अनन्तपार युक्त है उसी प्रकार भगवान् भी द्रव्य क्षेत्र-काल और भावकी अपेक्षा अनन्त ज्ञानवान् थे, समुद्रके निर्मल जलके समान उनका ज्ञान भी स्पष्ट और आवरण रहित था, इसी प्रकार कषायसे रहित तथा आठ कर्मोंके बंधसे मुक्त थे, जैसे इन्द्रका प्रभाव देवोपर होताहै उसी प्रकार प्रभुका प्रभाव भी प्राणीमात्र पर था ॥ ८ ॥

भाषा-टीका—प्रभुका ज्ञान कोष अक्षय था, क्योंकि उनकी बुद्धि भी केवलज्ञानरूपा थी। जो कि आदि-अनन्त थी। जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी पूर्ण अनन्तता थी। विस्तीर्ण और स्वच्छ तथा गंभीर स्वयम्भूरमण समुद्र की सदृश प्रभु गंभीर तथा अक्षोभ्य और पवित्र गुणोंमे उससे भी अनन्तगुण अधिक थे। आपका अनुभव, विचार तथा ज्ञान जल अनाविल—यानी कालुष्यता—पूर्वापर विरोधरहित था, जिसमे कर्म मलका लेश कोई खोजेसे भी न पा सके। ज्ञानावरणीयादिक आठ कर्म-बन्धनसे रहित होनेके कारण आपमे कषाय कहा हो। इसीसे आप जीवन मुक्त थे। आप तीनों लोकोंके पूज्य होने पर भी निरवद्य भिक्षा लेते। आप शूरवीर शक्रेंद्रकी तरह द्युतिमान् और प्रतापी—महापुरुष थे। और यह बात विश्व विख्यात थी ॥ ८ ॥

गुजराती अनुवाद—प्रभुनो ज्ञान भण्डार अखूट हतो, कारणके तेमनी बुद्धि पण केवलज्ञान रूपे हती, जे आदि-अनन्त हती। जेम स्वयंभूरमण नामे मोटो समुद्र अनन्त—अपार अने निर्मल जलवाळो छे, तेमज प्रभु गभीर-अक्षोभ्य-अने पवित्र गुणोमा तेनाथी पण अनन्तगणा अधिक हता। तेओनुं अनुभव—विचार तथा ज्ञान जल अत्यन्त निर्मल हतु। शोधवा छता पण कर्मरूप मेल तेमा मळी शके नहि। ज्ञानावरणीयादिक कर्मबन्धनथी रहित थवाने कारणे तेओ अकषायी=कषाय रहित हता। तेथी आप जीवन्मुक्त हता, त्रिलोक पूज्य होवा छता आप निरवद्य भिक्षाए आजीविका करनार हता। देवोना स्वामी शक्रेन्द्रनी पेठे तेओ तेजस्वी तथा अनन्त प्रतापी अने महापुरुष हता ॥ ८ ॥

मूल

से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए,
सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे।
सुरालए वासि मुदागरे से,
विरायए णेगगुणोववेए ॥ ९ ॥

संस्कृतच्छाया

स वीर्येण प्रतिपूर्णवीर्यः, सुदर्शन इव नगसर्वश्रेष्ठः।
सुरालयवासिमुदाकरः स, विराजतेऽनेकगुणोपपेतः ॥ ९ ॥

सं० टीका—स इति, वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षीणत्वात् स भगवान् वीरो वीर्येणौरसेन धृतसहननादिबलेन प्रतिपूर्णवीर्यः, अनन्तशक्तिमानित्यर्थः । अथवोत्कर्षवत्तया प्रतिपूर्णप्रभाववान् अथवा सर्वशक्तिमान् । "सवीर्यमतिशक्तिभाक्" इति । "वीर्य बले प्रभावे चेत्यमरः" । नगानां पर्वतानां मध्ये यथा, "शैलवृक्षौ नगावगावित्यमरः" "नगः शिलोच्चयोऽद्रिश्च शिखरीति धनंजयः" । सुदर्शनो मेरुः केवलकल्प्यजंम्बूद्वीपमध्ये श्रेष्ठस्तथैव गुणैर्भगवान् श्रेष्ठः । यथा सुरालय. स्वर्गस्तन्निवासिनां देवानां मुदाकरो हर्षकर आनन्दजनको मनोऽनोकूलवर्णगंधरसस्पर्शप्रभावादिगुणै राजते । एवं भगवानप्यनन्तगुणैः शोभते, विराजतेऽनेकैर्गुणैरुपेतो भगवान् वीर इति ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—[से] वे भगवान् [वीरिएण] बल-वीर्यसे [पडिपुण्णवीरिए] प्रतिपूर्ण शक्तिवाले थे, तथा [वा] जिसप्रकार [सुदंसणे] सुमेरु पर्व्वत [णगसव्वसेट्ठे] सब पहाडोंमे अवलोकनीय और महान् एवं श्रेष्ठ है, उसी प्रकार महावीर प्रभु भी सर्वश्रेष्ठ थे, और सुमेरु पर्व्वत जिसप्रकार [सुरालएवासिमुदागरे] देवोंको प्रसन्नता उत्पादक होता है उसी प्रकार भगवान् सब प्राणीवर्गकेलिए हर्षदायक थे, तथा जैसे सुमेरु [णेगगुणोववेए] अनेक गुणोंसे शोभित है वैसेही भगवान् भी अनन्त उत्तमोत्तम गुणोंसे समलङ्कृत थे ॥ ९ ॥

भावार्थ—भगवान्का वीर्यान्तराय कर्म्म बिल्कुल नष्ट हो गया था, अतएव उनमे अनन्तवीर्य-अनन्त बलका प्रादुर्भाव हो गया था, जैसे सुमेरु-पर्व्वत सब पहाडोंमे श्रेष्ठ है उच्च है उसी प्रकार भगवान् भी शक्ति आदि गुणोंमे उच्च और सर्वश्रेष्ठ थे । तथा जिस प्रकार स्वर्ग देवोंकेलिए हर्षोत्पादक है उसी प्रकार सुमेरु भी हर्ष जनक है वैसे ही भगवान् भी प्राणीमात्रकेलिए हर्षको उत्पन्न करनेवाले थे । सुमेरु जैसे अनेक गुणोंसे—सुनहरी रग और चन्दनादि गन्ध तथा उत्तम फलोंसे शोभित होता है, भगवान् भी ज्ञान-शक्ति-सुखादि गुणोंसे विराजमान थे ॥ ९ ॥

भाषा-टीका—वीर्य्यान्तरायका सर्व्वथा क्षय होनेसे भगवान् अनन्त शक्तिमान् और धैर्य्य, शौर्य्य, सहिष्णुतादि शारीरिक बलसे बलिष्ट थे,

प्रतिष्ठाशालिओं में भगवान् अद्वितीय प्रभाववाले थे। जहां जीवोंको केवलज्ञान प्राप्त होता है उस जम्बूद्वीपके मध्यमें जिस प्रकार सुमेरु पर्व्वत दृढ, अचल, और श्रेष्ठ है इसी प्रकार प्रभुकी वाणी भी अनेकान्त रूप सकल श्रेष्ठ है तथा वे स्वयं भी पर्व्वतकी तरह दृढ थे। सुमेरुपर्वत स्वर्गवासिओंको वडा सुहावना लगता है और हर्ष पैदा करता है इसी भान्ति प्रभु भी ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति आदिक अनन्त गुणोंसे युक्त और भव्य आत्माओंके लिए अनुपम आनन्ददायक थे ॥ ९ ॥

गुजराती अनुवाद—वीर्यान्तरायनो सर्वथा नाश थवाथी भगवान् अनन्त-शक्तिमान् हता, तेमज धैर्य-शौर्य-सहिष्णुतादि शारीरिक वले करी प्रतिपूर्ण वलवान् हता। प्रतिष्ठा शालिओमा भगवान् अद्वितीय प्रभाव वाळा हता, ज्या जीवोने केवलज्ञान प्राप्त थाय छे ते जवूद्वीपमा मेरु पर्वत जेम दृढ-अचल-अने श्रेष्ठ छे, तेम भगवान् पण वीर्यादिक गुणे करी श्रेष्ठ तथा दृढ हता। मेरु पर्वत जेम स्वर्गवासी देवोने हर्ष उत्पन्न करे छे तथा अनेक गुणोए करी शोभित छे, तेमज प्रभु पण ज्ञान-दर्शन-सुख अने शक्ति आदिक अनन्त गुणोए करी शोभे छे, तेमज भव्यात्माओने आनन्द प्रद छे ॥ ९ ॥

मूल

सयं सहस्साण उ जोयणाणं,
तिकंडगे पंडगवेजयंते।
से जोयणे णवणवति सहस्से,
उद्धुस्सितो हेट्ठ सहस्समेगं ॥ १० ॥

संस्कृतच्छाया

शतं सहस्राणां तु योजनानाम्, त्रिकण्डकः पण्डकवैजयन्तः।
स योजने नवनवतिसहस्रे ऊर्ध्वोच्छ्रितोऽधः सहस्रमेकम् ॥१०॥

सं० टीका—पुनश्चापि मेरुवर्णनायाह, 'सयं इति,' स सुमेरुर्यो-जनसहस्राणां शतमुच्छ्रितोऽस्ति "मेरुः सुमेरुर्हेमाद्रि रत्नसानु सुरालयः इत्यमरः।" तथा त्रीणि कण्डकानि यस्य स त्रिकण्डकः। भौमं-

जाम्बूनदं–वैदूर्यं चेति भेदात्। स किं भूत:, पण्डकवैजयन्तः,=पण्डकवनं शिरसि व्यवस्थितं, वैजयन्तीकल्पं पताकाभूतं यस्य स तथोक्तः। “पताका वैजयन्ती स्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियामित्यमरः”। असौ मेरुर्नवनवतिसहस्रे योजने ऊर्ध्वोच्छ्रितः=भूतलादुपरि प्रवृद्ध उन्नतो वा “उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्ग” इति, “जातोन्नद्ध प्रवृद्धाः स्युरुच्छ्रिता इति चामरः”। अधः=भूमेरधस्ताद्देशे एकं सहस्रं योजनमवगाढ इत्यर्थः। एकसहस्रोनलक्षयोजनं पृथिवीत ऊर्ध्वं, सहस्रमेकं च योजनं भूमाविति भावः॥ १०॥

अन्वयार्थ—[से] वह सुमेरु पर्वत [सयं सहस्साण] एक लाख [जोयणाणं] योजनका है, [तिकंडगे] उसके तीन भाग हैं, [पंडगवेजयंते] पण्डक वन जिसकी ध्वजाके समान है, तथा [णवणवते] ९९ निनानवे [सहस्से] हजार [जोयणे] योजन [उद्धुस्सिते] ऊचा है, और [एग] एक [सहस्स] हजार योजन [हेट्ठ] बनियादमें नीचा है॥ १०॥

सुमेरु की भांति विशाल और महान् हैं, तथा तीनों लोकके भव्यप्राणिओंके मन-वचन-काय योगमें समाविष्ट—ओत-प्रोत हैं ॥ १० ॥

गुजराती अनुवाद—ते मेरु पर्वत उंचाइमा एक लाख योजननो छे, तेना एक भूमिमय, बीजो सुवर्ण मय अने त्रीजो वैडूर्य रत्न मय एवा त्रण कांड (भाग) छे, तथा ते मेरु पर्वतनी टोच ऊपर पंडग वन ध्वजानी माफक शोभी रह्युं छे। ते मेरु पर्व्वत नवाणुं हजार योजन ऊंचो अने एक हजार योजन नीचे जमीनमा छे। तेना त्रणे भाग त्रणे लोकमा अवकाश प्राप्त छे। तेवीज रीते प्रभुना बतावेला ज्ञान-दर्शन-चरित्र रूपी त्रणे रत्न सुमेरुनी पेठे विशाल छे, अने त्रणे लोकना भव्योना मन-वचन-काय मा सम्पूर्ण रीतिथी समाविष्ट छे ॥ १० ॥

मूल

पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए,
जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति।
से हेमवन्ने बहुनंदणे य,
जंसि रइं वेदयती महिंदा ॥ ११ ॥

संस्कृतच्छाया

स्पृष्टो नभसि तिष्ठति भूम्यवस्थितः,
यं सूर्याः अनुपरिवर्तयन्ति।
स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च,
यस्मिन् रतिं वेदयन्ति महेन्द्राः ॥ ११ ॥

सं० टीका—स्पृष्ट सलग्नो नभस्याकाशेऽथवा नभो व्याप्य तिष्ठति स मेरुः, "स्पृष्टि पृक्तावित्यमर"। तथैव भूमिं पृथिवीं चावगाह्य स्थितः। ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् सस्पर्शीति भाव। यथा च यं मेरुं सूर्यादयो ज्योतिष्का अंगारकादिग्रहा अप्यनुवर्तयन्ति यस्य पार्श्वतः परिभ्रमन्तीत्यर्थः। हेमवर्णो वा कनकाभो निष्टप्तकाञ्चनसदृशस्तथा बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवनः। भूमौ तु भद्रशालवन ततः पञ्चयोजनशतान्यारह्यातिक्रम्योहृध्य मेखलायां शैल-

नितम्बदेशे मध्यभाग इत्यर्थः । "मेखला खड्गबन्धे स्यात्काञ्ची शैल-नितम्बयोरिति मेदिनीकोशः" । नन्दनवनमायाति । तथा द्विषष्टि-योजनसहस्राण्यधिकान्यतिक्रम्य सौमनसवनम् । ततः षट् त्रिंशत्सह-स्राण्यारुह्योल्लंघ्य शिखरे पण्डकवनमिति मेरोश्चत्वारि वनानि । यस्मिन् मेरौ महेन्द्रा त्रिदशालयात् स्वर्गात्समागत्य रमणीयतमशब्दादिगुणेन रतिं रमणक्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्ति । अतश्चतुर्नन्दनवनाद्युपेतो विचि-त्रक्रीडास्थलसमन्वितः स मेरुः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह सुमेरु [णभे] आकाश को [पुट्ठे] छूकर [चिट्ठइ] ठहरा हुआ है, तथा [भूमिवट्ठिए] भूमिको छूकर स्थित है, [ज] जिसकी [सूरिया] सूर्य [अणुपरिवट्टयंति] प्रदक्षिणा करते हैं, और जो [हेम-वन्ने] सोनेके समान परम कान्ति युक्त है, जिसमें [बहु] बहुत अर्थात् चार [नंदणे] नन्दनादि वन हैं [जसी] तथा जिसमें [महिंदा] महेन्द्र आकर [रतिं] सुखका [वेदयती] अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—वह सुमेरु पर्वत ऊपरके भागमें आकाशको व्याप्त करके तथा नीचे भूमिको स्पर्श करके स्थित है, इसलिए वह ऊर्ध्वलोक-अधोलोक और तिर्यक् लोकको स्पर्श करता है । ज्योतिष्क विमान उसकी प्रदक्षिणा करते हैं । उसका रग सुवर्णकी तरह पीला है । उसके ऊपर चार वन हैं, समान भूमिमें भद्रशाल वन है, उसके पाचसो योजन ऊपर नन्दन वन है, उसके वासठ हजार योजन ऊपर सौमनस वन है, उससे छत्तिस हजार योजन ऊपर पाण्डुक वन है, इस प्रकार वह अनेक क्रीडास्थलोंसे युक्त है, और उसमें देव तथा देवेन्द्र आकर रति-क्रीडाका अनुभव करते है ॥ ११ ॥

भाषा-टीका—उस सुमेरु पर्वतने ऊर्ध्व लोक-अधोलोक और मनुष्य-लोक इस प्रकार तीनों लोकोंके आकाशको छू लिया है । जिसकी तगडीकी जगह सूर्य चाद तथा ग्रहगण चारों ओर परिक्रमा देते रहते हैं । तब वह तपे हुए सोनेकी तरह चमचमाट करने लगता है । उसके चारो ओर के बहुतसे वनोंमें चार मुख्य सुन्दर वन हैं । और प्रथम समतल भूमि पर भद्रशाल वन है । उस जगहसे ५०० योजन ऊपर जानेसे मानो उसकी तगडीकी

जगह नन्दन वन आता है। उससे ६२००० योजन ऊपर सौमनस वन है। उससे ३६००० योजन ऊपर शिखरके पास पंडकवन है। ये सुमेरुके चार सघन वन हैं। यहां पर बडे २ महेन्द्र और देव गण आकर मनोहर खेल कूद करते हैं। उसका सौन्दर्य्य निहारनेके लिए स्वर्गसे चल कर आते हैं। इसी भाति भगवान् भी सुवर्णके रंग जैसे सुन्दर हैं। इनके पास ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप तथा तत्व, पदार्थ, नय, निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल हैं, जिनमें आत्माका अनुपम आनन्द आता है। और इस क्रीडास्थली पर भव्य जन स्वावलम्नी होकर सहजानन्द लूटते हैं ॥ ११ ॥

गुजराती अनुवाद—ते मेरु पर्व्वत ऊर्ध्व दिशामा आकाशने स्पर्शी रह्यो छे, एटले ऊर्ध्वलोक–अधोलोक अने मनुष्यलोकने स्पर्शी रह्यो छे, जे मेरु पर्व्वतनी आसपास सूर्यप्रमुख ज्योतिषी-देवो प्रदक्षिणा करी रह्या छे। ते मेरु-पर्वत सुवर्णना जेवी कान्तिवाळो छे। तेनी चारे बाजुए घणा वनोमां चार मुख्य सुंदर वन छे। समतल भूमिपर भद्रशाल वन छे, त्यांथी ५०० योजन ऊपर जता नन्दनवन आवे छे, त्यांथी ६२००० योजन ऊंचे सौमनस वन छे। त्यांथी ३६००० योजन ऊंचे शिखरनी पासे पंडकवन छे। मेरु पर्व्वतना आ चार नन्दनवनमां मोटा इन्द्रो पण आवीने इच्छानुसार मनोहर क्रीडा करे छे। तेनुं मनोमोहक सौन्दर्य जोवाने स्वर्गमां थी आवे छे। ते रीते भगवान् महावीर प्रभु पण सुवर्ण समान सुदर छे। तेमनी पासे ज्ञान-दर्शन-चरित्र तथा तप तेमज तत्व-पदार्थ-नय-निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल छे। जेमा आत्माने आनन्द आवे छे। तेमज ते क्रीडा स्थल पर भव्य जनो स्वावलम्नी बनीने सहजानन्द लूटे छे ॥ ११ ॥

मूल

से पव्वए सद्दमहप्पगासे,
विरायई कंचणमट्टवन्ने।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे,
गिरिवरे से जलिएव भोमे ॥ १२ ॥

संस्कृतच्छाया

स पर्व्वतः शब्दमहाप्रकाशो, विराजते कञ्चनमृष्टवर्णः ।
अनुत्तरो गिरिषु च पर्व्वदुर्गो, गिरिवरः स ज्वलित इव भौमः ॥१२॥

सं० टीका—स मेरुनामापर्वतः सुदर्शनः शोभनदर्शनः सुगिरिर्मन्दरो हेमाद्रिरित्यादिभिःशब्दैःपर्यायवाचकैर्महान् प्रकाशः प्रसिद्धिमानीतः । "प्रकाशोऽतिप्रसिद्धेऽपीत्यमरः" । यः, स शब्दमहाप्रकाशो विराजते=शोभते, वा सुरासुरकिन्नरादिगन्धर्वगायनशब्दैर्महाप्रकाशो दीप्यमानः । काञ्चनस्येव मृष्टः शुद्धो, "निर्णिक्तं शोधितं मृष्टं निश्शोध्यमनवस्करमित्यमरः" । वर्णो यस्य स काञ्चनमृष्टवर्णः । अनुत्तरः प्रधानस्तथा गिरिषु पर्वतेषु मध्ये पर्व्वभिर्मेखलादिभिः सन्धिभिर्वा "पर्व क्लीवं महे ग्रन्थौ, प्रस्तावे लक्षणान्तरे, दर्शः प्रतिपदोः सन्धाविति मेदिनी कोषः" । अथवा च दंष्ट्रापर्वतैर्वा दुर्गो दुर्गमः, "दुर्गो मानिल्योः स्त्री दुर्गमे त्रिष्विति मेदिनी" । सामान्यप्राणिनां दुरारोहो गिरिरिति भावः । स गिरिवरः पर्वतप्रधानो मणिभिरौपधिभिश्च ज्वलितो दीप्यमानो भौम इव मंगलग्रह इवाथवा भूदेश इवेति भावः । "भौमः कुजे च नरके पुंसि भूमिभवे त्रिष्विति मेदिनी" ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह [पव्वए] सुमेरु पर्वत [सद्दमहप्पगासे] अनेक सुशब्दोंसे गूंजता है, तथा [कंचणमट्ठवन्ने] सोनेकी तरह पीले वर्णसे [विरायई] शोभा प्राप्त है, [गिरिसु] सब पर्वतोंमें वह [अणुत्तरे] सर्व्वश्रेष्ठ है, [पव्वदुग्गे] वह पर्वत मेखला आदिके कारण दुर्गम है, और [से] वह [गिरिवरे] सबमें प्रधान सुमेरु [भोमे व] मंगल ग्रह तथा पृथ्वीकी तरह [जलिए] कान्तियुक्त है ॥ १२ ॥

भावार्थ—शब्दका स्वभाव गूंजनेकाहै, छोटे पर्वत और गुंबदोंमें आवाज करनेपर उसमें प्रतिध्वनि हो उठती है और वह पहली आवाजसे भी

अधिक गंभीर होती है, इसीप्रकार सुमेरु पर्वत देवोंका क्रीडास्थल है और वह भी उनकी प्रतिध्वनिओंसे गूंज उठता है तथा वह गूंज सबसे प्रबल है; इसी प्रकार महावीर-परमात्माकी दिव्यध्वनि सबसे प्रबल और जोरदार है, यही कारण है कि—भगवान्के सदुपदेशका प्रभाव अमिट और शीघ्र होता है। पर्वतके सुनहरी रंगके समान प्रभुका पीतवर्ण युक्त शरीर दर्शनीय और मनोहर था। जिस-प्रकार सुमेरुपर चढना कठिन है उसीप्रकार भगवान्की सर्वज्ञताको जीतना भी दुष्कर है॥ १२ ॥

भाषा-टीका—वह सुमेरु पर्व्वत अधिराज है, दर्शनमें सौन्दर्य्यशाली है। बुद्धिमान् अच्छी २ शब्दोपमाएँ देकर प्रख्यात कर चुके हैं। जिसपर गान्धर्वोंका मनोमोहक गायन होता है, सोनेसे लीप पोत कर मानो अभी शुद्ध किया गया है इसीसे सब पर्व्वतों में उसे प्रधानता दी गई है, उसकी उंचाई और अधिक सन्धियोंके कारण उसपर मनुष्योंको पैरोंसे चढना सास तोडने जैसा है। अत सामान्य प्राणी उसे चढ कर पार नहीं पासकते। इसी लिए उसे प्रधानता दी गई है। उस पर मणिमाणिक्य जैसे बहुमूल्य रत्न और कई अलौकिक जडी बूटिया मंगलप्रद की तरह चमकती हैं। इसी भाति वीर भगवान्का दर्शन अनेकान्त है, परम सुन्दर है। जिसकी अकाट्य तर्कमयता प्रसिद्ध है। जिसकी गौतम जैसे दार्शनिकोंने प्रशंसा की है। उस दर्शनका सुन्दर वर्ण अर्थात् शब्दों में निर्माण हुआ है। तथा वह सब दर्शनोंमें प्रधान है। साधारण तथा अनुभव शून्य मानवोंके लिए अगम्य और दुरारोह है। जिनकी २८ लब्धिरूप औषधिओंकी चमक विलक्षण है। जो धर्मकी प्रभावनारूप आरोग्यता प्रदानकरनेके अर्थ काममें लाई जाती हैं। इसीसे दुराग्रहरूपी रोग शान्त होवे है॥ १२ ॥

गुजराती अनुवाद—वळी ते मेरु पर्व्वत मंदर १, मेरु २, मनोरम ३, सुदर्शन ४, स्वयंप्रभ ५, गिरिराज ६, रत्नोच्चय ७, शिलोच्चय ८, लोकमध्य ९, लोकनाभि १०, रत्न ११, सूर्यावर्त १२, सूर्यवरण १३, उत्तम १४, दिगादि १५ अने अवतंस १६, ए सोळ नामे करी महा प्रकाश (प्रसिद्ध) थाय थई शोभे छे। जेना पर गान्धर्वोना मनोमोहक गायनो थाय छे। सुवर्णनी पेठे शुद्ध वर्णवाळो सर्व पर्वतोमां प्रधान छे। तेनी उंचाई अने अधिक सांधिओने लीधे मनुष्योने माटे तेना पर चढवुं पण अशक्य छे। वळी ते गिरिराज नहि

अने औषधिओए करी देदीप्यमान छे, तेज रीते वीर भगवाननुं अनेकान्त दर्शन परम सुंदर अने मनोहर छे । जेनी अकाट्य तर्कमगता प्रसिद्ध छे । जेनी गौतम जेवा दार्शनिकोए पण प्रशंसा करेली छे । ते दर्शननुं सुन्दर वर्ण अर्थात् शब्दोमा निर्माण थएलु छे । तथा ते सर्व दर्शनोमा प्रधान अने सर्वोत्तम छे । साधारण तथा अनुभव शून्य मनुष्योने माटे अगम्य तथा अति दुरारोह छे । जेनी २८ लब्धिरुप औपधिओनी चमक सहुथी विलक्षण छे । के जे धर्मनी प्रभावना करवामा उपयोगमा लाववामा आवे छे । तेनाथी दुराग्रह रोग जडमुळथी नष्ट थईने शान्त थई जाय छे ॥ १२ ॥

मूल

महीइ मज्झंमि ठिते णागिंदे,
पन्नायते सूरियसुद्धलेस्से;
एवं सिरीए उ स भूरिवण्णे,
मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥ १३ ॥

संस्कृतच्छाया

मह्यां मध्ये स्थितो नगेन्द्रः, प्रज्ञायते सूर्यवच्छुद्धलेश्यः ।
एवं श्रिया तु स भूरिवर्णः, मनोरमो द्योतयत्यार्चिमाली ॥१३॥

सं० टीका—मह्यां मध्यदेशेऽन्तर्भागे यो जम्बूद्वीपस्तस्यापि बहुमध्यप्रदेशे स नगेन्द्रः स्थितः । पुनश्च सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवंतदंष्ट्रापर्वतचतुष्टयोपशोभितः समभूभागे दशसहस्रयोजनविस्तीर्णः, शिरसि सहस्रमेकमधस्तादपि दशसहस्राणि नवति योजनानि योजनैकदेशभागैर्दशभिर्भागैरधिकानि विस्तीर्णश्चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रितचूडोपशोभितो नगेन्द्रः पर्वतप्रधानो मेरुः । प्रकर्षवत्तया जगति सूर्यवच्छुद्धलेश्यो निर्मलकान्तिः सूर्यसमप्रभ इति । एवमनन्तरोक्तया श्रिया तु शब्दाद्विशिष्टतरया कान्त्या स मेरुर्भूरिवर्णोऽनेकवर्णोऽनेकरंगाद्युपेतः

संस्कृतच्छाया

सुदर्शनस्येव यशो गिरेः, प्रोच्यते महतः पर्व्वतस्य ।
एतदुपमः श्रमणो ज्ञातपुत्रो, जातियशोदर्शनज्ञानशीलः ॥ १४ ॥

सं० टीका—भगवतो वीरस्यैतद्यशः कीर्तनं महतः पर्वतस्य सुदर्शनस्य मेरोर्गिरेरिव प्रोच्यते, महतः पर्व्वतस्यैतदुपम एतत्तुल्यः । साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते । एषः=अनन्तरोक्तमेरुगिरिरित्यर्थः, उपमा=उपमानं सादृश्यप्रतियोगी यस्य स एतदुपमः । कः । श्राम्यति=तपस्यतीति श्रमणः । तपोनिष्टप्तदेहो ज्ञातपुत्रः श्रीमहावीरप्रभुर्जात्या="जातिर्जातं च सामान्यमित्यमरः ।" यशसा=कीर्त्या "यशः कीर्तिः समज्ञाचेत्यमरः ।" सकलदर्शनज्ञानचरित्रवतांमध्ये श्रेष्ठः प्रधानः । जात्यादीनां कृतद्वन्द्वानामतिशायने 'अर्श आदित्वादच्' प्रत्ययविधानेनाक्षरघटना विधेयेति भावः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—[महतो] महान् [पव्वयस्स] पर्वत [सुदंसणस्सेव] सुदर्शन [गिरिस्स] मेरु पर्वतका [जसो] यश कीर्ति जैसे प्रतिपादित है उसीप्रकार [पवुच्चइ] भगवान्की कीर्ति करते हैं [एतोवमे] पूर्वकथित उपमासे अलङ्कृत [समणे] श्रमण [नायपुत्ते] ज्ञातपुत्र-महावीर भगवान् [जाइजसोदंसणनाणसीले] जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शीलमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भावार्थ—भगवान्की एक देशीय उपमा तो सुमेरु पर्वतसे दीगई, और इसी प्रसंगको लेकर सुमेरुका यशोगायन कियाहै, और अब फिर उपमेयरूप-भगवान् महावीरका वर्णन करते हैं । वे ज्ञात वंशके क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न भगवान् समस्त जातिवालोंमें और अखिल यशस्वियोंमें, समस्त ज्ञानियोंमें तथा दर्शनवालोंमें और सब चारित्रनिष्ठोंमें श्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भाषा-टीका—भगवान् वीरका यश सुमेरुकी तरह महान् था, यह उपमा उनके ही ऊपर भलि भांति घटती है । वे श्रमण थे, तपसे शरीरको सोनेकी तरह तपा डाला था, ज्ञात वंशके क्षत्रिय पुत्र थे । जिनकी जाति-यश कीर्ति-समस्त ज्ञान, दर्शन और चारित्र समन्वित है । श्रेष्ठतर तथा प्रधानतर है ॥१४॥

भगवान्का शरीर भी प्रभाशाली था, वे अज्ञानान्धकारके नाशक थे, भगवान्का शरीर स्वयं प्रकाशित था, तथा औरोंको ज्ञान का प्रकाश भी देता था ॥ १३ ॥

भाषा-टीका—पृथ्वीके विचले प्रदेशमें जम्बूद्वीपके मध्यस्थलमें यह मेरु पर्व्वत समस्त पहाड़ोंके राजाकी तरह स्थित है । सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवन्त इन चार दाढापर्व्वतोंसे वह बड़ा मनोहर लगता है, वह पृथ्वीके सम भाग में दशहजार योजन विस्तीर्ण है, ग्यारह २ हजार योजन पर एक २ हजार योजन घट कर शिखर पर एक हजार योजन रह जाता है । वह जगत्में सूर्यकी तरह शुद्ध कान्ति और निर्म्मल आकृति युक्त है । और जिसमें अनेक वहु मूल्य धातु और उत्तमरत्न पाए जाते हैं ।

वीर पक्षमें—सोनेकी तरह जिनके शरीरकी चमक दमक है । जिनके गुण चान्दकी तरह स्वच्छ हैं । जिनकी स्तुतिएँ महती हैं । जिन्हें अपुनरावृत्ति रूप अक्षर—मोक्ष प्राप्त है । जिनका सत्सग अनन्त सुख दाता है । सुमेरुकी तरह मनोरम हैं, जो सूर्यकी किरणोंकी तरह तेजस्वी हैं ॥ १३ ॥

गुजराती अनुवाद—पृथ्वीना मध्य भागमा सर्व पर्व्वतोनो इन्द्र मेरु पर्व्वत सूर्यनी पेठे शुद्ध कान्ति अने निर्मल आकृतिवाळो छे । सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवान, ए चार दाढाओथी पर्वत वहु सुन्दर देखाय छे । ते पृथ्वीना समभागमा १०००० योजन पहोळो छे । अग्यार अग्यार हजार योजन पर एक एक हजार योजन घटता शिखर पर एक हजार योजन पहोळो छे । तेमा अनेक वहुमूल्य धातुओ एवं रत्नो मळी आवे छे । वीर पक्षे—

सुवर्णसमान जेना शरीरनी शोभा छे, जेना गुणो चन्द्रमानी पेठे स्वच्छ छे । जेणे अपुनरावृत्तिरूप अक्षर—मोक्ष प्राप्त करेल छे, जेमनो सत्संग अनन्त सुख दाता छे । सुमेरु नी पेठे जे मनोहर छे, ने सूर्यना किरण समान तेजस्वी छे ॥ १३ ॥

मूल

सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स,
पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते,
जाईजसोदंसणनाणसीले ॥ १४ ॥

संस्कृतच्छाया

सुदर्शनस्येव यशो गिरेः, प्रोच्यते महतः पर्व्वतस्य ।
एतदुपमः श्रमणो ज्ञातपुत्रो, जातियशोदर्शनज्ञानशीलः ॥ १४ ॥

सं० टीका—भगवतो वीरस्यैतद्यशः कीर्तनं महतः पर्वतस्य सुदर्शनस्य मेरोर्गिरेरिव प्रोच्यते, महतः पर्व्वतस्यैतदुपम एतत्तुल्यः । साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते । एषः=अनन्तरोक्तमेरुगिरिरित्यर्थः, उपमा=उपमानं सादृश्यप्रतियोगी यस्य स एतदुपमः । कः । श्राम्यति=तपस्यतीति श्रमणः । तपोनिष्टप्तदेहो ज्ञातपुत्रः श्रीमहावीरप्रभुर्जात्या="जातिर्जातं च सामान्यमित्यमरः ।" यशसा=कीर्त्या "यशः कीर्तिः समज्ञाचेत्यमर. ।" सकलदर्शनज्ञानचरित्रवतांमध्ये श्रेष्ठः प्रधानः । जात्यादीनां कृतद्वन्द्वानामतिशायने 'अर्श आदित्वादच्' प्रत्ययविधानेनाक्षरघटना विधेयेति भावः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—[महतो] महान् [पव्वयस्स] पर्वत [सुदंसणस्सेव] सुदर्शन [गिरिस्स] मेरु पर्वतका [जसो] यश कीर्ति जैसे प्रतिपादित है उसीप्रकार [एयुवम] भगवानकी कीर्ति करते हैं [एतोवमे] पूर्वकथित उपमासे अलङ्कृत [समणे] श्रमण [नायपुत्ते] ज्ञातपुत्र-महावीर भगवान् [जाइजसोदंसणनाणसीले] जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शीलमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भावार्थ—भगवान्की एक देशीय उपमा तो सुमेरु पर्वतसे दीगई, और इसी प्रसंगको लेकर सुमेरुका यशोगायन किया है, और अब फिर उपमेयका—भगवान् महावीरका वर्णन करते हैं । वे ज्ञात वंशके क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न भगवान् समस्त जातिवालोंमें और अखिल यशस्वियोंमें, समस्त ज्ञानियोंमें तथा दर्शनवालोंमें और सब चरित्रनिष्ठोंमें श्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भाषा-टीका—भगवान् वीरका यश सुमेरुकी तरह महान् था, यह उपमा पहले ही ऊपर भलि भाँति घटती है । वे श्रमण थे, तपसे शरीरको [illegible] [illegible] तथा [illegible] था, ज्ञात वंशके क्षत्रिय पुत्र थे । जिनकी जाति—यश कीर्ति—समस्त ज्ञान, दर्शन और चारित्र अनिन्द्य है । [illegible] [illegible] [illegible] है ॥१४॥

गुजराती अनुवाद—भगवान् ज्ञातनन्दन वीरप्रभुनो अनुपम यश सुमेरु पर्वत समान महान् छे। ए पूर्वोक्त उपमाए श्रमण भगवान् महावीरदेव जातिए-यशे-दर्शने-ज्ञाने-अने आचारे सर्वोत्तम छे।

मूल

गिरिवरे वा निसहाययाणं,
रुयए व सेट्ठे वलयायताणं।
तओवमे से जगभूइपन्ने,
मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥ १५ ॥

संस्कृतच्छाया

गिरिवरो वा निषध आयतानां, रुचको वा श्रेष्ठो वलयायतानाम्।
तदुपमः स जगद्भूतिप्रज्ञः, मुनीनां मध्ये तमुदाहुः प्रज्ञाः ॥ १५ ॥

सं० टीका—दृष्टान्तद्वारेण पुनरप्याह, निषधः=तन्नामा पर्वतो यथा गिरिवराणामायतानां=दीर्घाणां, "दीर्घमायतमित्यमरः"। मध्ये, जम्बूद्वीपेऽन्येषु वा द्वीपेष्वपेक्षया दैर्घ्येण श्रेष्ठ उत्तमः। पुनश्च वलयायतानां कटकायतानां मध्ये "आवापकः पारिहार्य्यः कटको वलयोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। रुचकः पर्वतः श्रेष्ठोऽन्येभ्यो वलयाकारत्वेनेति भावः। हि रुचको द्वीपान्तर्वर्तिमानुषोत्तरगिरिरिव वृत्तायतो वर्तुलयतः, "वर्तुलं निस्तलं वृत्तमित्यमरः"। असंख्येययोजनपरिक्षेपेण परिधिनेति। तथा स वीरोऽपि तदुपमः। यथा वायत्तवृत्तताभ्यां प्रधानश्चेति। तथैव भगवानपि जगति संसारे भूतिप्रज्ञः प्रभूतज्ञातपरिज्ञया श्रेष्ठ इत्यर्थः। परमुनीनामपेक्षया प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः सर्वज्ञश्चेति। तदेवं स्वरूपविद–आहुः, उदाहृतवन्तः कथितवन्तः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—[वा] जैसे [निसह] निषध पर्वत [आययाणं] लम्बे पर्वतोंमें [गिरिवरे] श्रेष्ठ पर्वत है, तथा [व] जैसे [रुयए] रुचक पर्वत [वलयाययाण] गोलाकार पर्व्वतोंमे [सेट्ठे] श्रेष्ठ है, [तओवमे] इनकी तरह

[से] भगवान् महावीर भी [जगभूइपन्ने] संसारमें प्रभूतप्रज्ञा-अनन्त ज्ञान-युक्त हैं । अत [पन्ने] प्रकृष्ट ज्ञानवालोंने [तं] उन्हें [मुणीण] सब मुनिराजोंके [मज्झे] बीचमें [उदाहु] उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—हरिवर्ष क्षेत्रके पर्वतका नाम निषध पर्वत है, वह लम्बाईमें सबसे बड़ा है, तथा रुचक नामका पर्वत गोलाईमें अद्वितीय है जिसके समान अन्य दूसरा नहीं है । इसी प्रकार भगवान् महावीर भी ज्ञानमें अद्वितीय थे, उनके समान पूर्णज्ञानी उस समय कोई और नहीं था, अत एव बुद्धिमान् अन्य दार्शनिकोंने उनको उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भाषा-टीका—निषध पर्व्वत सब लम्बे पहाडोंमें श्रेष्ठ है, चूडीकी तरह गोल पहाडोंमें रुचक पर्व्वत सर्वाधिक सुन्दर है, इसी तरह वीरप्रभु भी जगत्में भूतिप्रज्ञ-अध्यात्म विद्यामें अद्वितीय हैं । और वह अन्य मुनिओंकी अपेक्षासे हैं । उनके स्वरूपको जाननेवालोंने यथार्थतया कहा है कि वह सर्व्वज्ञ हैं ॥१५॥

गुजराती अनुवाद—लांबा पर्वतोमां निषध नामक पर्वत मोटो छे । गोळाकार पर्वतोमां रुचक पर्वत श्रेष्ठ छे । ते उपमाए श्रीमहावीर शासनदेव जगत्मां प्रज्ञाए करी श्रेष्ठ कह्या छे, अध्यात्म विद्यामां अद्वितीय अने सर्वमान्य छे । तथा सर्व्व मुनिओने विषे प्रज्ञावन्त कह्या छे । तेमना स्वरूपने जाणवावाळा-ओए यथार्थज कह्यु छे के तेओ सर्वज्ञ छे ॥ १५ ॥

मूल

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता,
अणुत्तरं ज्झाणवरं झियाई ।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं,
संखिंदुएगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥

संस्कृतच्छाया

अनुत्तरं धर्ममुदीर्य, अनुत्तरं ध्यानवरं ध्यायति ।
सुशुक्लशुक्लमपगण्डशुक्लं, शङ्खेन्दुकान्तावदातशुक्लम् ॥ १६ ॥

सं० टीका—अनुत्तरं प्रधानमुत्कृष्ट धर्ममुत्पादकत्वेनेरयित्वा= कथयित्वा प्रकाश्य च, "ईरंक प्रेरिते, क्षिप इति शब्दार्थचिन्ता-

मणिः ।" यश्चानुत्तरमत्यन्तमुत्तमं ध्यानवरं श्रेष्ठध्यानं च ध्यायति, उत्पन्नकेवलज्ञानो भगवान् मनोवाक्काययोगनिरोधकाले सूक्ष्मं काययोगं निरुन्धन् शुक्लध्यानस्य तृतीयं भेदं सूक्ष्मक्रियामप्रतिपाताख्यं तथा च चतुर्थं निरुद्धयोगं शुक्लध्यानभेदं व्युपरतक्रियमनिवृत्ताख्यं च ध्यायत्यतस्तदेव दर्शयति, सुष्ठु प्रशस्तं शुक्लवच्छुक्लं ध्यानं विशुद्धलेश्यं शुक्ललेश्यं* तथाऽपगतं गंडमपद्रव्यं दोषजनकद्रव्यं यस्य तदपगतगंडं, यदि

---

* लिम्पत्यात्मीकरोत्यात्मा, पुण्यपापे यया स्वयम् । सा लेश्येत्युच्यते सद्भिर्द्विविधा द्रव्यभावत ॥ प्रवृत्तिर्यौगिकी लेश्या, कषायोदयरञ्जिता । भावतो द्रव्यतो देहच्छविः षोढोभयी मता ॥ कृष्णा नीलाऽथ कापोती, पीता पद्मा सिता स्मृता । लेश्या षड्भिः सदा ताभिर्गृह्यते कर्म्म जन्मभिः ॥ योगाविरतिमिथ्यात्वकषायजनितोऽङ्गिनाम् । संस्कारो भावलेश्यास्ति-कल्माषास्रवकारणम् । कापोती कथिता तीव्रो नीला तीव्रतरो जिनैः, कृष्णा तीव्रतमो लेश्या, परिणामः शरीरिणाम् । पीता निवेदिता मन्दः पद्मा मन्दतरो बुधैः । शुक्ला मन्दतमस्तासां, वृद्धिः षट्स्थानयायिनी ॥ निर्मलस्कन्धयोश्छेत्तुं भावा शाखोपशाखयोः । उच्चये पतितादाने भावलेश्या फलार्थिनाम् ॥ षट् षट् चतुर्षु विज्ञेयास्तिस्रस्तिस्रः शुभास्त्रिषु, शुक्ला गुणेषु षट्स्वेका लेश्या निर्लेश्यमन्तिमम् ॥ रागद्वेषग्रहाविष्टो, दुर्ग्रहो दुष्टमानसः । क्रोधमानादिभिस्तीव्रैर्ग्रस्तोऽनन्तानुबन्धिभिः ॥ निर्दयो निरनुक्रोशो, मद्यमांसादिलम्पटः । सर्व्वदा कदनासक्तः कृष्णलेश्यान्वितो जनः । कोपी मानी मायी लोभी, रागी द्वेषी मोही शोकी, हिंस्रः क्रूरश्चण्डश्चोरो, मूर्खः स्तब्धः स्पर्धाकारी । निद्रालुः कामुको मन्दः, कृत्याकृत्याविचारकः । महारम्भो महामूर्च्छो **नीललेश्यो** निगद्यते ॥ शोकभीर्मत्सरासूयापरनिन्दापरायणः, प्रशंसति सदात्मानं स्तूयमानः प्रहृष्यति । वृद्धिहानी न जानाति, न मूढः स्वपरान्तरम्, अहंकारग्रहग्रस्तः, समस्तां कुरुते क्रियाम् । श्लाघितो नितरां दत्ते, रणे मर्तुमपीहते । परकीययशोध्वंसी, युक्तः **कापोतलेश्यया** ॥ समदृष्टिरविद्वेषो, हिताहितविवेचकः, वदान्यः सदयो दक्षः, **पीतलेश्यो** महामनाः । शुचिर्दानरतो भद्रो, विनीतात्मा प्रियंवदः, साधुपूजोद्यतः साधुः **पद्मलेश्यो** नयक्रियः । निर्निदानोऽनहंकारः, पक्षपातोज्झितोऽशठः, रागद्वेषपराचीनः, **शुक्ललेश्यः** स्थिराशयः । तेजः पद्मा तथा शुक्ला, लेश्यास्तिस्रः प्रशस्तिकाः । संवेगमुत्तमं प्राप्तः क्रमेण प्रतिपद्यते ॥

वा *गंडमुदकफेनं बुद्बुदं तद्वन्निर्मलं चेति, निर्दोषार्जुनसुवर्णवच्छुक्लम्, तथा च शंखेन्दुवदेकान्तावदातं शुभ्रं शुक्लं शुक्लध्यानोत्तरं भेदद्वयं ध्यायतीति भावः । "गण्डः कपोले, पिटके, दोषजनके, जलबुद्बुदे, इति शब्दार्थचिन्तामणिः" ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—[अणुत्तर] सबसे उत्तम [धम्मं] धर्मको [उईरइत्ता] कहकर भगवान् [अणुत्तर] प्रधान [झाणवरं] व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति नामक ध्यानको [झियाइ] चिन्तवन करते हैं, अर्थात् [सुसुक्कसुक्कं] उत्तम श्वेतवर्णकी तरह शुक्लनामक श्रेष्ठ और पवित्र ध्यान जोकि-[अपगंडसुक्कं] अर्जुन संज्ञक सुवर्णकी तरह अथवा जलके फेनकी तरह या [संखिंदु एगंतऽवदातसुक्कं] शंख और चन्द्रमाकी तरह एकान्त सफेद है उसका भगवान्ने ध्यान किया ॥ १६ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीरने ऐसे धर्मका पूर्ण उपदेश किया है, जोकि समस्त धर्मोंमें प्रधान है तथा शुक्लध्यानको धारण किया, वह शुक्लध्यान अर्जुन नामक सुवर्णके समान और जलके फेनकी तरह तथा शंखकी तरह और चन्द्रमाके समान स्वच्छ है । भगवान सूक्ष्मकाययोगका निरोध करते हुए शुक्लध्यानके तीसरा भेद-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक ध्यानका विषय चिन्तवन करते हैं, तथा फिर जब योगका निरोध करते हैं तब व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानके विषयको धारण करते हैं ॥ १६ ॥

अत्रोदाहरणं यथा—

परिमाणविपाताय, येपि पट्पुरपा पुरा । चरिता समुदायेन, तेप्येक [illegible] सर्वात् ॥ १ ॥ [illegible], द्विपद वा चतुष्पदम् ॥ अन्य प्राह मनुष्याणां [illegible] पशूनि [illegible]—॥ २ ॥ तृतीय प्राह [illegible] नरा एव नाहि स्त्रियः ॥ [illegible], पुरपेष्वपि [illegible] ॥ ३ ॥ पञ्चमोऽप्याह ये घ्नन्ति ते [illegible], [illegible] न कस्यचित् ॥ ४ ॥ इति [illegible] । [illegible], [illegible] ॥ ५ ॥ [illegible], [illegible] । [illegible], [illegible] ॥ ६ ॥

* [illegible] ।

भाषा-टीका—जिसमें राग, द्वेषका त्याग हो और ज्ञान पूर्वक त्याग, वैराग्य, सयम, स्वाभिमान, सहानुभूति आदि गुण पाए जायँ तथा मानव जीवनको उन्नत बनानेकेलिए और संसारमे उत्कृष्ट धर्म्मको प्रकट करनेके लिए प्रभुने उपदेश किया, जो कि–अभेद रूपमे था, और वह धर्म प्राणी मात्रके लिए कहा था। इसकी स्वयमेव सिद्धिकेलिए उत्कृष्ट ध्यानका आश्रय लिया; उस ध्यानके प्रवल प्रतापसे उस पावन पुरुषको फल स्वरूप केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर भी मन, वचन, कायके योगोंका निरोधन करनेके कालमे सूक्ष्मकाययोगको रोककर शुक्लध्यानके तीसरे पदको प्राप्त करना आरम्भ किया, जिस स्थितिमे मन और वचनके व्यापारको रोक दिया जाता है तथा काययोगका भी आधा भाग रुक जाता है। यह शुक्लध्यानका तीसरा चरण तेरहवे गुणस्थानपर वर्तमान सूक्ष्म क्रिया रूप होजाता है।

और जिस स्थितिमे मन, वचन, कायकी अप्रतिपाति रूप निवृत्ति होती है वह शुक्लध्यानका चौथा पाद है। अर्थात् कर्मरहित केवलज्ञानरूपी सूर्यसे पदार्थोंका प्रकाश करनेवाले सर्व्वज्ञ भगवान् जव अन्तरमुहूर्त प्रमाण आयु वाकी रह जाता है तव सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामक शुक्लध्यानके योग्य वन जाते हैं, उस समयकी चेष्टा अचिन्त्य होती है, वादरकाययोगमे स्थिति करके वादरवचनयोग और वादरमनोयोगको वे सूक्ष्मतम करते हैं, पुन भगवान् काययोगके अतिरिक्त वचनयोग मनोयोगकी स्थिति करके वादरकाययोगसूक्ष्म करते है, तत्पश्चात् सूक्ष्मकाययोगमे स्थिति करके क्षणमात्रमे उसी समय वचनयोग और मनोयोग इन दोनोंका सम्यक् प्रकारसे निग्रह करते हैं, तव यह सूक्ष्म क्रिया ध्यानको साक्षात् ध्यानके करने योग्य वना लेती हैं, और वे वहा एक सूक्ष्म काययोगमे स्थित होकर उसका ध्यान करते है। इस तरह प्रभुका यह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति ध्यान है।

और अयोग गुणस्थानके उपान्त्य अर्थात् अत समयके प्रथम समयमे देवाधिदेवके मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्रतिवन्धक कर्म्मोंकी प्रकृतिएँ शीघ्रमेव नष्ट होजाती हैं। भगवान् अयोगी परमेष्ठीको उसी अयोगगुणस्थानके उपान्त्य समयमे साक्षात् रूप और निर्म्मल "समुच्छिन्न क्रिया" नामक चौथा शुक्ल ध्यान प्रकट हो जाता है।

भगवानका यह प्रशस्त और शुक्लसे भी अधिक शुक्ल ध्यान है। लेश्याकी दृष्टिमे महान् शुक्ललेश्य हैं। "लेश्या आत्मामे पुण्य पापको लिप्त करके जव अपने

जैसा बनालेती है अत उसे लेश्या कहते हैं," **वह दो तरहकी है।** प्रवृत्ति और यौगिकी ये दो भेद हैं । प्रवृत्ति कषायके रंगमें रंग लेती है । भावसे असत् परिणति या परपरिणति रूपा है । योग, अविरति, मिथ्यात्व, कषाय, जन्म, कर्म्म संस्कारोंसे भावलेश्या होती है । जोकि पाप और आस्रवका कारण हैं ।"

कापोती तीव्र भाव है, नीला तीव्रतर और कृष्णा तीव्रतम भाव है, यह अशुद्ध विचारोंका क्रम है । पीता उस पापकी मन्दताका नाम है, पद्मा मन्दतर है, शुक्ला मन्दतमको कहते हैं; अशुभ भावलेश्या निर्म्मलताका नाश करती है, शुभभावलेश्या कर्म्म कालिमाको प्रध्वंस कर देती है । अन्तिम लेश्या सहजानन्द निर्लेप पद देनेमें निमित्त भूत है ।

कृष्णलेश्या-

आत्मा इस दुर्भावके फंदेमें पड कर राग, द्वेषके ग्रहसे ग्रसा जाता है, परपरिणति और जड पूजाका दुराग्रह इसीसे आता है, मन दुष्ट और म्लान रहता है, अनन्तानुबन्धीके तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ कषायसे ग्रसित होता है, सदैव भावोंमें निर्दयता बनी रहती है निकल नहीं जाती, यह पापका समाचरण करके उसका कभी पछतावा नहीं करता, यह मांस मदिराका लम्पट होता है, कुत्सित कर्म्ममें आसक्ति बनी रहती है । इन लक्षणोंसे समन्वित मनुष्य कृष्णलेश्यायुक्त समझना चाहिए ।

नीललेश्या-

जिनमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, शोक हो । नृशंसता, क्रूरता, हिंसकता रहती हो, चाण्डाल वृत्ति हो; चोर, मूर्ख, स्तब्ध, औरोंका तिरस्कार करता हो, नीन्दकी अधिकता, कामुकता, मन्दबुद्धि, जडता तथा सत्-असत्में अविवेकी हो, महा आरम्भ, महामूर्च्छा-मोह हो तो समझो कि—इसमें नीललेश्या है ।

कापोतलेश्या-

शोक, भय, ईर्षा, मत्सरभाव, औरोंकी निन्दा, अपनी प्रशंसा करना, कोई अपनी स्तुति करे तो प्रसन्न होना, हानिलाभको न जानना स्व और परमें [illegible] हो, आचार-[illegible] हो; [illegible], बुरी मद प्रचारकी क्रियाएँ [illegible] हो [illegible] हो [illegible] जानकर [illegible] तक अर्पण कर डालता हो, [illegible] इच्छा करता हो, [illegible] कीर्तिका नाश कर डालता हो [illegible] कापोतलेश्या समझनी चाहिए ।

तेजोलेश्या-

यह पुरुष समदृष्टि होता है, अधिकमात्रामें द्वेष नहीं रखता, औरोंके कल्याण और अहितको सोचता हैं, अपने बुद्धि बलसे युक्त और अयुक्तका ज्ञान कर लेता है, किसी अन्यकी शोचनीय दशा पर उसे दया आजाती है, चातुर्य्यता पूर्ण और अनिन्द्य व्यवहार है, ये पीतलेश्याके लक्षण हैं ।

पद्मलेश्या

कर्म्मकी निर्जरा करके पवित्र होनेकी प्रबल इच्छा हो, सुपात्रोंमें सात्विक दान वितरण करके सहजानन्द लूटता हो, जिसका अन्तर और बाह्य अत्यन्त मृदु और सरल हो, आत्मामे सदैव विनय और नम्रता रहती हो, शत्रुओंका प्रेमसे आदर करता हो, आत्म ज्ञानको उदयमें लाना ही जिसका ध्येयहो, सच्चरित्र पालक साधु हो तो समझो कि इसमे. नीति युक्त क्रिया है, यह पद्मलेश्याका लक्षण है ।

शुक्लेश्या

अभिमानका लेश तक न हो, अपने चरित्रका फल मागनेकी अभिलाषासे निदान न करता हो, पक्षपातका अत्यन्त अभाव हो, सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता हो, रागद्वेषका अत्यन्ताभाव हो, समाधि और अध्यात्मिकतामें स्थायी भाव हो, आस्तिक्यता हो, ये लक्षण शुक्लेश्याके हैं, ।

तेजोलेश्या, पद्मा और शुक्ला ये तीन प्रशस्त लेश्या हैं, क्रमसे सवेगको उत्तम रीतिसे वढानेमे सहायिका हैं,

इन्हें उदाहरणसे समझाते हैं,

चोरोंका एक समुदाय किसी ग्रामको लूट कर भाग गया, तब उस वस्तीके लोकभी उनसे वदला लेनेकी इच्छासे अपने समुदायको सगठित वनाकर चले जा रहे थे उनमे छ. आदमी अलग २ छ प्रकृतिके थे। रस्तेमें चलते २ पहले ने यह कहा कि—

[१] हम सब वहा जाकर सारे ग्रामके जीवोंको मार देंगे, उनकी पली हुई चिडिया तकको भी न छोडेंगे ।

[२] दूसरेने कहा हम उनके पशु पक्षियोंको कुछ न कहेंगे ।

[३] उनकी स्त्रियोंको कुछभी कष्ट न देंगे। क्योंकि औरोंकी वहु बेटिएँ अपने जैसी ही होती हैं ।

[४] पुरुषोंमें भी उनको मारना चाहिए जिनके हाथोंमें शस्त्र हों, निश्शस्त्र शत्रुका मारना नीतिविरुद्ध है।

[५] उसी शस्त्र–धारीको मारा जायगा जो हम पर आक्रमण करेगा,

[६] शत्रुको छोडकर भूलकर भी किसी निरपराधके ऊपर हाथ न डाला जाय।

इस प्रकार भिन्न २ विचार भिन्न २ लेश्याओंके द्वारा होते हैं, अनुक्रमसे पवित्रविचारों द्वारा जो कर्मरूपी शत्रुके अतिरिक्त अन्य सबकी रक्षाकरता हो वही नरपुंगव सबमें प्रधान और उत्तम है।

इसी प्रकार भगवान् वीर प्रभुका भी शुक्ललेश्या युक्त ध्यान है, जिसमें निर्दोष आत्म द्रव्य अर्थात् आत्माका अन्तरंग भाव स्वच्छ है। जिनका पवित्रध्यान चन्द्रमा और शंखकी तरह उज्ज्वलवर्ण है, इस प्रकारके शुक्लध्यानका उपदेश संसारी आत्माओंके हितार्थ प्रभुने स्वयं किया है ॥ १६ ॥

गुजराती अनुवाद–जेमां राग द्वेषनो त्याग होय, एवा ज्ञानपूर्वक त्याग, वैराग्य, संयम, स्वाभिमान, सहानुभूति विगेरे गुणो होय, एवो धर्म मानव जीवनने उन्नत बनाववा माटे संसारमां सर्वोत्कृष्ट गणाय छे ते धर्मने प्रगट करवाने माटे प्रभुए उपदेश आप्यो के जे अभेद रूपे हतो। वळी ते धर्म प्राणिमात्रने माटे परोक्ष हतो। तेनी सिद्धिने माटे तेओए उत्कृष्ट ध्याननो आश्रय लीधो। तेना फळ स्वरूपे तेमने केवळज्ञान प्राप्त थयुं। ते पछी पण मन, वचन, कायना योगोनुं निरुंधन करवाना समये सूक्ष्म काय योगने रोकीने शुक्लध्याननो त्रीजो पायो प्राप्त करवानो आरम्भ कर्यो, जे स्थितिमां मन-वचनना व्यापारोने रोकी देवामां आवे छे, तथा काय योगनो पण अर्धो भाग रोकाई जाय छे। आ शुक्लध्याननो त्रीजो पायो तेरमे गुणस्थाने वर्तता जीवोने होय छे। अने जे स्थितिमां मन वचन कायनी अर्थात् सर्व निरोध थई जाय छे ते शुक्लध्याननो चोथो पायो छे।

ए वन्नेनो सम्यक् प्रकारे निग्रह करे छे । त्यारे ते सूक्ष्म क्रिया ध्यानने साक्षात् ध्यान करवा योग्य बनावी ले छे । अने ते त्या एक सूक्ष्म काययोगमां स्थिति करीने तेनुं ध्यान करे छे । आ रीते प्रभुनुं आ "सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति" ध्यान छे ।

अयोग गुणस्थानना उपान्त्य अर्थात् अन्तसमयना प्रथम समये देवाधिदेवनी मुक्तिरूपी लक्ष्मीने प्रतिबन्धक कर्मोनी प्रकृतिओ शीघ्र नाश पामी जाय छे भगवान् अयोगी परमेष्टीने ते अयोग नामा गुणस्थानना उपान्त्य समये साक्षात् रूप अने निर्मळ "समुच्छिन्नक्रिया" नामे शुक्लध्याननो चोथो पायो प्रगट थाय छे ।

ते भगवान् प्रधान धर्म प्रकाशीने प्रधान-उज्ज्वळमा उज्ज्वळ, दोष रहित, उज्ज्वळ शंख अने चन्द्रमानी पेठे एकान्त निर्मल सर्वध्यानमा सर्वोत्तम एवुं शुक्लध्यान ध्याय छे ।

लेश्यानी दृष्टिए पण तेमनी महान् शुक्ललेश्या छे ।

आत्मामा पुण्य पापने लिप्त करीने पोताना जेवा बनावी-ल्ये, तेने लेश्या कहे छे, ते बे जातनी होय छे । ते प्रवृत्ति अने यौगिकी होय छे । प्रवृत्ति कषायना रंगमा रंगी ल्ये छे । भावथी असत् परिणति तथा पर परिणतिरूप छे । योग-अविरति-मिथ्यात्व-कषाय-प्रमादजन्य कर्मसस्कारोथी भावलेश्या होय छे । के जे पाप अने आस्रवनुं कारण छे ।

कापोती तीव्र भाव छे, नीला तीव्रतर अने कृष्णा तीव्रतम भाव छे । आ अशुद्ध विचारोनो क्रम छे । पीता पापनी मन्दतानु नाम छे, पद्मा मन्दतर अने शुक्ला मन्दतमने कहे छे । अशुभ भाव-लेश्या आत्मानी निर्मलतानो नाश करे छे, शुभ भावलेश्या कर्ममेलनो नाश करे छे, अन्तिम लेश्या सहजानन्द-निर्लेशीपद अपाववामा निमित्तभूत छे ।

कृष्णलेश्या—

आ दुर्भावनाना फंदमा पाडीने जीवने राग-द्वेपना ग्रहथी ग्रसाय छे, पर परिणति अने पुद्गलपूजा-जडपूजानो दुराग्रह तेना थी आवे छे, मन दुष्ट अने म्लान रहे छे, अनन्तानुबन्धीना तीव्र क्रोध-मान-माया-लोभथी घेरायेलो होय छे, भावोमा थी निर्दयता जती नथी, पाप कार्य करीने तेनो कदी पस्तावो थतो नथी । मास मदिरानो भोगी होय छे, कुकर्ममां आसक्त होय छे । आ लक्षणो वाळो मनुष्य 'कृष्णलेश्या' वाळो जाणवो ।

नीललेश्या-

जेनामा क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष-मोह-शोक-भय-जुगुप्सा होय, नृशंसता क्रूरता-हिंसकता होय, चाण्डालवृत्ति होय, चोर-मूर्ख-स्तब्ध होय, बीजाओनो तिरस्कार करतो होय, निद्रानी अधिकता-कामासक्ति-मंद बुद्धि-जडता होय, सत् असत्मां अविवेकी होय, महाआरम्भ-महामूर्च्छा=मोह होय, आ लक्षणो वाळो जीव नीललेश्या वाळो जाणवो।

कापोती लेश्या-

शोक-भय-ईर्षा-मत्सर-अन्यनी निन्दा, पोतानी प्रशंसा तथा पोतानी कोई प्रशंसा करे तो प्रसन्न थवुं, आत्माना हानि लाभने न समजे, स्व- परमा विपर्यय बुद्धि होय, अहंकारग्रस्त-सारी नरसी सर्व प्रकारनी क्रियाओ करी बेसे, पोतानी स्तुति सांभळीने सर्वस्व पण आपी दे, लडाईमा मरवानी इच्छा राखे। आ लक्षणो वाळो जीव कापोती लेश्या वाळो समजवो।

तेजोलेश्या-

आ लेश्यावाळो समदृष्टि होय छे, अधिक मात्रामा द्वेष नथी करतो, अन्यना कल्याण अकल्याणनो विचार करे छे। पोताना बुद्धिबलथी कुल अनुकूलनुं मान विचारे छे। कोई अन्यनी शोचनीय दशा पर तेने दया आवे छे। चातुर्यतापूर्ण तेमज अनिंद्य व्यापार होय छे। आ पीतलेश्याना लक्षण छे।

पद्मलेश्या-

कर्मनी निर्जरा करीने पवित्र तथा कर्मरहित बनवानी इच्छा होय। सुपात्रे दान करीने महाआनन्द लहे। आन्तर तेमज बाह्य व्यवहार जेनो अत्यन्त शुद्ध अने स्पष्ट होय। आत्मानी रक्षामा विनय अने नम्रता होय। सद्गुरु पर प्रेम राखे। आत्मज्ञान भावनो तेनो प्रेम होय। सर्वाङ्ग पावन साधक होय, नहि तुच्छ [illegible] होय। आ पद्मलेश्या वाळाना लक्षणो छे।

शुक्ललेश्या-

तेजो, पद्मा अने शुक्ला ए त्रण प्रशस्त लेश्या छे, क्रमे करीने सवेगने उत्तमरीते वधारवामा सहायरूप छे ।

लेश्याओने उदाहरणथी समजावे छे—

चोरोनो एक समुदाय कोई गामने लुटीने चाल्यो गयो त्यारे ते गामना लोको तेनो वदलो लेवानी इच्छाए सगठित वनीने चाल्या जाय छे । ते मा छ माणसो जुदी जुदी छ प्रकृति ना हता, रस्तामा चालता चालता पहेलाए कह्युं के—

(१) आपणे वधा त्या जईने आखा गामना जीवोनो नाश करी नाखीशु, तेमना पाळेला पक्षिओने पण नहि छोडीशुं

(२) बीजाए कह्युंके आपणे तेमना पशु पक्षिओने कई ईजा नहि करिए।

(३) त्रीजाए कह्युं के आपणे तेमनी स्त्रीओने कोई पण जातनु कष्ट नहि आपिए । कारणके अन्यनी वहु दीकरीओ आपणी वहु दीकरीओ जेवी छे ।

(४) चोथाए कह्युं के पुरुषोमा पण जेना हाथमा शस्त्र होय तेनेज मारवा जोइए, निश्शस्त्र शत्रुने मारवा नीति विरुद्ध छे ।

(५) पाचमाए कह्युं के शस्त्रधारिओमा पण जेओ आपणा पर आक्रमण करे तेनेज मारवा ।

(६) छठ्ठाए कह्युंके शत्रु सिवाय भूलथी पण कोई निरपराधीने न मराय।

आ रीते जुदा जुदा विचारो जुदी जुदी लेश्याओ द्वारा थाय छे । अनुक्रमे पवित्र विचारो द्वारा जे कर्मरूपी शत्रु सिवाय बीजा वधानी रक्षा करे ते नरपुंगव सर्वमा प्रधान अने उत्तम छे ।

आ रीते भगवान् वीरप्रभुनुं पण शुक्लेश्या युक्त ध्यान छे । जेमा आत्माना अन्तरग भाव स्वच्छ होय छे, तेमनु पवित्र ध्यान शंखनी पेठे उज्वळ वर्णनुं छे । आ रीते जगत् जीवोना हितार्थे शुक्लध्याननो उपदेश पण वीर प्रभुश्रीए करेल छे १६

मूल

अणुत्तरग्गं परमं महेसी,
असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं गते साइमणंतपत्ते,
नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥ १७ ॥

(संस्कृतच्छाया)

अनुत्तराग्र्यां परमां महर्षिः, अशेषकर्म्म स विशोध्य ।
सिद्धिं गतः साद्यनन्तप्राप्तः, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥ १७ ॥

सं० टीका—तथा चासौ भगवान् शैलेश्यवस्थाऽऽपादितशुक्लध्यानस्य चतुर्थभेदानन्तरं साद्यपर्यवसानां सिद्धिं मोक्षं । "योग्यभेदेऽन्तर्धाने मोक्ष इति शब्दस्तोममहानिधिः" । "मोक्खो, निरोधो, निब्बाणं, दीपो, तण्हक्खयो, परं, । ताणं, लेणं, अरूपं च, सन्तं, सच्चं, अनालयं । असङ्खतं, सिवं, अमतं, सुदुद्दसं, परायणं, सरणं, अनीतिकं, तथा । अनासवं, धुवं, अनिदस्सना, कता, अपलोकितं, निपुणं, अनन्तं, अक्खरं, दुक्खक्खयो अब्यापज्झं च, विवट्टं, खेमं, केवलं, । अपवग्गो, विरागो, च, पणीतं, अच्चुतं, पदं । योगक्खेमो, पारं पि, मुत्ति, सन्ति, विसुद्धि, यो । विमुत्य,ऽसङ्खतधातु, सुद्धि, निब्बुतियो (सिया)" इत्यभिधानप्पदीपिका । "मोक्षस्तु मुक्तिपाटलिमोचने" इति मेदिनी" । गतिं मोक्षगतिं वा पञ्चमीं वा प्राप्तः । सिद्धिगतिमेव विशिनष्टि, अनुत्तरां चासौ सर्वोत्तमत्वात्, अग्र्या च लोकाग्रभागे व्यवस्थितत्वादनुत्तराऽग्र्या तां परमां प्रधानां गतिं चेति । महर्षिः स्वाद्यत्यन्तोग्रतपो विशेषो वा सर्वज्ञः । "महर्षिः सर्वज्ञेषु, जिनागमप्रवर्तकेषु चेति, शब्दार्थचिन्तामणिः" । "मोनी, च जिनाऽरहं, समन्तचक्खु, सब्बञ्ञु, इत्यभिधानप्पदीपिका" । निष्प्रकम्पत्वादशेषं कर्म्म ज्ञानावरणादिकं विशोध्यापनीय क्षपयित्वा च विशिष्टेन ज्ञानेन दर्शनेन शीलेन चारित्रेण तां सिद्धिं गतिं प्राप्त इति, ॥ १७ ॥

लोकके अग्रभागमें [गते] जा विराजे, [साऽमणंत] और आदि-अनन्त, तथा [परमं] उत्कृष्ट [सिद्धिं] मोक्षको [नाणेण] ज्ञान [सीलेण] चरित्र [य] और [दंसणे] दर्शनके द्वारा प्राप्त हुए ॥ १७ ॥

भावार्थ—भगवान्ने क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और क्षायिकचरित्र द्वारा सर्वोत्तम लोकाग्रभागमे धारण करनेवाली मुक्तिको सकल कर्मोंका अन्त करके उसे पाया, वह मुक्ति सादि अनन्त है, कई लोक मोक्षसे वापिस आना मानते हैं, किन्तु वह युक्ति सगत नही है, क्योकि ससारमे रुलानेवाले राग-द्वेष-क्रोध-मान-मायादि विकार हैं, जहातक ये विकारहैं वहातक मोक्ष नहीं, और मुक्तात्मामे कोई विकार नहीं है। अत· विकार रहित आत्मा ससारमे क्योकर पुनरावर्तन कर सकता है? यदि उसमें रागादिका सद्भाव मानाजाय तो वह मोक्ष नहीं, यदि मोक्ष होनेपर पुनः अवतरित होते हों तो वहभी ठीक नही, क्योंकि विकारोको विकारही पैदा कर सकते हैं, जब मुक्तात्मा निर्विकार है तो विकारकी उत्पत्ति क्योकर हो सकती है ॥१७॥

भाषा-टीका—भगवान् शैलेशी अवस्थासे शुक्लध्यानके चतुर्थ भेदको पानेके अनन्तर आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनरावृत्ति धाममे जा विराजे। लोकके अग्रभागमे व्यवस्थित होनेसे वह परमप्रधान है, उसे उस सर्व्वज्ञ-महर्षि ने देहको तपसे तपा कर ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म्मोंका विशोधन करके (वह भी अपने निजी पुरुषार्थ से,) फिर ज्ञान, दर्शन चरित्र के द्वारा सिद्धि गति-मोक्षको पाया।

आकाश सबमें अनन्त है, उस पूर्ण लोकालोकाकाशमे सिद्ध परमात्माका ज्ञान घनीभूत होकर भरा पडा है। उस सिद्धावस्थाके होने पर वे निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा, सशयसे रहित हो जाते है। तथा शोक, मोह, जरा, जन्म, मरण, आदि भी नहीं रहते है। क्षुधा, तृषा, खेद, मद, उन्माद, मूर्च्छा, मत्सर का भी अत्यन्ताभाव है। इनकि आत्मामे अब घटावढी भी नहीं है, इनका आत्म वैभव कल्पनातीत है। सिद्ध भगवान् शरीर रहित हैं, इन्द्रिय रहित हैं, विकल्प, सकल्प नहीं हैं, अनन्तवीर्यत्व प्राप्त है, अपने स्वभावसे कभी स्खलित नहीं होते। सहज और नित्य आनन्दसे आनन्द रूप हैं। जिनके सुखमे कभी विच्छेद नहीं होता है। परमपद में विराजित हैं, ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित हैं। परिपूर्ण, सनातन, ससारकी खटपटसे रहित है एवं जिनको अब कुछ भी करना धरना नहीं है, अचला स्थिति है, आत्म प्रदेशों की क्रियासे रहित हैं। सन्तृप्त हैं,

तृष्णा रहित हैं, सदा तीन लोकके शिखर पर विराजित हैं। अनुपमेय हैं, आकाश और काल कि तरह प्रभु अनन्त हैं, और वचन अगोचर हैं ॥ १७ ॥

गुजराती अनुवाद—भगवान् शैलेशी अवस्थाथी शुक्लध्यानना चोथा भेदने प्राप्त कर्या पछी आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनरावृत्ति स्थानमा जइ विराज्या, ते मोटा ऋषीश्वर [महावीर देव] समस्त कर्म खपावीने पोतानाज पुरुषार्थथी ज्ञान, दर्शन, चारित्रे करी, सर्वोत्तम लोकने अग्र भागे उत्कृष्ट सिद्धगतिने पाम्या।

आकाश अनन्त छे, ते पण लोकालोक-आकाशमा सिद्ध-परमात्मानु ज्ञान भर्युं पड्यु छे, ते सिद्धावस्थामा निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा, संशय नथी, शोक-मोह-जन्म-जरा-मरणादि पण नथी, क्षुधा-तृषा-खेद-मद-उन्माद-मूर्छा-मत्सरनो अनन्त अभाव छे, तेमनो आत्मा अगुरु लघुत्व गुणने प्राप्त थयो छे, तेमनो आनंदभाव कल्पनातीत छे, सिद्ध भगवान शरीर-इन्द्रिय-वचन्य निर-पेक्ष शुद्ध छे, अनन्त वीर्यवान छे, सर्वज्ञपणाथी कदी पण स्खलित थता नथी, सहजानन्द प्राप्त छे, निराबाध सुखवाला छे परम पदमा विराजमान छे, ज्ञान-प्रकाशथी प्रकाशित छे, सर्वत्र नित्य-परिपूर्ण छे, सनातन छे, संसारना प्रपंचोथी रहित छे, निरंजन छे, अचल छे, अजर छे, अक्षर छे, आत्मप्रदेशोनी क्रियाथी रहित छे, सन्तृप्त छे, तृष्णा रहित छे, त्रणलोकना अग्रभागे विराजे छे, अनुपमेय छे, आकाश अने कालनी पेठे प्रभु अनन्त छे, वचनातीत छे ॥ १७ ॥

मूल

रुक्खेसु णाते जह सामली वा,
जस्सि रइं वेययंती सुवण्णा।
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं,
नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ॥ १८ ॥

संस्कृतच्छाया

वृक्षेषु ज्ञातो यथा शाल्मली वा, यस्मिन् रतिं वेदयन्ति सुपर्णाः।
वनेषु वा नन्दनमाहुः श्रेष्ठं, ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रज्ञः ॥ १८ ॥

सं० टीका—पुनरपि वीरस्य स्तुतिं दृष्टान्तद्वारेणाह, वृक्षेषु मध्ये यथा ज्ञातः प्रसिद्धो देवकुरुव्यवस्थितः शाल्मलिवृक्षः, स च सुवन-

पतिदेवानां क्रीडास्थानम्, "शाल्मले शाल्मलीवृक्ष इति हैमः" । यस्मिन् वृक्षे व्यवस्थिता अन्यतश्चागत्य सुपर्णा=भुवनपतिविशेषा देवा रतिं=रममाणा रतिं रमणं क्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्तीति । वनेषु मध्ये नन्दनं=देवानां क्रीडास्थानं श्रेष्ठम् प्रधानं "नन्दनं, मिस्सकं, चित्तलता, फारुसकं, वना इत्यभिधानप्पदीपिका" । एव भगवान् वीरोऽपि केवलाख्येन ज्ञानेन समस्तपदार्थाविर्भावकेन शीलेन=चारित्रेण यथाख्यातेन स्वभावेन सहजधर्म्मविशेषेण सद्वृत्तेन साधुचरित्रेण प्रधानस्तथा भूतिप्रज्ञः=प्रवृद्धज्ञानोऽनन्तज्ञानो भगवान् इति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—[जह] जैसे [रुक्खेसु] वृक्षोमे [सामली] शाल्मली वृक्ष [वा] तथा [वणेसु] वनोंमें [नदणं] नन्दनवन [सेठ्ठ] श्रेष्ट [णाए] समझा जाता है [जस्सिं] जिसमें कि-[सुवन्ना] सुपर्ण-कुमार नामक भुवनवासी देव [रतिं] आराम क्रीडाका [वेदयती] अनुभव करते है उसी प्रकार भगवान् [नाणेण] ज्ञानसे [य] और [सीलेण] चरित्रसे श्रेष्ट तथा [भूइपन्ने] प्रभूत ज्ञानशाली [आहु] कहलाते थे ॥ १८ ॥

भावार्थ—वृक्षोमें सेमलवृक्ष सुदर सघन छाया युक्त होता है, यह वृक्ष पृथ्वीकायिक और नित्य है । तथा ससारके समस्त वनोंमे नन्दनवन खूबसूरत है, क्योंकि कथित दोनों स्थानोमें रहनेवाले तथा वाहरसे आनेवाले सुपर्णकुमार जातिके भुवनवासी देव, आनन्दमें आमोदप्रमोदसे अनेकप्रकारका विलास करते हैं, उसीप्रकार भगवान् महावीर प्रभु भी सबमें उत्तम थे, कारण उस समय प्रभुके मुकावलेमें उनके ज्ञान और चरित्रकी वरावरी करनेवाला कोई भी व्यक्ति न था, इसीलिए सेमल और नन्दनवनकी उपमा देकर भगवान्‌कि स्तुति की गई है ॥१८॥

भाषा-टीका—शाल्मली वृक्षकी शीतल छाया होनेसे वह सव वृक्षोमें श्रेष्ठ है, और वह भुवनवासी देवोका क्रीडा स्थल है, । वनोमे जिसप्रकार नन्दनवन उत्तम वन है, इसी प्रकार भगवान् महावीर प्रभु भी केवलज्ञानके कारण श्रेष्ठ हैं, जिससे सर्व्वपदार्थोका उन्है प्रत्यक्ष आविर्भाव है । ज्ञानके साथ साथ उनमे यथाख्यात-चरित्रमें भी पूर्णश्रेष्ठता प्राप्त है । जोकि आत्माका सहज भाव समन्वित गुण है ॥ १८ ॥

गुजराती अनुवाद—शीतल छाया होवाने लीधे शाल्मली वृक्ष सर्वे वृक्षोथी श्रेष्ठ छे, ते भुवनवासी देवोनुं क्रीडा स्थान छे, वनोमा जेम नन्दनवन श्रेष्ठ छे, तेमज भगवान् महावीर पण केवलज्ञाने करी सर्वोत्तम छे, जेनाथी सर्वे पदार्थोनो प्रत्यक्ष आविर्भाव तेमने थाय छे, ज्ञाननी साथे यथाख्यात चरित्रमा पण तेओ श्रेष्ठ छे के जे आत्मानो सहज स्वभाव छे ॥ १८ ॥

मूल

थणियं व सद्दाण अणुत्तरे उ,
चंदो व ताराण महाणुभावे ।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं,
एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥ १९ ॥

संस्कृतच्छाया

स्तनितं वा शब्दानामनुत्तरं तु, चन्द्रो वा ताराणां महानुभावः ।
गन्धेषु वा चन्दनमाहुः श्रेष्ठम्, एवं मुनीनामप्रतिज्ञमाहुः ॥ १९ ॥

सं० टीका—यथा च शब्दानां मध्ये स्तनितं मेघगर्जितं "स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषो रसितादि चेत्यमरः" । तदनुत्तरं प्रधानं तुशब्दो विशेषणार्थः, आह च, "समुच्चयेऽवधारणे, नियोगे, प्रशंसायां, उत्क्षेपकानिवृत्तौ, पादपूरणे, विशेषणार्थे चेति कोषः" । तथा च तारकाणां=नक्षत्रगणानां मध्ये चन्द्रो महानुभावः, "नक्खत्त, जोति, भं, तारा, (अपुमे) तारको इत्यभिधानप्पदीपिका" । नक्षत्रज्योतिश्चक्रमध्ये कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः । गन्धेषु चेति गुणगुणिनोरभेदाभ्युपगमात्, गन्धवत्सु मध्ये यथा चन्दनं मलयजं गोशीर्षकाख्यं "चन्दन (मिनिम) गन्धसारो मलयजो (पुमे)" "गोसीस तेलपण्णिक (पुमे वा) हरिचन्दन" "इत्यभिधानप्पदीपिका" । मलयजं [illegible] श्रेष्ठम् । एवं मुनीनां सर्वेषां [illegible] । [illegible] प्रतिज्ञा [illegible]

विद्यत इत्यप्रतिज्ञः, इहलोकपरलोकाशंसारहितप्रतिज्ञस्तमेवंभूतं महा-वीरम् श्रेष्ठमाहुरिति ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—[व] जैसे [थणिय] मेघकी गर्जना [सद्दाण] सबशब्दोंमे [अणुत्तर उ] प्रधान है-सबसे बढकर है, और [व] जैसे [चंदो] चन्द्रमा [ताराण] सब तारोमें [महाणुभावे] उज्वल और मनोहर है, [वा] इसीप्रकार [गधेसु] सब सुगन्धित पदार्थोंमें [चंदणं] चन्दनको [सेट्ठ] अच्छा [आहु] कहा है [एवं] इसी प्रकार भगवान्‌को भी [मुणीणं] सब मुनिओमे [अपडिण्णं] इस लोक और परलोककी प्रतिज्ञा-कामनासे विरक्त [आहु] कहा है ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे सब शब्दोंमें मेघकी गर्जनाका शब्द बडा प्रबल होता है, सबके सब शब्द उससे नीची कक्षामें हैं, तथा सब नक्षत्र मण्डलमें चाद सबमे उज्वल और सुन्दर है, और समस्त सुगन्धित पदार्योंमें मलयज चन्दन सुरभि ओर उत्तम है, उसी प्रकार समस्त मुनिओमे भगवान् महावीर उस समय सबमे प्रधान थे, क्योंकि उनमें आत्मासे भिन्न इसलोक और परलोक संबंधी किसी भी विपयकी कामना न थी ॥ १९ ॥

भापा-टीका—शब्दोंमें मेघकी गर्जनाका शब्द सबसे बडा होता है, असख्य तारो और नक्षत्रोंमें चंद्रमा तेजस्वी शीतल और महानुभाव है, सुगन्ध वस्तुओमे मलयवनका गोशीर्प चन्दन श्रेष्ठ होता है। इसी प्रकार मुनि महर्षि-गणोमे भगवान् सबमे विलक्षण श्रेष्ठतापूर्ण थे। उनकी सब प्रतिज्ञाएँ इस लोक और परलोक सम्बन्धी विपयाकाक्षाओंसे रहित थी ॥ १९ ॥

गुजराती अनुवाद—शब्दोमा जेम मेघनी गर्जनानो शब्द, ताराओने विपे जेम चन्द्रमा, अने सुगंधीओमा जेम गोशीर्प चन्दन श्रेष्ठ छे, तेम मुनि महर्पिगणोमा भगवान् श्रीमहावीर श्रेष्ठ छे, तेमनी सर्व प्रतिज्ञाओ आ लोक अने परलोक सम्बन्धीनी वाछना रहित छे ॥ १९ ॥

मूल

जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे,
नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे ।
खोओदए वा रसं वेजयंते,
तवोवहाणे मुणि वेजयंते ॥ २० ॥

संस्कृतच्छाया

यथा स्वयम्भूरुदधीनां श्रेष्ठः, नागेषु वा धरणेन्द्रमाहु श्रेष्ठम् ।
क्षोदोदकं वा रसं वैजयन्तः, तप उपधानेन मुनिर्वैजयन्तः ॥ २० ॥

सं० टीका—यथा स्वयं भवतीति स्वयंभुवो देवास्तत्रागत्य रमन्त इति, स्वयंभूरमणस्तदेवोदधिः समुद्राणां मध्ये यथा स्वयंभूरमण समुद्रः समस्तद्वीपसागरपर्य्यन्तवर्ती श्रेष्ठः प्रधानो महत्तरः । नागेषु च भुवनपतिविशेषेषु मध्ये धरणेन्द्रं नागानामिन्द्रं यथा श्रेष्ठमाहुः । तथेक्षुरस इवोदकं जलं यस्य सः इक्षुरसोदकः, स यथा रसमाश्रित्येति वृद्धाः, वैजयन्तः प्रधानः । स्वगुणैः समुद्राणां पताकेवोपरि स्वयंभूर्धरणेन्द्रो रसश्च प्रधानः समस्तितस्तथैव तप उपधानेन विशिष्टतपोविशेषेण मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिर्भगवान् वैजयन्तः प्रधानः समस्तलोकस्य महातपसा वैजयन्तीव सर्वोपरिस्थितः ॥ २० ॥

शान्तिकर और स्वादिष्ट वस्तु है, इसी प्रकार विशेष तपसे जगत्‌की तीनों कालकी अवस्थाओको नित्य और परिवर्तन शील माननेवालोमे मुनि–भगवान् महावीर प्रभु श्रीध्वजाकी तरह समस्त लोकमे महान् तपसे तप कर निकले हुए कुदनकी तरह सुशोभित थे ॥ २० ॥

गुजराती अनुवाद—सर्व समुद्रोमा स्वयंभूरमण समुद्र मोटो छे, तेन कांठा पर देवताओ वायुसेवन करवाने आवे छे, भुवनपति देवोना धरणेन्द्र देवराज प्रधान छे, मीठा अने सरस पदार्थोमा शेरडीना रस शान्तिकर तेमज मीष्ट तथा स्वादिष्ट छे, तेवीज रीते तप उपधानथी जगत्‌नी त्रणे कालनी अवस्थाओने नित्य तेमज परिवर्तनशील माननाराओमा मुनींद्र श्री भगवान् महावीर प्रभु समस्त लोकमा शुद्ध कुन्दननी माफक सुशोभित छे ॥ २० ॥

मूल

हत्थीसु एरावणमाहु णाए,
सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो,
णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥ २१ ॥

(संस्कृतच्छाया)

हस्तिष्वैरावणमाहुर्ज्ञातं, सिंहो मृगाणां सलिलानां गंगा ।
पक्षिषु वा गरुत्मान् वेणुदेवो, निर्व्वाणवादिनामिह ज्ञातपुत्रः ॥२१॥

सं० टीका—हस्तिषु=करिवरेषु मध्ये, यथैरावतं=शक्रवाहनं ज्ञातं प्रसिद्धं "ऐरावतोऽभ्रमातंगैरावणाभ्रमुवल्लभाः इत्यमरः" । "कुंजरो, वारणो हत्थीत्यभिधानप्पदीपिका" । दृष्टान्तभूतं वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञाः, अथवा हस्तं रत्नं रत्नत्रयं तदस्यास्तीति हस्ती तेषु हस्तिषु, "हत्थो पाणिम्हि, रतने, गणे, सोण्डाय, भन्तरे; इति अभिधानप्पदीपिका" । ऐरावतो नागरंगमन्द्रच्छोभनीयः । अथवा हस्तो नागस्तोयदस्तन्मध्य ... इवेति । अथवा घृतवस्तुहस्तिषु हि ऐरावतो नारंगो नारंगसदृशः

मृगन्धिनरससमन्वितत्वात् । "ऐरावतो नागरंगो नादेयी भूमिजम्बुका इत्यमरः" । तथा मृगाणां हरिणादिवन्यजन्तूनां मध्ये यथा सिंहः केसरी, तथा भरतापेक्षया । सलिलानां नदीनां यथा गंगाजलं प्रधानभावमनुभवति नैर्मल्यत्वात् । पक्षिषु=पतत्रिषु यथा गरुत्मान् वेणुदेवाऽपरनामाप्राधान्येन व्यवस्थितः कथितः । एवं निर्वाणं सिद्धक्षेत्राख्यं कर्म्मणामत्यन्ताभावलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिहेतुतो वा वादितुं शीलं येषां ते तथा, तेषां मध्ये ज्ञाताः क्षत्रियास्तत्पुत्रोऽपत्यं ज्ञातपुत्रः श्रीमन्महावीरप्रभुरेव प्रधान इति, यथावस्थितनिर्वाणत्वादिति भावः ॥२१॥

अन्वयार्थ—और [हत्थीसु] सब हाथियोंमें [एरावणं] ऐरावत हाथी [णाए] प्रधान है [मिगाण] पशुओंमें [सीहो] सिंह जैसे प्रधान है, [सलिलाण] पानीओंमें [गंगा] गंगानदीका पानी निर्मलताके प्रधान है [वा] और [पक्खीसु] उड़नेवाले पक्षीओंमें [वेणुदेवे] वेणुदेव नामक [गरुले] गरुड़ पक्षी प्रधान है, उसी प्रकार [इह] समस्त कुमार्गोंमें [निव्वाणवादीण] मोक्षके माननेवालोंके अन्दरमें [णायपुत्ते] ज्ञातपुत्र श्रीवर्धमानस्वामीको प्रधान [आहु] कहते हैं ॥ २१ ॥

ऐरावनकी तरह उच्च कोटिकी है। अथवा हाथमे जिस प्रकार नारगी सुन्दर लगती है उसी तरह प्रभु भी जगती–तल पर नारगीकी तरह भव्य प्राणिओंके हृदयोमे सुन्दर लगते है । हरिणादिक जंगली जीवोमे सिह बलिष्ट होता है, इसी तरह भरत क्षेत्रकी अपेक्षा मानवसृष्टिमे वीर प्रभु सिहकी तरह आत्म–बलसे बलवान् थे, जैसे सब प्रकारके जलोमे गंगाजल अनेक औषधियोसे मिश्रित होनेके कारण निर्म्मल है, ऐसे ही प्रभु भी कर्म्म-लेपसे अलिप्त होनेसे अत्यन्त स्वच्छ हैं। और पक्षिओमे गरुड नामक वेणुदेव प्रधान है, इसी प्रकार निर्व्वाण अर्थात् जो सिद्धक्षेत्र है जहा कर्म्म–मलका अत्यन्त अभाव है, उसका स्वरूप बतानेमे तथा उसके पानेके उपाय बतानेमे ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु सर्व्वोपरि हैं । उनका निर्वाण सबमे उच्चकोटिका और अकाट्य है ॥ २१ ॥

गुजराती अनुवाद—जेम ऊंचा तथा सुन्दर हाथिओमा ऐरावत हाथी निरालक अने उत्तम छे, केमके तेनापर इन्द्र सवारी करे छे, अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप जे त्रण रत्नो छे, तेमा प्रभु पण हाथीनी पेठे जे ऊंचा छे, अथवा ते रत्नत्रय मनोहर तेमज उपादेय छे, अथवा हस्तिनो अर्थ वादळ पण थाय छे, जेमनी वाणी अमोघ वाणी छे, अने ऐरावत हाथीनी पेठे उच्च कोटिनी छे, अथवा जेम नारगी हाथमा सुदर लागे छे तेम प्रभु पण भूतल पर नारगीनी जेम भव्य प्राणीओना गा.. हृदयने सुदर लागे छे, मृगादिक जनावरोमा सिंह बलिष्ठ होय छे, तेम भरतक्षेत्रनी अपेक्षाए मानव सृष्टिमा श्रीवीरप्रभु कर्मरूप मृगोने जीतवा सारु सिंह समान आत्मबळमा बलवान् छे, अनेक प्रकारनी औषधि–युक्त होवाने लीधे गगाजल सर्व जळमा निर्मल छे, तेमज प्रभु पण कर्म लेपथी अलिप्त होवाने लीधे अत्यन्त विशुद्ध छे, पक्षिओने विषे गरुड [वेणुदेव] प्रधान छे, तेवीज रीते निर्वाण (सिद्ध) क्षेत्र के ज्या कर्ममळनो अत्यन्त अभाव छे, तेनुं स्वरूप बतावबामा तथा तेनी प्राप्तिनो उपाय बताववामा ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु सर्वोपरि छे ॥२१॥

मूल

जोहेसु णाए जह वीससेणे,
पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।
खत्तीणसेट्ठे जह दंतवक्के,
इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥ २२ ॥

संस्कृतच्छाया

योधेषु ज्ञातो यथा विश्वसेनः,
पुष्पेषु वा यथाऽरविन्दमाहुः ।
क्षत्रियाणां श्रेष्ठो यथा दान्तवाक्यः,
ऋषीणां श्रेष्ठस्तथा वर्द्धमानः ॥ २२ ॥

सं० टीका—योद्धेषु वीरपुरुषेषु भटेषु मध्ये ज्ञातो विदितो दृष्टान्तभूतो वा विश्वा—सेना हस्त्यश्वरथपदातिप्रभृतिचतुरंगबलसमेता (इति वृद्धा) यस्य स विश्वसेनश्चार्द्धचक्रवर्ती तथाऽसौ प्रधानः । "विष्वक्शेनो जनार्दन" इत्यमरः इत्यनेन विश्वसेनःशब्दः विष्वक्सेनस्यापभ्रंशोऽपिभवितुमर्हतीत्याधुनीका मताः । पुष्पेषु च "स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसून कुसुमं सुममित्यमरः ।" तन्मध्ये यथाऽरविन्दं महोत्पलकमलं "वा पुसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलमित्यमरः ।" प्रधानमाहुस्तथा क्षतात् रिपुकृतखण्डान्नष्टकर्म्मणस्त्रायन्त इति क्षत्रिया "राजञ्ञो, खत्तियो, खत्तं, मुद्धाभिसित्त, बाहुजा इत्यभिधानप्पदीपिका ।" "राजा तु खत्तिये वुत्तो नरनाहे पभुम्हि च" इत्यभिधानप्पदीपिका ।" राजानोऽपि तेषां मध्ये दान्ता उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवस्स दान्तवाक्यश्चक्रवर्ती "सब्बभुम्मो चक्कवत्ती इत्यभिधानप्पदीपिका ।" यथा चासौ श्रेष्ठः प्रधानस्तदेवममुना प्रकारेण बहून् दृष्टान्तान् प्रशस्तान् अनुकूलान् प्रदर्श्याधुना भगवन्तं महावीरजिनवरेन्द्रं दार्ष्टान्तिकं स्वनामग्राहमाह । तथैव ऋषीणां "तापसो तु इसी (रितो) इत्यभिधानप्पदीपिका ।" मध्ये श्रीमद्वर्धमानोऽन्तिमतीर्थंकरो महावीरस्वामी श्रेष्ठः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—[जह] जैसे [जोहेसु] योद्धाओंमें [वीससेणे] कृष्ण-वासुदेव [णाए] प्रधान है [वा] और [पुप्फेसु] फूलोंमें [अरविंदं] सहस्रदलकमल सुगन्धित होता है तथा [जह] जैसे [खत्तीण] क्षत्रियोंमें [दंतवक्के] चक्रवर्ती [सेट्ठे] प्रधान है [तह] उसी प्रकार [इसीण] ऋषियोंमें [वद्धमाणे] भगवान् वर्धमान [सेट्ठे] प्रधान [आहु] कहलाते थे ॥ २२ ॥

भावार्थ—कृष्ण-वासुदेवसे वढकर अन्य कोई योद्धा नही है, गन्धयुक्त फूलोंमें कमल अच्छा होता है, समस्त भूमिके क्षत्रियोमें चक्रवर्ती मुख्य कहलाता है, उसी भाति भगवान्-महावीर उस समयके सब ऋषि-मुनिओमे सर्वश्रेष्ठ थे ॥ २२ ॥

भाषा-टीका—लडाके वीरोमे पुष्कल हाथी, घोडे रथ पैदल आदि चतुरनीकका आधिपत्य भोक्ता अर्धचक्री वासुदेव कृष्ण प्रधान होता है। फूलोमे हजार पंखुडियोंवाला अरविंद नामक कमल श्रेष्ठ है। सताए गए वे मनुष्य जिसके कि-शत्रुओंने हृदयके सैंकडो टुकडे कर डाले हैं। तथा उन (कर्म्म रूपी) शत्रुओंसे जो सुरक्षित रखनेवाला हो वही क्षत्रिय होता है। उन्हींको दीप्तिमान राजा कहा जाता है। उनमे उपशान्त गुण प्रधान होता है जिसके कथन मात्रसे शत्रु शिथिल पड जाते हैं वही चक्रवर्ती भी होता है अत एव वह सबमे मुख्य है। इसी प्रकार इन सुन्दर दृष्टान्तोको जिनपर अनायासमे ही घटाया जाता हो ऐसे वे हमारे परम पवित्र वर्धमानस्वामी अन्तिम जिन-भगवान् सब ऋषिमहर्षियोंमें श्रेष्ठ थे ॥ २२ ॥

गुजराती अनुवाद—योद्धाओमा गज-अश्व-रथ-पायदल, ए चतुरगी सेनानो अधिपति अर्ध चक्रवर्ती वासुदेवकृष्ण सर्वोत्तम छे, फूलोमा हजार पाखडीवालुं अरविंद कमल श्रेष्ठ छे, शत्रु (कर्मरूपी शत्रु) थी रक्षा करनार क्षत्रिय कहेवाय छे, तेने दीप्तिमान् राजा कहे छे, तेनामा उपशान्त रस प्रधान होय छे, जेना कथन मात्र थी शत्रु शिथिल थई जाय छे, ते चक्रवर्तीज होय छे, ते सर्वोत्तम छे, तेवीज रीते आवा सुन्दर-दृष्टान्तो जेना पर घटी शके ते अमारा परम पवित्र, पतित पावन, जगदुद्धारक वर्धमान भगवान् अन्तिम जिन सर्व ऋषिओमा श्रेष्ठ छे ॥ २२ ॥

मूल

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं,
सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तमबंभचेरं,
लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥ २३ ॥

संस्कृतच्छाया

दानानां श्रेष्ठं अभयप्रदानं, सत्येषु वाऽनवद्यं वदन्ति ।
तपस्सु वोत्तमं ब्रह्मचर्य्यं, लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥ २३ ॥

सं० टीका—तथा च स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानं, अथवा स्व-स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोपादानं दानं, यद्वा श्रद्धा भक्तिस्तया परिग्रहममत्वत्यागभावेन कर्म्मनिर्जराऽर्थं चानुकम्पया यद्दीयते तद्दानं,* तच्चतुर्धा वाऽनेकधा, परन्तु तेषां दानानां मध्ये प्राणिनां जीवानां

---

* तुष्टिश्रद्धाविनयभजना लुब्धता क्षान्तिसत्वप्राणत्राणव्यवसितगुणज्ञान-कालज्ञताढ्य । दानाशक्तिर्जननमृतिमिश्रास्तिको मत्सरेर्ष्यो, दक्षात्मा यो भवति स नरो दातृमुख्यो जिनोक्त ॥ कालेऽन्नस्य क्षुधमवहितो दित्समानो विधृत्य, नो भोक्तव्यं प्रथममतिथेर्यस्सदा तिष्ठतीति । तस्याप्राप्तावपि गतमलं पुण्यराशिं श्रयन्तं, तं दातारं जिनपतिमते मुख्यमाहुर्जिनेन्द्रा ॥ सर्व्वाभीष्टा बुधजननुता धर्मकामार्थमोक्षा, सत्सख्याना वितरणपरा दु खविध्वंसदक्षा । लब्धुं शक्या जगति नयतो जीवितव्यं विनैव, तद्दानेन ध्रुवमसुभृता किं न दत्तं ततोऽत्र ॥ कृत्याकृत्ये कलयति यतः कामकोपौ लुनीते, धर्मे श्रद्धा रचयति परा पापबुद्धिं धुनीते । अक्षार्थेभ्यो विरमति रजो हन्ति चित्तं पुनीते । तद्दातव्यं भवति विदुषा शास्त्रमत्र व्रतिभ्य ॥ भार्य्या-भ्रातृस्वजनतनयान्यन्निमित्तं त्यजन्ति, प्रज्ञासत्वव्रतसमितयो यद्विना यान्ति नाशम् । क्षुद्दु खेन ग्लपितवपुषो भुंजते च त्वभक्ष, तद्दातव्यं भवति विदुषा सयतायान्न-शुद्धम् ॥ सम्यग् विद्याशमदमतपोध्यानमौनव्रताढ्यं, श्रेयोहेतुर्गतरुजि तनौ जायते येन सर्वम् । तत्साधूना व्यथितवपुषा तीव्ररोगप्रपञ्चैस्तद्रक्षार्थं वितरत जना प्राशु-कान्यौषधानि ॥ सावद्यत्वान्महदपि फल नो विधातुं समर्थं, कन्यास्वर्णद्विपहयध-रागोमहिष्यादिदानम् । त्यक्त्वा दद्याज्जिनमतदयाभेषजाहारदानं, भूत्वाऽप्यल्पं विपुलफलदं दोषमुक्तं वियुक्तम् ॥ नीतिश्रीतिश्रुतिमतिधृतिज्योतिभक्तिप्रतीति, प्रीति-ज्ञातिस्मृतिरतियतिख्यातिशक्तिप्रगीति । यस्माद्देही जगति लभते नो विना भोजनेन तस्माद्दानं स्युरिह ददता ता समस्ता प्रशस्ता ॥ दर्पोद्रेकव्यसनमथनक्रोधयुद्ध-प्रबाधा पापारम्भक्षितिहतधिया जायते तन्निमित्तम् । यत्सगृह्य श्रयति विषयान् दु खित यत्स्वयं स्याद्दु खाद्य प्रभवति न तच्छ्लाघ्यतेऽत्र प्रदेयम् ॥ साधू रत्नत्रि-तयनिरतो जायते निर्जिताक्षो, धर्म्मं दत्ते व्यपगतमलं सर्व्वकल्याणमूलम् । राग-द्वेषप्रभृतिमथन यद्गृहीत्वा विधत्ते, तद्दातव्यं भवति विदुषा देयमिष्टं तदेव ॥ धर्म्मध्यानव्रतसमितिभृत्सयतश्चारु पात्रं, व्यावृत्तात्मात्रसहननत श्रावको मध्यमं तु । सम्यग्दृष्टिर्व्रतविरहित श्रावक स्याज्जघन्यमेव त्रेधा जिनपतिमते पात्रमाहुः

"सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरीजिउं" वा जीवो जीवितु-मिच्छतीत्युक्तत्वाज्जीवितार्थिनां वाऽभयदानं त्राणकारित्वाच्च श्रेष्ठं ।

श्रुतज्ञा ॥ यो जीवाना जनकसदृश सत्यवाग्दत्तभोजी, सप्रेमस्त्रीनयनविशिखाभिन्न-चित्त स्थिरात्मा, द्वेधा ग्रन्थादुपरममना सर्व्वथा निर्जिताक्षो, दातुं पात्रं व्रतपति-ममुं वर्यमाहुर्जिनेन्द्रा ॥ यद्वत्तोयं निपतति घनादेकरूपं रसेन, प्राप्याधारं सगुण-मगुणं याति नानाविधित्वम् । तद्वद्दानं सफलमफलं प्राप्यमप्येति मत्वा, देयं दानं समयमभृता सयताना यतीनाम् ॥ यद्वत्क्षिप्तं गलति सकलं छिद्रयुक्ते घटेऽम्भस्ति-क्तालाबूनिहितमहितं जायते दुग्धमद्यम् । आमामत्रे रचयति मिदा तस्य नाशं च याति, तद्वद्दत्तं विगततपसे केवलं ध्वंसमेति ॥ शश्वच्छीलव्रतविरहिता क्रोधलोभा-दिवन्तो, नानारम्भप्रहितमनसो ये मदग्रन्थशक्ता । ते दातार कथमसुखतो रक्षितुं सन्ति शक्ता, नावा लोहं न हि जलनिधेस्तार्य्यते लोहमय्या ॥ क्षेत्रद्रव्यप्रभृतिस-मयान् वीक्ष्य बीजं यथोप्तं, दत्ते सस्यं विपुलममलं चारुसस्कारयोगात् । दत्तं पात्रे गुणवति तथा दानमुक्तं फलाय, सामग्रीतो भवति हि जने सर्व्वकार्यप्रसिद्धि ॥ नानादु खव्यसननिपुणान्नाशिनोऽतृप्तिहेतु, कर्म्मारातिप्रचयनपरास्तत्वतो वेत्यभो-गान् । मुक्त्वाकाक्षा विषयविषया कर्म्मनिर्नाशनेच्छो, दद्याद्दानं प्रगुणमनसा संय-तायापि विद्वान् ॥ यस्मै गत्वा विषयमपर दीयते पुण्यवद्भि, पात्रे तस्मिन् गृह-मुपगते सयमाधारभूते ॥ नो यो मूढो वितरति धने विद्यमानेऽप्यनल्पे, तेनात्मात्र स्वयमपधिया वञ्चितो मानवेन ॥ दीर्घायुष्क शशिसितयशोव्याप्तदिक्चक्रवाल, सद्विद्याश्रीकुलबलधनप्रीतिकीर्तिप्रताप । शूरो धीरः स्थिरतरमना निर्भयश्चारुरूप स्त्यागी भोगी भवति भविना देह्यमीतिप्रदायी । कर्म्मारण्यं दहति शिखिवन्मातृ-वत्पातिदु खात्सम्यङ्नीतिं वदति गुरुवत्स्वामिवद्बिभर्ति । तत्वातत्वप्रकटनपटुस्पष्ट-माप्नोति पूतं, तत्सज्ञानं विगलितमलं ज्ञानदानेन मर्त्य ॥ दाता भोक्ता बहुधनयुतः सर्व्वसत्वानुकम्पी, सत्सौभाग्यो मधुरवचन कामरूपातिशायी; शश्वद्भक्त्या बुधज-नगतै सेवनीयाङ्घ्रियुग्मो, मर्त्य प्राज्ञो व्यपगतमदो जायतेऽन्नस्य दानात् ॥ रोगैर्वात-प्रभृतिजनितैर्वन्हिभिर्वाम्बुमग्न सर्व्वाङ्गीणव्यथनपटुभिर्बाधितुं नो स शक्य । आज-न्मान्त परमसुखिना जायते चौषधाना, दाता यो निर्भरकुलवपु स्थानकान्तिप्रताप ॥ दत्वा दानं जिनमतरुचि कर्मनिर्नाशनाय, भुक्त्वा भोगास्त्रिदशवसतौ दिव्यनारीसनाथः मर्त्यावासे वरकुलवपुर्जैनधर्मं विधाय, हत्वा कर्म्म स्थिरतररिपुं मुक्तिसौख्यं प्रयाति ॥

यतः

"यथा मम प्रियाः प्राणास्तथाऽन्यस्यापि देहिनः ।
इति मत्वा न कर्तव्यो, घोरप्राणिवधो बुधैः ॥"

अन्यच्च—

"अहिंसा परमो धर्म्मो, हिंसा सर्वत्र निन्दिता"

इति श्लोकमर्धमभ्यस्य स्वमनसि सदैव दयैव धारणीया, यदि कोऽपि लोभावेशेन रसनातृप्तये धनार्जनाशया विजयाभिलाषेण च आमोदप्रमोदार्थं जन्तून्निहन्यात्तदा तेषां नरकपतनमवश्यं भावि । पातञ्जलयोगदर्शनादावपि चाहिंसायामेव प्रमुखत्वम्, यथाह—

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः"

अहिंसा–सत्यमित्यादियमास्तेषां मध्येऽहिंसैव प्राथमिकी;

पुनश्च—

"वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्"

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदु-मध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।

तथा चान्यदपि—

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधाने वैरत्यागः ।" तद्विपक्षिणी हिंसा तस्य लक्षणं यथा—

"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा"

प्रमत्तो यः कायवाङ्मनोयोगैः प्राणव्यपरोपणं करोति सा हिंसा । हिंसा, मारणं, प्राणातिपातः, प्राणवधो, देहान्तरसंक्रामणं, प्राणव्यपरोप-पणमित्यनर्थान्तरम् । न हिंसाऽहिंसा । इति तत्वार्थसूत्रम्, तथा च योगसूत्रस्य व्यासकृतभाष्येऽपि 'तत्राऽहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूता-नामभिद्रोहः ।'

तथैव याज्ञवल्क्यसंहितायाम्—

"कर्म्मणा मनसा वाचा, सर्व्वभूतेषु सर्व्वदा,
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसत्वेन योगिभिः ।"

तस्यां स्मृतावाचाराध्याये—

"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दया दमः शान्तिः, सर्व्वेषां धर्मसाधनम् ॥

"मा हिंसीः पुरुषं जगदिति" **यजुर्वेदसंहितायां षोडशोऽध्यायस्तृतीयमन्त्रः ।**

मा हिंस्यात् सर्व्वाभूतानीति **'शतपथे'** ।

तथा च मनुः—पंचमाध्याये

"योऽहिंसकानि भूतानि, हिनस्त्यात्महितेच्छया,
स जीवॅश्च मृतश्चैव, न क्वचित्सुखमेधते" ॥ ४५ ॥

पुनश्च मनुः—

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
अहिंसा सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम् ॥"

तथा च महाभारते—

"अहिंसा परमो धर्मो हिंसाऽधर्मस्तथाविधः ।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि, यो धर्मः सत्यवादिनाम् ॥"

धार्मिजनानामुत्कृष्टं प्राथमिकं धर्मन्त्वहिंसैवेति यथा—

"अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥"

"अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥"

"सर्वयज्ञेषु वा दानं, सर्वतीर्थेषु वा स्तुतम् ।
सर्वदानफलं वापि, नैव तुल्यमहिंसया ॥"

तथाहि नियमसारे—

कुलजोणिजीवमग्गण—ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं ।
तस्सारंभनियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं ॥ ५६ ॥
कुलयोनिजीवमार्गणास्थानेषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।
तस्यारंभनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ॥ ५६ ॥

कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणस्थानविकल्पाश्च प्रागेव प्रतिपादितास्तत्रैव तेषां भेदान् बुध्वा तद्रक्षापरिणतिरेव भवत्यहिंसा । तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो नास्ति । अतः प्रयत्नपरेऽहिंसाव्रतं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिना—

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न हि विकृतिवेषोपधिरतः ॥"

मुनीनामहिंसा सर्वथा पालनीया—हिंसायाः फलं दुष्परिणामात्मकं परिजानीहि यथा—

"पगुकुष्ठिकुणित्वादि, दृष्ट्वा हिसाफलं सुधीः ।
निरागस्त्रसजन्तूनां, हिंसां सकल्पतस्त्यजेत् ॥"
"आत्मवत्सर्वभूतेषु, सुखदुःखे प्रियाप्रिये,
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां, हिंसामन्यस्य नाचरेत् ।"

यदाहुर्लौकिका अपि ।

"श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्य्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥"

राज्यादधिकं प्राणाः प्रियाः । यथा—

"प्राणी प्राणितलोभेन, यो राज्यमपि मुञ्चति ।
तद्वधोत्थमघं सर्वोर्वीदानेऽपि न शाम्यति ॥"

"मार्य्यमाणस्य हेमाद्रिं, राज्यं वाऽथ प्रयच्छतु ।
तदनिष्टं परित्यज्य, जीवो जीवितुमिच्छति ॥"

"दीर्य्यमाणः कुशेनापि, यः स्वांगे हन्त दूयते ।
निर्मन्तून् स कथं जन्तूनन्तयेन्निशितायुधैः ॥"

तथोक्तं—

"रसातलं यातु यदत्र पौरुषं, क्व नीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान्;
निहन्यते यद्बलिनातिदुर्व्बलो, हहा महाकष्टमराजकं जगत् ॥"

पुनश्च—"म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि, देही भवति दुःखितः ।
मार्य्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः स कथं भवेत् ॥"

पुनरपि हिंसकान्निन्दति—

"कुणिर्वरं वरं पंगुरशरीरी वरं पुमान् ।
अपि सम्पूर्णसर्वांगो, न तु हिंसा परायणः ॥"

स्वार्थिकी हिंसाऽपि हानीया, यथा—

"हिंसा विघ्नाय जायेत, विघ्नशान्त्यै कृतापि हि ।
कुलाचारधियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी ॥"

"अपि वंशक्रमायातां, यस्तु हिंसां परित्यजेत् ।
स श्रेष्ठः सुलस इव, कालसौकरिकात्मजः ॥"

॥ हिंसां कुर्वन्न विशोधयति निजात्मानम् ॥

"दमो देवगुरूपास्तिर्दानमध्ययनं तपः ।
सर्वमप्येतदफलं, हिंसां चेन्न परित्यजेत् ॥"

॥ शास्त्रे सूक्ष्महिंसां धर्मार्थं प्ररूपकोऽपि कुशास्त्रः ॥

"विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः, पात्यते नरकावनौ ।
अहो नृशंसैर्लोभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥"

अहिंसामाहात्म्यम्—

"मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणीः ।
अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारिणिः ॥"

"अहिंसा दुःखदावाग्निप्रावृषेण्यघनावली ।
भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधिः ॥"

अस्याः फलम्

"दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता ।
अहिंसायाः फलं सर्वं, किमन्यत्कामदेव सा ॥"

अत्रान्तरे—

हेमाद्रिः पर्वतानां हरिरमृतभुजां चक्रवर्ती नराणां,
शीतांशुर्ज्योतिषां स्वस्तरुरवनिरुहां चण्डरोचिर्ग्रहाणाम् ॥
सिन्धुस्तोयाशयानां जिनपतिरसुरामर्त्यमर्त्याधिपानां,
यद्वत्तद्वद्व्रतानामधिपतिपदवीं यात्यहिंसा किमन्यत् ॥

अत एव प्राणवियोगानुकूलो व्यापारो हिंसा सर्वशास्त्रे निषिद्धैव । जैनैरपि प्राणिनामतिपातो दुःखं प्राणातिपातो विरतिरूपः सर्वतः साधूनां, देशतः श्रावकाणां चेति भावः । जीवानां जीवनवल्लभत्वा- यथाऽऽह—

"दीयते म्रियमाणस्य, कोटिर्जीवितमेव वा,
धनकोटिं परित्यज्य, जीवो जीवितुमिच्छति ॥"

अत्राभयदानप्रदानप्राधान्यख्यापनार्थमुदाहरणं चेदम् ।

वसन्तपुरेऽरिदमननामा राजाऽऽसीत् स कदाचित्प्रासादस्थो हि चतुर्वधूसमेतश्च क्रीडति स्म । ताभिरपि स्वस्वकलाभिर्महीपं प्रमोदयित्वा वरो लब्धः । पुनश्च राज्ञीभी राज्ञि स वरो न्यासीकृतः । एकदा कश्चिच्चौरो रक्तश्यामकरवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानः प्रहत-वध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः राजपत्नीभिर्दृष्टो नृपेण सह दृष्ट्वा च पृष्टं, 'किमनेनाकारी'ति तदैकेन राजपुरुषेणावेदितं, यथानेन परद्रव्याद्यपहारेण राजविरुद्धं धर्मविरुद्धं च कर्म कृतं तस्य परिणामस्वरूपो राज्ञा प्राणदण्डो दत्तश्चास्ते, ततस्तन्मध्य एकया महत्या राज्या नृप-पार्श्वे पूर्वदत्तो वरो याचित एकदिनं चोरोऽयं मोच्यो, यथाऽहमुप-करोमीति । वरं प्राप्य च भोजनादिना स्वागतं कृत्वा स्वर्णखण्डसहस्र-दानैस्तुष्टीकृतः सः । द्वितीयदिने द्वितीयया लक्षधनैः सत्कृतः । तृती-यया कोटिमितैः स्वागतीकृतः । चतुर्थ्या तु राजानुमत्याऽऽमरणाद्र-क्षितः । अभयवचनं दापितमभयदानेन ततस्तास्तामुपहस्याहुः । त्वयास्य किं दत्तम् । तयोक्तं मया यद्दत्तं तत्काभिरपि न दत्तं । एवं तासां पारस्परिकेऽधिकोपकारविषये विवादे न्यायार्थं राजाऽऽकारितस्ततो राज्ञोपगम्य, कलहकारणं पृष्टं, तदा ताभिरावेदितं, अस्माकं मध्ये केनाधिकमुपकृतम् । राज्ञा स एव चोर आहूतः पृष्टश्चेति यथा त्वया-कस्या उपकारोऽमानितः । तेनाऽभाणि, 'चतुर्थ्या मात्राऽभयं दापयित्वा निर्भयः कृतः । अतस्तस्या बहूपकारं मन्ये,' सर्वदानानां मध्येऽभय-दानस्यप्रधानत्वात् ।

तथा च सत्येषु वाक्येषु यदनवद्यं पापरहितं परपीडाऽनुत्पादकं वचनं तच्छ्रेष्ठं वदन्ति । यथाह दशवैकालिके—

"तहेव काणं काणेति, पंडगं पंडगं ति वा
वाहियं वावि रोगित्ति; तेण चोरेति नो वए ।"

तथा च मनुः ।

"सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं तन्नानृतं ब्रूयादिति" ।

एवमेव तत्वार्थसूत्रे—

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥ ७ ॥

असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गर्हा च । तत्र सद्भावप्रतिषेधो नाम सद्भूतनिन्हवोऽभूतोद्भावनं च । तद्यथा नास्त्यात्मा, नास्तिपरलोकः, इत्यादि भूतनिन्हवः । श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा अंगुष्ठपर्वमात्रोऽयमात्मा, आदित्यवर्णो, निष्क्रिय इत्येवमाद्यमभूतोद्भावनम् । अर्थान्तरं यो गां ब्रवीत्यश्वमश्वं च गामिति । गर्हेति हिंसापारुष्यपैशुन्यादियुक्तं वचः सत्यमपि गर्हितमनृतमेवास्तीति भावः ।

एतन्मध्य एतत्प्रमाणानि—यथा—

"क्रोधलोभमदद्वेषरागमोहादि कारणैः, असत्यस्य परित्यागः सत्याणुव्रतमुच्यते ।" "हासकर्कशपैशुन्यनिष्ठुरादिवचो मुचः । द्वितीयाणुव्रतं पूतं, लभंते देहिनः स्थितिम् ॥"

"यद्वदन्ति शठा धर्म्मं, यन्म्लेच्छेष्वपि निन्दितम् ।
वर्जनीयं त्रिधा वाक्यमसत्यं तद्धितोद्यतैः ॥"

पुनर्यत्रासत्यप्रसंगः समजनि तत्र मौनं कार्य परमसत्यं न वाच्यं, यथा हि सागारधर्मामृते—

"आवश्यके मलक्षेपे, पापकार्ये च वान्तिवत्,
मौनं कुर्वीत शश्वद्वा, भूयो वाग्दोषविच्छिदे ।"

मौनमाहात्म्यं यथा—

"सन्तोषं भाव्यते तेन, वैराग्यं तेन दर्श्यते ।
संयमः पोष्यते तेन, मौनं येन विधीयते ॥"

"लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम् ।
ततश्च समवाप्नोति, मनः सिद्धिं जगत्त्रये ॥"

"वाणी मनोरमा तस्य, शास्त्रसन्दर्भगर्भिता ।
आदेया जायते येन, क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥"

"पदानि यानि विद्यन्ते, वन्दनीयानि कोविदैः ।
सर्वाणि तानि लभ्यन्ते, प्राणिना मौनकारिणा ॥"

"न सार्वकालिके मौने, निर्वाहव्यतिरेकतः ।
उद्योतनं परं प्राज्ञैः, किंचनापि विधीयते ॥"

त्याणुव्रतरक्षणार्थमाह—

"कन्यागोक्ष्मालीककूटसाक्ष्यन्यासापलापवत् ।
स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥"

नियमसारेऽप्येवम्—

"रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा मोसभासऽपरिणामं ।
जो पजहहि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव" ॥ ५७ ।

{ रागेण वा द्वेषेण वा मृषाभाषा परिणामं ।
य: प्रजहाति साधुः सदा द्वितीयव्रतं भवति तस्यैव }

अत्र मृषापरिणामः सत्यप्रतिपक्षः, स च रागेण वा द्वेषेण व

मोहेन वा जायते तदा यः साधुः आसन्नभव्यजीवस्तं परिणामं परित्यजति तस्यैव द्वितीयं व्रतं भवतीति ।

"व्यक्तिव्यक्तं सत्यमुच्चैर्जपन् यः । स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात् ॥
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः, सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ॥"

अलीकफलमुपदर्शयति यथा—

"मन्मनत्वं काहलत्वं, मूकत्वं मुखरोगिताम् ।
वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालीकाद्यसत्यमुत्सृजेत् ॥"

"मूकाजडाश्च विकला, वाग्घीना वाग्जुगुप्सिताः ।
पूतिगन्धमुखाश्चैव, जायन्तेऽनृतभाषिणः ॥"

पुनश्च प्रतिषेधमाह—

"सर्वलोकविरुद्धं यद्यद्विश्वसितघातकम् ।
यद्विपक्षश्च पुण्यस्य, न वदेत्तदसूनृतम् ॥"

पुनश्च—

"असत्यतो लघीयस्त्वमसत्याद्वचनीयता ।
अधोगतिरसत्याच्च, तदसत्यं परित्यजेत् ॥"

"असत्यवचनं प्राज्ञः, प्रमादेनापि नो वदेत् ।
श्रेयांसि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमाः ॥"

॥ यदाहुर्महर्षयः सय्यम्भवाः, दशवैकालिके ॥

"अइअम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पण्णमणागए,
जमट्ठं तु न जाणेज्जा, एवमेअं ति णो वए ।"

{ अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते,
यमर्थं तु न जानीयात्, 'एवमेतत्' इति नो वदेत् । }

"अइअम्मि य कालम्मि, प्पच्चुप्पण्णमणागए ।
जत्थ सक्का भवे तं तु, एवमेअं ति णो वए ।"

"अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते, ॥
यत्र शङ्का भवेत्तत्तु, 'एवमेतत्' इति नो वदेत् ॥"

{ अइअम्मि य कालम्मि, प्पच्चुप्पन्नमणागए
निस्संकिअं भवे जं तु, एवमेअं तु निद्दिसे । }

"अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते ॥
निश्शङ्कितं भवेद्यत्तु, 'एवमेतत्' तु निर्दिशेत् ॥"

पुनरप्यैहिकान् दोषानाह—

"असत्यवचनाद्वैरविषादाप्रत्ययादयः ।
प्रादुःषन्ति न के दोषाः, कुपथ्याद्व्याधयो यथा ॥"

"निगोदेष्वपि तिर्य्यक्षु, तथा नरकवासिषु ।
उत्पद्यन्ते मृषावादप्रसादेन शरीरिणः ॥"

"अल्पादपि मृषावादाद्रौरवादिषु संभवः ।
अन्यथा वदतां जैनीं, वाचं त्वहह का गतिः ॥"

"ज्ञानचारित्रयोर्मूलं, सत्यमेव वदन्ति ये ।
धात्री पवित्री क्रियते, तेषां चरणरेणुभिः ॥"

"अलीकं ये न भाषन्ते, सत्यव्रतमहाधनाः ।
नापराद्धुमलं तेभ्यो, भूतप्रेतोरगादयः ॥"

"शिखी मुण्डी जटी नग्नश्चीवरी यस्तपस्यति ।
सोऽपि मिथ्या यदि ब्रूते, निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥"

"एकत्रासत्यजं पापं, पापं निश्शेषमन्यतः ।
द्वयोस्तुलाविधृतयोराद्यमेवातिरिच्यते ॥"

"पारदारिकदस्यूनामस्ति काचित्प्रतिक्रिया ।
असत्यवादिनः पुंसः, प्रतीकारो न विद्यते ॥"

"कुर्वन्ति देवा अपि पक्षपातं, नरेश्वराः शासनमुद्वहन्ति ।
शीती भवन्ति ज्वलनादयो यत्तत् सत्यवाचां फलमामनन्ति ॥"

तथा च ज्ञानार्णवेऽप्याह—

"यः संयमधुरां धत्ते, धैर्यमालम्ब्य संयमी,
स पालयति यत्नेन, वाग्वने सत्यपादपम् ।"

"अहिंसाव्रतरक्षार्थं, यमजातं जिनैर्मतम् ।
नारोहति परां कोटिं, तदेवासत्यदूषितम् ॥"

"असत्यमपि तत्सत्यं, यत्सत्वाशंसकं वचः ।
सावद्यं यच्च पुष्णाति, तत्सत्यमपि निन्दितम् ॥"

"अनेकजन्मक्लेशानां, शुद्ध्यर्थं यस्तपस्यति ।
सर्वं सत्वहितं शश्वत्स ब्रूते सूनृतं वचः ॥"

"सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं, वचः शास्त्रे प्रशस्यते ॥"

"मौनमेव हितं पुंसां, शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।
वचो वाचि प्रियं तथ्यं, सर्वसत्वोपकारि यत् ॥"

"असद्वदनवल्मीके, विशाला विषसर्प्पिणी,
उद्वेजयति वागेव, जगदन्तर्विषोल्बणा ॥"

"पृष्टैरपि न वक्तव्यं, न श्रोतव्यं कथंचन ।
वचः शंकाकुलं पापं, दोषाढ्यं चाभिसूयकम् ॥"

"मर्म्मच्छेदि मनःशल्यं, च्युतस्थैर्यं विरोधकम् ।
निर्दयं च वचस्त्याज्यं, प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥"

"धर्मनाशे क्रियाध्वंसे, सुसिद्धान्तार्थविप्लवे ।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं, तत्स्वरूपप्रकाशने ॥"
"या मुहुर्मोहयत्येव, विश्रान्ता कर्णयोर्जनम् ।
विषमं विपमुत्सृज्य, साऽवश्य पन्नगी न गीः ॥"
"न तथा चन्दनं चन्द्रो, मणयो मालतीस्रजः ।
कुर्वन्ति निर्वृतिं पुंसां, यथा वाणी श्रुतिप्रिया ॥"
"अपि दावानलप्लुष्टं, शाड्वलं जायते वनम् ।
न लोकः सुचिरेणापि, जिह्वानलकदर्थितः ॥"
"सतां विज्ञाततत्वानां, सत्यशीलावलम्बिनाम् ।
चरणस्पर्शमात्रेण, विशुद्ध्यति धरातलम् ॥"
"नृजन्मन्यपि यः सत्यप्रतिज्ञाप्रच्युतोऽधमः ।
स केन कर्म्मणा पश्चाज्जन्मपङ्कात्तरिप्यति ॥"
"खण्डितानां विरूपाणां, दुर्विधानां च रोगिणाम् ।
कुलजात्यादिहीनानां, सत्यमेकं विभूषणम् ॥"
"न हि स्वप्नेऽपि संसर्गमसत्यमलिनैः सह ।
कश्चित्करोति पुण्यात्मा, दुरितोल्मुकशंकया ॥"
"सुतस्वजनदारादिवित्तबन्धुकृतेऽथवा ।
आत्मार्थे न वचोऽसत्यं, वाच्यं प्राणात्ययेऽपि च ॥"

इत्यादिप्रमाणैः सत्यमनवद्यं पापरहितमेव श्रेष्ठम् ॥

(अथ ब्रह्मचर्यमाह—)

तपस्सु चेच्छाया निरोधव्यापारेषु द्वादशप्रकारेषु मध्ये यथैवोत्तमं नवविधब्रह्मचर्यगुप्त्युपेत ब्रह्मचर्यं प्रधानं भवति । कमनीयकामिनी-मनोहराङ्गनिरीक्षणाद्वारेण समुपजनितकौतूहलचित्तवाञ्छापरित्यागेनाथवा

स्ववेदोदयाभिधाननोकषायतीव्रोदयेन संजातमैथुनसंज्ञापरित्यागलक्षण-शुभपरिणामेन च ब्रह्मचर्य्यं श्रेष्ठं भवति सर्वेषु तपस्स्विति भावः ।

आह च—

"भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूतिं, स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वचः किम्; सहजपरमतत्वं स्वस्वरूपं विहाय व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्तम् ।"

॥ अब्रह्म दोषा यथा— ॥

"सन्तापरूपो मोहांगसादतृष्णानुबन्धकृत् ।
स्त्रीसम्भोगस्तथाप्येष, सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥"

॥ परदाररतौ सुखाभावः, अनायुष्यकारित्वं च ॥ यथा—

"न हीदृशमनायुष्यं, लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह, परदाराभिमर्शनम् ॥"

अथ ब्रह्मचर्य्यमाहात्म्यमाह—

"स्वस्त्रीमात्रेऽपि सन्तुष्टो, नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रियः सदा ।
सोऽप्यद्भुतप्रभावः स्यात्किं वर्ण्यं वर्णिनः पुनः ॥"

॥ ब्रह्मचारिणीं सतीं दृष्टान्तेन स्पष्टयति— ॥

"रूपैश्वर्य्यकलावर्य्यमपि सीतेव रावणम् ।
परपूरुषमुज्झन्ती, स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥"

अन्यच्च तत्वार्थसूत्रे—

स्त्रीमैथुनमब्रह्म— ॥ ११-७

स्त्रीपुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म्म वा मैथुनं,

तदब्रह्म—

अन्यच्चापि—

"मातृस्वसृसुतातुल्या, निरीक्ष्य परयोषितः ।
स्वकलत्रेण यस्तोपश्चतुर्थं तदणुव्रतम् ॥"

"दुःखानां निधिरन्यस्त्री, सुखानां प्रलयानलः ।
व्याधिवद्दुःखवत्त्याज्या, दूरतः सा नरोत्तमैः ॥"

"स्वभर्तारं परित्यज्य, या परं याति निस्त्रपा ।
विश्वास श्रयते तस्यां, कथमन्यः स्वयोषिति ॥"

"किं सुखं लभते मर्त्यः सेवमानः परस्त्रियम् ।
केवलं कर्म्म बध्नाति, श्वभ्रभूम्यादिकारणम् ॥"

यतः—

"विन्दन्ति परमं ब्रह्म, यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्य्यं स्याद्धीरधौरेयगोचरम् ॥"

"एकमेव व्रतं श्लाघ्यं, ब्रह्मचर्य्यं जगत्त्रये ।
यद्विशुद्धिं समापन्ना. पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥"

तन्मते दशधा मैथुनम्—

"आद्यं शरीरसस्कारो, द्वितीयं वृष्यसेवनम्,
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्, संसर्गस्तुर्य्यमिष्यते ।
योषिद्विषयसकल्पः, पञ्चमं परिकीर्तितम् ।
तदंगवीक्षणं षष्ठं, संस्कारः सप्तमं मतम् ॥"

"पूर्वानुभोगसम्भोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनीचिन्ता, दशमं वस्तिमोक्षणम् ॥"

"किम्पाकफलसभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥"

"विरज्य कामभोगेषु, ये ब्रह्म समुपासते ।
एते दश महा दोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥"
"सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रातैः, प्लावितोऽप्यम्बुराशिभिः ।
न हि त्यजति सन्तापं, कामवह्निप्रदीपितः ॥"
"मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने, व्यभ्रे नभसि भास्करः ।
न प्लोषति तथा लोकं, यथा दीप्तः स्मरानलः ॥"
"हृदि ज्वलति कामाग्निः, पूर्वमेव शरीरिणाम् ।
भस्मसात्कुरुते पश्चादंगोपाङ्गानि निर्दयः ॥"
भोगिदंष्टस्य जायन्ते, वेगाः सप्तैव देहिनः ।
"स्मरभोगीन्द्रदंष्टानां दश स्युस्ते भयानकाः ॥"

इमे ते दश—यथा—

"प्रथमे जायते चिन्ता, द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥"
"पंचमे दह्यते गात्रं, षष्ठे भक्तं न रोचते ।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा, उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥"
"नवमे प्राणसन्देहो, दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।
एतैर्वेगैः समाक्रान्तो, जीवस्तत्वं न पश्यति ॥"
"नासने शयने याने, स्वजने भोजने स्थितिम् ।
क्षणमात्रमपि प्राणी, प्राप्नोति स्मरशल्यतः ॥"
"दक्षो मूढः क्षमी क्षुद्रः, शूरो भीरुर्लघुर्गुरुः ।
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो, जनः स्यात्स्मरवंचितः ॥"
"यदि प्राप्तं त्वया मूढ!, नृत्वं जन्मोग्रसंक्रमात् ।
तदा तत्कुरु येनेयं, स्मरज्वाला विलीयते ॥"

इदानीमामुष्मिकमैहिकं चाब्रह्मफलमुपदर्श्य गृहस्थोचितं पुनरपि ब्रह्मचर्य्यव्रतमाह—

"षण्ढत्वमिन्द्रियच्छेदं, वीक्ष्याऽब्रह्मफलं सुधीः ।
भवेत्स्वदारसन्तुष्टोऽन्यदारान् वा विवर्जयेत् ॥"

"रम्यमापातमात्रे यत्परिणामेऽतिदारुणम् ।
किम्पाकफलसंकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥"

"यद्यपि निषेव्यमाणा, मनसः परितुष्टिकारका विषयाः ।
किम्पाकफलादनवद्भवन्ति पश्चाददतिदुरन्ताः ॥"

"कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः ।
राजयक्ष्मादिरोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ॥"

"योनियन्त्रसमुत्पन्नाः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः ।
पीड्यमाना विपद्यन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ॥"

योनौ जन्तुसद्भावं वात्स्यायनः कामशास्त्रकारोऽप्याह ।

वात्स्यायनश्लोको यथा—

"रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा, मृदुमध्याधिशक्तयः ।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं, जनयन्ति तथाविधाम् ॥"

कामज्वरचिकित्सार्थमौषधमिव मैथुनसेवनमिति यो मन्येत तं प्रत्याह—

"स्त्रीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।
स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति ॥"

इतर अप्याहुः—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्धते ॥"

॥ स्त्रियाऽपि परपुरुषो भुजग इव त्याज्यः ॥

"ऐश्वर्य्ये राजराजोऽपि रूपे मीनध्वजोऽपि यः ।
सीतया रावण इव, त्याज्यो नार्य्या नरः परः ॥"

पुनश्च—"प्राणभूतं चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं, पूजितैरपि पूज्यते ॥"

यतः—"चिरायुषः सुसंस्थाना, दृढसंहनना नराः ।
तेजस्विनो महावीर्य्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्य्यतः ॥"

एतैर्ज्ञायते ब्रह्मचर्यमाहात्म्यम् ॥

तथैव सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा सर्वातिशायिन्या क्षायकज्ञानदर्शन-शीलैर्ज्ञातपुत्रो ज्ञातनन्दनोऽन्तिमजिनः श्रमणः प्रधानः ॥ यतो भगवतो महावीरस्य बहूनि नामानि सन्ति । **यथा**–

"समणे भगवं महावीरे नाते, नातपुत्ते, नातकुलनिव्वत्ते, विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे, समणे भगवं महावीरे, कासवगोत्ते, अम्मा. पियुसतिए वद्धमाणे, सह सम्मुदिए समणे, भीमभयभेरवं ओरालं अचेलयं परिसहं सहइत्तिकट्टु देवेहिं से नाम कयं **समणे भगवं महावीरे** ॥ श्रीआचाराङ्गसूत्रम्–११, १५, १६–१७

"एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे
अरहा णायपुत्ते भगवं, वेसालिए वियाहिए" ।

(श्री सूयगडांगसूत्रम् १–२)

भगवतो महावीरस्य ज्ञातवंशो यथाऽऽह सिद्धान्ते ।

"छव्विहा कुलारिया मणुस्सा प० तं० उग्गा, भोगा, राइण्णा, इक्खागा, णाता, कोरव्वा" ॥ (श्री ठाणांग सूत्रम् ४९७)

"जात्यार्य्या, इक्ष्वाकवो, विदेहा, हरयोऽम्बाष्ठा, ज्ञाताः कुरवो, वुंवुनाला, उग्रा, भोगा, राजन्या इत्येवमादयः क्षत्रिया आर्यकुलोद्भवाः" ॥

(तत्त्वार्थसूत्रम् ३–१५)

ज्ञातखण्डोद्यानोऽपि ज्ञातवंशस्य परिचयमादत्ते, यथा—

"वहिया य 'णायसडे' आपुच्छिताण णायए सव्वे ।
दिवसे मुहुत्तसेसे कमाणामं समणुपत्तो ॥"

(आवश्यकचूर्णि पृ० २६७)

पुनश्च—

"उत्तरखत्तियकुण्डपुरसनिवेसस्स मज्झेण निगच्छत्ति र त्ता जेणेव 'णायसडे' उज्जाणे तेणे व उवागच्छइ...........महावीरे लोय करेइ ।" **(श्री आचारांगसूत्र २-१५-८)**

श्रीहेमचन्द्राचार्योऽपि परिशिष्टपर्वणि ज्ञातनन्दनमिति शब्दप्रयोगं कृत्वा प्रणमस्करोति, **यथा—**

कल्याणपादपारामं, श्रुतगंगाहिमाचलम्,
विश्वाम्भोजरविं देवं, वन्दे श्रीज्ञातनन्दम् ॥

इत्यादिप्रमाणैर्भगवान् महावीरो ज्ञातवंशमलंकृतवान् ।

अन्वयार्थ—जैसे [दाणाण] दान-धर्ममें [अभयप्पयाणं] अभयदान [सेठ्ठं] श्रेष्ठ है, [वा] और [सच्चेसु] सत्योंमें [अणवज्जं] पाप रहित–दूसरोंको पीडा न देनेवाला सत्य-वचन [वा] और [तवेसु] सव तपोंमें [वभचेर] ब्रह्मचर्यको [उत्तम] अच्छा [वयति] कहा है, उसी प्रकार [समणे] दयालु-श्रमण [णायपुत्ते] ज्ञातृ-पुत्र-महावीर [लोगुत्तमे] लोकमें] श्रेष्ठ थे ॥ २३ ॥

भावार्थ—स्व परके हितकेलिए किसीवस्तुका निष्काम अर्पण करना दान है, दान अनेक प्रकारका होनेपर भी 'अभयदान' सव दानोंमें उत्तम है,

इसी प्रकार सत्य भी अनेक प्रकारका है, तथापि दूसरेको जिस सत्यसे पीडा न हो ऐसा सत्य-प्रियसत्य उस सत्यसे अच्छा है जिससे दूसरोंको पीडा हो, और सब तपोंमें ब्रह्मचर्य तप सर्वोत्कृष्ट है, उसी प्रकार भगवान्-महावीर भी लोकमे सर्वोत्तम थे ॥ २३ ॥

भाषा-टीका—अपनी और औरोंकी उन्नति तथा भलाईके लिए जो परोपकारकी दृष्टिसे दिया जाय उसे दान कहते हैं। या अपने अधिकारको वस्तु-मेंसे हटा कर जिस वस्तु पर किसी अन्यको अधिकार देदेना भी दान कहा जा सकता है। परन्तु यहा तो श्रद्धा और प्रतीति के साथ भक्ति भाव पूर्वक, परिग्रहका ममत्व भाव छोडकर कर्मोंकी निर्जराके लिए अनुकम्पासे तथा मन, वचन कायकी शुद्धिसे फलकी इच्छा न रख कर दाता जिस पात्रमें कुछ पवित्र वस्तु देता है उसीका नाम दान है।

और वह अन्नदान, औषधदान, ज्ञानदान, अभयदानके भेदसे चार प्रकारका है। परन्तु उन सबमें प्राणियोंका भय हटा कर उन्हें सर्वथा निर्भय करदेना ही सर्व्वोत्तम दान अभयदान माना गया है। क्योंकि आत्मामें दश प्राण होने से प्राणी कहलाता है। जीवित रहनेकी इच्छा या जीवित रहना ही इसका स्वभाव रहनेसे इसकी 'जीव सज्ञा' है। दशप्राण 'द्रव्य प्राण' है और 'भाव प्राण' अनन्त चतुष्टय कहलाते हैं, वास्तवमे यह जीव तीनों कालमे इन्हीं प्राणोंसे जीवित रहता है। अत सब जीव जीवित रहनेकी इच्छा रखते हैं मरना कोई नहीं चाहता, किसीको मरना अभीष्ट नही है। अत जीवित रहनेके अभिलाषुओंको 'अभय' दान देकर उनका सब प्रकारसे रक्षण करना मनुष्यका श्रेष्ठतम कर्तव्य है।

कहा भी है कि—"जिस प्रकार मुझे अपने प्राण प्रिय है उसी प्रकार अन्य देह धारियोंको भी अपना जीवन प्रिय है। स्वर्गका निवासी इन्द्र और विष्ठेका कीडा, महलमें रहने वाला राजा और झोंपडीमें रहने वाला गरीब लकडहारा समान जीवन चाहते हैं। यह समझ कर किसी भी प्राणीके 'मन' नामक प्राणको भी कष्ट न देना चाहिए।"

"क्योंकि अहिंसा परम धर्म है, हिंसा सब जगह पर निन्दित की गई है, यह स्वयंको प्रिय न होने के कारण औरों को भी अप्रिय है। क्योंकि अपनी और औरो की मनोदशामे कोई अन्तर नहीं है। अत. चतुर मनुष्य अपने मनमे

सदैव यही भाव रखता है कि—किसी भी तरह जगत् के जीवोंका कल्याण मंगल या भलाई करूं, परोपकारमें स्वयं लग कर औरो को भी लगानेका प्रयत्न करूं। अपनेमें दोषमात्रका लेश तक न रख कर औरो को भी निर्दोष बनानेका सतत प्रयत्न करूं। आत्माके अनन्त सुखसे सुखी बन कर औरो को भी सुख के स्थान पर ले जाऊं”

परन्तु यदि कोई प्राणी इन भावोके विपरीत चल कर लोभ का दास बन कर, जबानकी लालसाके जालमें फॅसकर, धन कमानेकी इच्छासे, या लडाईमें विजय पानेकी आशासे, अपने मनको बहलानेकी गरजसे निरपराध और दीन जीवों को मार डालता है, तब इस पाप दोष से दूष्य होकर उस अधम या स्वार्थी को नरक-(दु ख) में अवश्य जाना पडता है। इसी सिद्धान्तकी सब प्रकारके महापुरुषोंने रक्षाकी है। सब ने जन्म लेकर इसको उच्च-कोटिमें लानेका प्रचार किया है। महर्षि ‘पतंजलि’ ने तो इसको ही बडा पद दिया है। पाच यमोंमे जीव रक्षा सबसे पहला यम है।

“किसीने क्रोध, लोभ, मोहके वश होकर हिसा करने, कराने, अनुमोदन करनेको वितर्क कहा है। इस पापका परिणाम उनके मतमें अनन्त दु ख फल बताया गया है।”

“कहीं अहिसाकी प्रशंसा यहा तक की गई है की प्राणधारियोंसे वैर भाव तक त्यागदेना चाहिए। साधक तब ही अहिसाका साधन कर सकता है।”

श्रीमदुमास्वामीने भी तत्वार्थसूत्रमे यही कहा है कि जो कोई भी जीव प्रमाद अर्थात् असावधानता युक्त होकर काययोग, वचनयोग और मनोयोगके द्वारा प्राणोंका ‘अतिपात’ या व्यपरोपण करता है, उसको ‘हिंसा’ कहते हैं। हिंसा-करना, मारना, प्राणोका अतिपात—त्याग अथवा वियोग करना, प्राणोंका वध करना, जीव-कायसे अलग करके देहान्तरको सक्रम करा देना, भवान्तर-गत्यन्तरको पहुंचा देना, और प्राणोका व्यपरोपण करना, इन सब शब्दोका एक ही भाव है।

“यदि कोई जीव प्रमादी अर्थात् मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथाके वश होकर ऐसा कार्य करता है, अपने या परके प्राणोंका ‘व्यपरोपण’ करनेमे प्रवृत्त होता है, तब वह हिंसक हिसाके दोषका भागी समझा जाता है। परन्तु प्रमाद छोड कर प्रवृत्ति करनेवालेके शरीरादिके निमित्तसे यदि किसी जीवका वध होजाय

तब वह उस दोषका भागी नहीं समझा जाता। क्योंकि इस लक्षणमें प्रमादका योग मुख्य रूपसे बताया है और अप्रमत्त अवस्थाका नाम 'अहिंसा' है।

इसके अतिरिक्त योग सूत्रके व्यास कृत भाष्यमे भी अहिंसाका लक्षण बाधते समय उन्होंने बताया है कि—सर्व्वदा सब प्रकारके जीवोंसे कभी द्रोहका न करना 'अहिंसा' है।

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें–योगी जनोंने मनवचन काय से किसीको क्लेश न पहुंचाना 'अहिंसा' कहा है।

"अहिंसा, सत्यबोलना, परवस्तुको विना आज्ञा न लेना, आत्माको पवित्र बनाना, इन्द्रियोका वश करना, दान देना, दया करना, मनो विकारोंके प्रवाहको दमना, शान्त रहना, इन सबको धर्म साधन बताया है।"

यजुर्वेद–यहा भी यही उपदेश दिया है कि–"हे पुरुष! तू जगत् के किसी भी प्राणीकी हिंसा मत कर 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, १८–३ अपनी आखोंसे सबको मित्रकी दृष्टिसे देख शत्रुकी सी दृष्टि किसी पर मत डाल।"

मनुका पांचवॉ अध्याय–"जो मनुष्य अपने कल्याणकी तो इच्छा प्रगट करता है परन्तु प्राण, भूत, जीवोंकी हिंसा कर डालता है, वह जीव अपनी इस जीवित दशामे और मर कर परलोकमें कभी भी सुख न पायगा।"

दशधर्म–"धैर्यरखना, शातिकरना, आत्माको पापसे विरक्त करना, चोरी न करना, आन्तरिक पवित्रता रखना, इन्द्रियोंको वशमे रखना, सत्य बोलना, क्रोध न करना, अहिंसाका पालन करना, इस प्रकार धर्मके दश लक्षण कहे हैं। जिनमें अहिंसाको भी स्थान प्राप्त है।"

महाभारत–"मै यह सत्य कहता हूं कि–सत्यवादियोंका धर्म अहिंसा है और यही सब धर्मोंमें प्रधान है, तथा हिंसा करना अधर्म और पाप है।"

अहिंसा वचनामृत–"अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा उत्कृष्ट दमन है, अहिसा उत्कृष्ट दान है, अहिंसा प्रधान तप है, अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है, अहिसा उत्कृष्ट सुख है।"

"सब प्रकारके यज्ञोंमें अनेक प्रकारके दान करना, सब तीर्थोंमें अनेक स्तुतिएं गाना, सब दानोंका फल या परिणाम अहिंसासे बढ कर नहीं है। अर्थात् ये धर्म अहिंसाकी बराबरी नहीं कर सकते।"

नियमसार–"कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गणा स्थान इत्यादि भेदोको भलि भान्ति जान कर जीव रक्षा करनेके भावको 'अहिंसा' कहते है। जीवोकी मृत्यु होती है या नही इस प्रकारके विचारमे लगे हुए परिणामके सुधारके विना पाप हिसा रूप क्रियाका त्याग होना कठिन है, अतः इस रक्षाके प्रयत्नमे लगना 'अहिसा' है।"

समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि–"जगत् मे इसे सव जानते है कि–अहिसा परब्रह्म स्वरूप है, अर्थात् आत्माकी वीतरागता ही अहिंसा है, जहा वीत-रागता है, वही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, जिस आश्रमके चरित्रमे अणुमात्र भी आरभ नही है वही यह पूर्ण अहिंसा प्राप्त होती है। आशय यह है कि आदर्श पुरुषोका सचरित्र रूप आचरण ही अहिसा है, अत अहिसाकी सिद्धिके लिए ही परम दयालु प्रभुने आरभ और परिग्रहको त्याग दिया। प्रभु विकार शील वेश और परिग्रहमे अनुरक्त नही थे। क्योकि जहा परिग्रहकी आसक्ति नहीं है वहा ही ऊंचे दर्जेका अहिसा धर्म है। 'जिनधर्म की जय' इसी लिए बोलते हैं कि–इसमे पूर्ण 'अहिसा' का पालन किया जाता है। यही त्रस जीवका घात करनेवाले विचारोको जड मूलसे हटानेका कारण है। तथा 'पच काय' रूप एकेन्द्रिय स्थावर जीवोके नाना प्रकारके होनेवाले वधसे वह बिलकुल दूर है और वह सुन्दर सुखसे भरपूर समुद्रके समान अगाध है।"

"मुनिओका कर्तव्य है कि वे सर्व्वथा अहिसाका पालन करे, क्योकि हिंसाका परिणाम दुःखजनक है, जिसे महापुरुषोने महान् अनुभवसे बताया है। जिनके ये वचनामृत है।"

"पैरसे लाचार है, शरीरकी चमडीको फोड कर कोढ वाहर टपकने लगा है, हाथ कटे हुए है, और भी अनेक रोगोसे ग्रस्त है। उसे देख कर समझ लेना चाहिए कि उन्हे यह दारुण दुःख अन्य प्राणियोकी हिसा करनेसे भुगतना पड़ा है अत चतुर पुरुषका यह कर्तव्य है कि–निरपराधजीवकी सङ्कल्पमात्रसे कभी 'हिसा' न करे।"

"सुगत् दुःखमे, अच्छे बुरेमे, युक्त अयुक्तमे, अपनी आत्माकी तरह अन्य आत्माओको समझ कर कभी किसीका हिसा रूप अनिष्ट नकरे।"

लोकोंका यह मन्तव्य है कि–"धर्मका सम्पूर्ण अग सुन कर तथा मनमे विवेक रख कर उसका निर्णय पूर्वक यह सार है कि जव मुझे अपने

प्रतिकूल कुछ अच्छा नहीं प्रतीत होता है, तब औरों को उनके प्रतिकूल आचरण कब इष्ट है।"

"सबको अपने प्राण ही प्रिय हैं, राज्य नहीं"–"प्राणी अपने प्राणोंकी रक्षाके लोभमें राज्य को भी तृणकी तरह छोड देता है। अत एव किसीके प्राणोंका नाश करनेसे जो पाप होता है, वह समस्त पृथ्वी दान कर देनेसे भी दूर नहीं होता।"

"मरनेवालेको चाहे राज्य भी प्रदान करो, या सुवर्ण का पहाड अर्प्पण करदो, परन्तु जीवनके सन्मुख वे वस्तुएँ उसे कुछ भी अच्छी नहीं लगतीं, इसी लिए वह उन सब को छोड कर जीवित रहनेकी 'अपील' करता है।"

पीड़ा–"जरासा काटा पैर में लग जाता है, मगर वह सारे अगो मे भारी पीडा उत्पन्न कर देता है, परन्तु जो निरपराध जीवोको तीक्ष्ण शस्त्रसे मौतके घाट उतार देता है, उस मरनेवालेके दु खका क्या ठिकाना है। उसे तो अवश्य अनिर्वचनीय वेदना होती है।"

"यह कहा की नीति है जो अशरण, निरपराध, दुर्वल प्राणी वलवान् के द्वारा मारा जाता है, हाय ! हमें तो कष्ट के साथ कहना पडता है कि–जगत् मे अराजकता छा गई है, अब यहा न्यायको कहा स्थान रह गया है।"

"यदि कोई किसीके कानोंको यह सुनादे कि तू मरजा ! तब सुननेवाला यह सुनते ही काप उठता है, शरीर भयभीत और दु खी हो जाता है। जो पैने और कठोर शस्त्रसे किसीको मारने लगता है तब उसकी क्या दशा होती होगी। उसके दु खका अनुभव सिवाय उसके भला और कौन कर सकता है।"

"हाथका कट जाना अच्छा है, बिना पैर रहना भी कुछ बुरा नहीं, मगर सम्पूर्ण शरीरके अगोंको पाकर हिंसा करनेवाला पुरुष सर्वथा निकम्मा है, अर्थात् वह किसी कामका नहीं है।'

मतलब साधने की हिंसा भी हानिकर है–"विघ्नकी शान्तिके लिए की गई हिंसा भी विघ्नके लिए ही होगी। बहुतसे यह कह डालते हैं कि–हमारे कुलका यही 'आचार' चला आता है, मगर वह कुछ कुलकी भलाईके लिए नहीं है, वह तो कुल नाश के लिए ही होगा, शान्तिके लिए नहीं। अपने वंशमें चली आनेवाली कुलक्रमागत हिंसाको जो भी प्राणी छोड कर शुद्ध हो

जाता है, वह काल सूर कसाईके पुत्र 'सुलस' की तरह सब मनुष्योंमें पवित्र और श्रेष्ठ गिना जाता है।"

"जो इन्द्रियोको तो वश रखना चाहता है, तथा देव और गुरु की आत्मीय सेवा करता है, यथा शक्य दान भी देता है, तत्वको पढ कर पढाता भी है, तप भी करता है, परन्तु जरासी भी हिंसाको यदि धर्म मान्यतासे कर देता है तब तो उपरोक्त सबकी सब क्रियाएँ निष्फल हैं, अत सिद्ध हुआकि धर्मके नाम पर की गई हिंसा भयंकर पापकारिणी है।"

"जिस शास्त्रमें धर्मका नाम लेकर हिंसा करनेका उपदेश किया हो वह शास्त्र न होकर कुशास्त्र समझा जाना चाहिए अर्थात् वह शस्त्र है शास्त्र नही।"

"यह कितना आश्चर्य है कि–मनुष्य तक को मार देनेवाले, लोभान्ध होकर पथ भ्रष्ट होजाने वाले, हिसा विधायक शास्त्र बनाकर, तथा पाप करनेका उपदेश देकर, लोकोंको मूर्ख बना रहे हैं, अन्ध विश्वासी बनाकर मानो नरकके कूडेमें डाल रहे हैं।"

अहिंसाका माहात्म्य–"अहिंसा माता की तरह सबकी पालिका और हितकारिणी है। अहिसा ही शत्रुओके मनमें अमृतका सचार करनेवाली है। अहिंसा दु खरूपी दवानलको बुझानेमें अमोघ और प्रधान मेघ है, ससार भ्रमणा यानी जन्म मरणके रोगसे पीडितोंके लिए तो आरोग्यता देनेमें समर्थ 'औषधि' है।"

अहिंसाका फल–"लम्बी आयु, स्वच्छ और सुन्दर रूप, नीरोगता, ससारमें निर्मल यश कीर्ति, इत्यादि सामग्रिएँ अहिंसा पालन करनेके उपलक्षमें ही तो मिली हैं। अधिक क्या कहा जाय अहिंसा सब मनोरथ पूर्ण करनेवाली है।"

किसीने ठीक ही कहा है कि–"पहाडोंमें सुमेरु, अमृत पीने वालोंमें देवता, मनुष्योंमें चक्रवर्ती, ज्योतिष् चक्रमें चाद, ठंढी छाया देनेवालोंमे फलदार वृक्ष, ग्रहोंमे सूर्य, जलाशयोंमे समुद्र, सुर–असुर–मनुष्य तथा चक्रवर्तियोंमें वीत-राग के पदकी तरह सब व्रतोंमे 'अहिसा' को सबमें बडप्पन तथा प्रधानता प्राप्त है। अर्थात् इससे बढ कर और बडा व्रत क्या हो सकता है।"

निष्कर्ष–इन सब शास्त्रोंका मीलान करनेसे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि–हिंसा सब शास्त्रोंमे वर्जित है; जैनोंने तो इसका नाम प्राणातिपात कहा है,

जिस का आशय यह होता है कि-किसी के एक-प्राणको भी निरर्थक न दुखाना चाहिए। साधु मुनिराज इसका सम्पूर्ण अग पालन करते है। और गृहस्थ जन इसका एक भाग ही निभा सकते हैं क्योंकि सबको अपना जीवन सब वस्तुओं से अधिक प्रिय है।

जैसे कहा है कि-"यदि मरनेवालेको यह कहा जाय कि-तुम सोनेके 'एक क्रोड सिक्के' लेकर हमे अपनी जान मारनेकेलिए कहदो, तब वह धनके ढेरको छोडकर जीवित रहनेकी आशा प्रगट करेगा। क्योंकि जान देदेनेपर उसकेलिए धन किस कामका है। अत सबको अपना जीवन प्रिय है। इस लिए सब दानोंमे अभय दान श्रेष्ठ है।"

अभयदान पर उदाहरण-"अरिदमन वसन्तपुरका राजा है, वह अपनी चार रानियोंसे नित्य रग रलिया करता है। एक दिन उन रानिओंने गाना, बजाना, नाचना आरभ किया, राजा उनकी गान्धर्व विद्या पर लट्टू होगया और बोला कि आज तुम जो कुछ मागोगी वही दूंगा। रानिओंने कहा कि इस समय तो हमे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, कालान्तरमे माग लेंगी, अब हमारा वर अपने पास जमा कर लीजिए, राजाने कहा अच्छा।"

एक वार रानियोंने एक चोरको देखा कि जिसे लाल कपडे, और जूतोंका हार पहिना कर वध्य भूमि ले जाया जा रहा है। रानियोंके साथ राजा भी महल पर टहल रहा था, देखकर उन्होंने पूछा कि प्राणनाथ! इसने क्या अपराध किया है। राजाने उसी समय एक सिपाहीको बुलाकर पुछवाया, उसने कहा कि पृथ्वीनाथ! इसने चोरी जैसा अकार्य करके राज और धर्मके विरुद्ध कार्य किया है, अत. आपनेही तो इसको 'प्राणदड' पानेकी आज्ञा दी है।

यह सुनकर उनमे से एक रानी ने कहा कि प्राणवल्लभ! आप मेरा 'वर' यह दे कि इसे एक दिनके लिये न मारें जिससे मे इस पर कुछ उपकार कर सकू। राजाने कहा "तथास्तु"

रानीने उसे महलमे लिवा कर कहा तुझे आजके लिए बचा दिया है, अतः आज खा पी और मौज कर। यह कह उसका खूब अन्न और वस्त्रसे स्वागत किया, सवेरा होने पर उसे एक हजार दीनार देकर अपने महलसे विदाकर दिया।

इसी प्रकार दूसरी और तीसरी रानीने भी एक एक दिन रक्खा और क्रमसे एक लाख और एक क्रोड सोनेके सिक्कोंका पारितोषिक दिया।

मगर चौथी रानीने उसे कुछ भी न देकर उसका वह प्राणदंड का अपराध राजासे कह कर क्षमा करा दिया। तव यह सुन उन तीनोंने कहा कि इसे तूने क्या दिया है? चौथी रानीने कहा कि मैंने इसे वह वस्तु दी है, जिसे तुम सब मिल कर स्वप्नमे भी नहीं दे सकीं। यह सुनकर वे सब क्रुद्ध होकर उसके गले पड गई और वोलीं कि हमने तो उसे क्रोडपति बनादिया है और तुम कहती हो कि हमने इसपर तुनके जितना उपकार भी नहीं किया। चौथीने कहा कि धनसे भी अधिक सवको अपने प्राण प्यारे होते हैं। मैंने इसे प्राणदान दिलवाकर सदाके लिए सुखी वना दिया है। अव इसे मरनेका भय नहीं है जिससे मैंने सबसे बडा उपकारका कार्य किया है। यदि मेरे कहेका विश्वास न हो तो राजासे इसका न्याय कराना चाहिए। इतना कहनेके बाद राजाको तुरन्त महलमें बुलवाया गया, और रानियोंका वह मुकदमा सुन कर राजाने चोरको बुलाया और पूछा कि भाई! सत्य कह तू किस रानीका अधिक उपकार मानता है।

उसने नम्रतासे सिर झुका कर कहा कि-यो तो सबने मुझ पर भारी उपकार किया है, मगर चौथी रानीका सबसे अधिक उपकार मानता हू, क्योंकि उसने अभयदान दिलवाया है। तीनो रानियोंने क्रोडोका धन भी दिया और एक एक दिन मरनेसे भी बचाया मगर मुझे तो सदैव यही भय बना रहता था कि धनका क्या करूंगा जब कि कल मर जाना है। मगर चौथी रानीने मुझे उसी मौतके सकटसे उबारा है। अबमे यावज्जीवन पर्य्यन्तके लिए निर्भय हू। अतः इस उपकारको अपने तनका पुरस्कार देकर भी नहीं चुकाया जा सकता। क्योंकि सब दानोमे अभयदान प्रधानतम है।

सर्वोच्च भाषा सत्य है-इसी प्रकार सत्य वचनोंमे निरवद्य, पापरहित, दूसरेकी पीडाको हटानेवाली भाषा सर्व्वोत्तम है। क्योंकि काना, नपुंसक, रोगी, चोरादिके नामसे पुकारनेपर भी उसके मनको आघात पहुंचता है।

मनुका मत-"सत्य, प्रिय, और अन्यके मनके अनुकूल वचन बोलो, असत्य और अप्रिय सत्य कभी मत बोलो।"

असत्य-असत् शब्दके तीन अर्थ है, सद्भावका प्रतिषेध, और अर्थान्तर तथा गर्हानिन्दा। वस्तुके स्वरूपका अपलाप करनेको सद्भावका प्रतिषेध कहते है। यह दो प्रकारका है। सद्भूत पदार्थका निषेध-तथा असद्भूत पदार्थका

निरूपण। जैसे "नास्ति आत्मा" आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, अथवा "नास्ति परलोक", परलोक–मरणके वाद जीवका अन्य भव धारण करना वास्तविक नहीं है। इत्यादिक भूतनिन्हव है। क्योंकि इससे सद्भूत पदार्थका अपलाप होता है। आत्माका परलोकमे भवान्तर धारण करना वास्तविक सिद्ध पदार्थ है। युक्तियुक्त और अनुभवगम्य है। इसका निषेध करना सद्भूतका अपलापनामक मिथ्या वचन है। आत्माको श्यामाकतण्डुल-सामकके चावल की तरह छोटे प्रमाणमे वताना, अथवा अगूठेके पोरवे के वरावर समझना, या यह कहना कि-आदित्य वर्ण है, निष्क्रिय है, इत्यादि सव वचन अभूतोद्भावन नामक असत्य वचन हैं। क्योंकि इस तरहके वचनो द्वारा आत्माका जो वास्तविक स्वरूप नही है, उसका उल्लेख किया जाता है।

अर्थान्तर शब्दका अर्थ है भिन्न अर्थको सूचित करना, जो पदार्थ है उसको दूसरा पदार्थ ही वताना-वास्तविक न कहना अर्थान्तर है। जैसे कोई गौको कहे कि यह घोडा है, अथवा घोडेको कहे कि यह गौ है, इस तरह के वचनको अर्थान्तर नामक असत्य कहते है।

गर्हा नाम निन्दा करनेका है, अत जितने भी निन्द्य वचन है वे सव गर्हित नामके असत्य वचन समझने चाहिए। जैसे कि–'इसको मार डालो' या 'मरजा' 'इसे कसाईको देदो,' इत्यादि हिंसा विधायक वचन वोलना, तथा मर्म-भेदी–मन दुखानेवाले अपशब्द कहना, गाली देना, कठोर वचन कहना, परुष-रूक्ष शब्दोका प्रयोग करना, एवं पैशून्य किसी की चुगली करना, आदि गर्हित वचन कहलाते है। यदि वे गर्हित वाक्य कदापि सत्य भी हों तथापि असत्य माने जाते है। क्योंकि वे निन्द्य है। तथा प्रमादयुक्त जीवके वचन भी असत्य समझे जाते है। प्रमाद पूर्वक कहे जाने वाले वचन असत्य होते है। और प्रमाद को छोडकर कहे गए असत्य वचन भी सत्य हो सकते है, जैसे किसी रोगी वालकको पताशेमे दवा रख कर देते है और कहते हैं कि-ले यह पताशा है।

सत् शब्दके दो अर्थ होते है, विद्यमान और प्रशसा। अत एव असत् शब्दसे अविद्यमान और अप्रशस्तता ये दोनो ही अर्थ लेने चाहिए। सद्भूत निन्हव असद्भूतोद्भावन और अर्थान्तर ये अविद्यमान अर्थको सूचित करनेवाले होनेसे असत्य हैं। और जो गर्हित वचन है वे अप्रशस्त होनेसे असत्य हैं, तथा प्रमादका सम्बन्ध भी दोनो ही स्थानो पर पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त असत्य की विवक्षा होने पर कषाय असत्य निमित्त बन जाता है, कषायका उदय आनेपर असत्यका प्रयोग अवश्य किया जाता है। अत. क्रोध-लोभ-मान-राग-द्वेष-मोहादिके कारणसे असत्य बोलनेका त्याग करना सत्याणुव्रत कहलाता है।

हंसीमे, कठोर शब्द का प्रयोग करते समय, चुगली करते समय, अप्रशस्त वचन कहते समय, झूठा वाक्य कहना अनिवार्य हो जाता है, और देहधारीको आत्म स्थिति उस समय प्राप्त होती है जब दूसरा अणुव्रत स्वीकार कर लिया जा सके।

कीसी ने कहा है कि—जिसे मूढता के कारण धर्म के नामसे पुकारता है, और जो म्लेच्छोंमे भी निन्द्य समझा जाता है, उस असत्य को मन, वचन–कायसे त्याग देना ही उचित है, यदि हितको अपनानेकी अभिलाषा है तो असत्य न कह कर मौनको स्वीकार करले। क्योंकि इतने स्थानों पर सब मौन भाव भजते है,

जैसे–"प्रतिक्रमण करते समय, मलमूत्र त्यागते वक्त, पापके कार्यको छोडते समय, निरन्तर मौन रख लेवे, क्योंकि मौन कर लेनेसे वाणीके दोषोंका नाश हो जाता है।" 'मौनसे क्लेश नष्ट होता है, सन्तोष भाव जागृत हो जाता है, वैराग्यका प्रदर्शन होता है, सयमकी पुष्टि हो जाती है।' 'जिह्वाके स्वाद छोडनेसे ही तपकी वृद्धि होती है। अभिमानकी रक्षा होजाती है, समता आनेसे मनकी सिद्धि हो जाती है।' 'वाणी मनोरमा बनजाती है, आदेय होकर प्रशंसा पात्र बन जाता है, मौन रखने वालेके चरणयुगल वन्दनीय होते हैं। परन्तु मौन देश और कालको विचार कर करना चाहिए। यदि कहीं बोलनेसे ससारको सद्बोध और चरित्रका लाभ हो तो वहा चुप न रहना चाहिए। मगर वाणी सदा सत्यवती होनी चाहिए।'

गृहस्थके लिए त्याज्य असत्य क्या है? "गृहस्थ को कन्या, पशु, पृथ्वी, के सम्बन्धमे असत्य कुछ भी न कहना चाहिए, न ही उसे कभी झूठी गवाही देनी चाहिए, कभी किसी की थापन-यानी धरोहर मार कर उसे कोरा जवाब न देना चाहिए, इन पाच बातोंको ध्यानमे रखने वाला सत्याणुव्रती है। यदि अपने या अन्यके ऊपर सत्य कहनेसे आपत्ति आ सकती हो तो उस समय सत्य न कह कर मौन कर लेना उचित है।"

"और जो साधु-सज्जन पुरुष राग, द्वेष और मोहसे असत्य बोलनेके परिणामको जब छोडता है, तब ही दूसरा सत्याणुव्रत होता है, क्योंकि असत्य बोलनेका भाव सत्य भावसे विपरित होता है, और यह असत्य भाव राग भावसे, द्वेष भावसे और मोह भावसे जीवमे पैदा होता है, अर्थात् यह मनुष्य इष्ट पदार्थोंमे व विषयोमे राग द्वारा उनकी प्राप्ति और रक्षाके लिए असत्य कहता है, वह अनिष्ट पदार्थोंमे वा विषयोंमें द्वेषपूर्वक उनके दूर होनेके लिए या उनका सम्बन्ध न पानेके लिए असत्य कहता है, अथवा मिथ्या बुद्धिसे ससारमे मोहके कारण उस मिथ्या भावकी रक्षाके अर्थ असत्य बोलता है, जो कोई निकट भव्य जीव साधु पुरुष इस प्रकारके असत्य बोलनेके परिणामोंको त्याग देता है उसी मे सत्य व्रतकी योग्यता आती है।"

"जो सत्यभावके रगमे रंग कर प्रगटमे सत्यका व्यवहार करता है वह सज्जनोंद्वारा आदरणीय होता है, यह बात इस लिए सर्व्वथा सत्य है कि सत्य से बढ कर अन्य दूसरा कोई व्रत नहीं।"

असत्य बोलने का निकृष्ट परिणाम–"झूठ बोलनेवाला गूंगा बनता है, या उसे मूकगति का जीव बनना पडता है। वह स्पष्ट नहीं बोल सकता। किसीको उसकी सुन्दर सम्मति भी प्रिय नहीं लगती। मुखरोगसे पीडित रहता है। ये सब झूठ बोलनेके दुष्परिणाम जान कर कन्यादिके विषयमे असत्य कभी न बोलना चाहिए।" "झूठ बोलने वाले, मूर्ख, विकलाग, वाणीहीन रह जाते हैं। उनकी बातें सुन कर लोकों को घृणा हो उठती है। और उनके मुखसे दुर्गंध आया करती है।" "जो सर्वलोक से विरुद्ध है, जिस वाणीसे विश्वासघात हो जाता है, जो पुण्यका प्रतिपक्षी है वह ऐसा वाक्य कभी न कहे।" "जो झूठ बोलता है उसमें तुच्छता आजाती है, अपने आपको ठग लेता है, अधोगतिगामी होता है, अतः झूठ वर्जनीय है।" "झूठ प्रमादसे भी न बोलना चाहिए, क्योंकि कल्याणकार्यरूपी वृक्ष असत्यकी आंधीसे गिर जाते हैं।" "भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी बातोंको यदि पूर्णतया न जानता हो तो न कहे, कि इस तरह होगा।" "तीनों कालकी बातोंमें शका हो तो उसे न कहे।" "यदि तीनों कालकी बाते बिलकुल निश्शंक हैं तब उन्हें लोगोंमें उपदेशके रूपमे सुना सकता है।" "असत्य बोलनेसे वैर विरोध बढ जाते हैं, पोल खुल जाने पर पछतावा होता है,

कोई उस पर विश्वास नहीं करता, वदनाम मुफ्तमें हो जाता है। कुपथ्य करनेकी तरह न जाने क्या २ दुःख–दोप झूठे मनुष्यमें वढ जाते है।" "झूठ वोलने वाला नरक, निगोद, और पशु योनिमे जन्म लेकर मरता रहता है।" "थोडा सा असत्यका प्रयोग करनेवाला भी नरकमे उत्पन्न होता है।"

"ज्ञानिओंने ज्ञान और चरित्रका मूल तो सत्य ही वताया है, सत्यवादीके पैरोंकी धूलिसे पृथ्वी पवित्र हो जाती है।" "जो सदा सत्य वोलते हैं उनका भूत, प्रेत, सर्प, सिंह आदि कुछ भी नहीं विगाड सकते,।" "सिर मुंडा कर, जटा रखा कर, नग्न रह कर, कपडे पहिन कर या तपको तप कर भी जो असत्य वोलता है तव तो उसे अछूतसे भी वढ कर निन्द्य समझना चाहिए।" "एक तरफ तो असत्यका पाप है, दूसरी ओर ससारके सव पाप हैं, यदि इन दोनों पापोंको तोला भी जाय तो असत्यका पाप वढ निकलेगा।" "डाकुओं और व्यभिचारिओंके पापका प्रायश्चित हो सकता है, परन्तु असत्यवादीका प्रतिकार नहीं।" "सत्यवादीका देवोंको भी पक्ष होता है, राजा भी उस पर शासन नहीं चला सकता, उन पर अग्निका उपद्रव नहीं होने पाता, क्योंकि सत्यकी महिमा अपार है।"

"सत्यका संसार भरके योगियोंने खूव ही गायन किया है, जिसमें शुभचन्द्राचार्यके कुछ वचनामृत आपके पठनार्थ सामने रखते हैं। उन्होंने कहा है कि–"जो सयमी मुनि धीरज रख कर सयमकी रक्षा या मुनि दीक्षाकी धुराको धारण करता है, वह मुनि वचनके जंगलमे सत्य रूपी वृक्षका आरोप करता है।" "यमनियमादिव्रतोंका समूह एक मात्र अहिंसाकी रक्षाके लिए कहा है, अहिंसा व्रत यदि असत्यसे दूषित होतो वह ऊंचे पदको कभी भी नहीं पासकता। असत्य वचनके होनेसे अहिंसाका प्रतिपालन अशक्य है।"

"जो वचन जीवोंका इष्ट हित करनेवाला हो तो वह असत्य भी सत्य है। और जो वचन पाप सहित हिंसारूप कार्यको पुष्ट करता है वह सत्य भी असत्य है और निन्द्य भी है।" "जो मुनि अनेक जन्मके उत्पन्न दुखोंकी शान्तिके लिए तपश्चरण करता है वह निरन्तर सत्यही वोलता है, क्योंकि असत्यवचन वोलनेसे मुनित्वका होना असम्भव है।" "जो वचन सत्य हो, करुणासे भरपूर हो, किसीके विरुद्ध न हो, आकुलता रहित हो, असभ्य या

गर्वारू भाषामें न हो तथा–ग्राम्य नाम इन्द्रियोंका भी होता है यानी इन्द्रियोंके विकारोंको पुष्टकर वचन न हो, गौरवका वढानेवाला हो, जिसमें किसीका हलकापन न वताया गया हो, वही वचन शास्त्रमें प्रशंसनीय है।"

निरन्तर-मौन करना भी पुरुषों के कल्याण के लिए है–

"यदि वोलनेका काम पडे तो सत्य और प्रिय तथा सव जीवोंके कल्याणके लिए वोलना चाहिए।" "मगर दुष्ट चरित्रीके मुखकी वावीमें वडी भारी असत्य-वाणीकी सापनी रहती है, जो जगत् भरको दुःखी कर देती है।" "जिस वातके सत्य होनेमें सन्देह है, पर पाप रूप भी अवश्य है, और दोषोंसे युक्त है, एवं ईर्ष्याको वढानेवाली है, वह अन्यके पूछने पर भी न कहे।" "किसीका मर्म दुःखानेवाला, मनमें घाव करनेवाला, स्थिरताका नाश करने-वाला, विरोध खडा करनेवाला, तथा दया रहित वचन कण्ठमें प्राण आनेपर भी न कहे।" "जहा धर्मका नाश होता हो, चारित्रको धक्का पहुँचता हो, देशकी स्वतन्त्रता नष्ट होती हो, समीचीन सिद्धान्तका लोप होता हो, उस जगह देश, धर्म और जातिके उत्थानके लिए विना पूछे भी विद्वानोंको अवश्य वोलना चाहिए। उस समय चुप चाप खडे २ तमाशा देखना सत्पुरुषोंका कार्य नहीं है।" "जो वाणी लोकोंके कानोंमें पुनः पुनः पड कर जहर उगलती है, जीवोंको मोहरूप कर डालती है। सन्मार्गको भुला देती है, वह वाणी न होकर एक सापनी जैसी है, जिसके सुनते ही प्राणी उत्तम मार्गको छोडकर कुमार्गमें पड जाते हैं।" "कानोंको जितना सुख मनोहर वाणी देती है, उतना सुख चन्दन, चन्द्रमा, चन्द्रमणि, मोती, मालती, आदि शीतल पदार्थ नहीं दे सकते।"

"अग्निसे जला हुआ वन तो किसी समय हरा भरा हो जाता है, परन्तु जिव्हारूपी आगसे पीडित होकर लोक कभी नहीं पनपता।" "जो सच वोलते हैं, तत्वके असली स्वरूपको समझ सके हैं, जिनको सत्य और शीलका ही अवलम्बन है, उनके पैरो से पृथ्वी पवित्र हो जाती है और वही लोक उत्तम है। जो असत्य वोलते हैं वे ही नीच होवे हैं।" "जो नीच पुरुष मनुष्यजन्म पाकर भी सत्यकी प्रतिज्ञासे रहित है, वह ससार रूपी कीचडसे और क्या करनेसे पार हो सकेगा?" "जिनके हाथ नाक कान कटे हो, रूप रग नामको

भी न हो, दरिद्री और रोगी हो, कुल, जाति, वर्णसे हीन हो, तब क्या हुआ उनका भूषण सत्य है, सत्यसे पवित्र और सुखी हैं। उनकी शोभा सत्यसे है।" "जो पुरुष असत्यसे मलिन हैं, उनके साथ पाप रूपी कालिमाके भयसे कोई भी धर्मज्ञ पुरुष सपनेमें भी उसका साक्षात्कार नहीं करता।" "झूठेकी सगतिसे सच्चेको भी कलंक लेना पडता है।" "पुत्र, स्वजन, स्त्री, धन और मित्रोंके जाने या विमुख होने पर अथवा प्राण जाने पर भी झूंठ नहीं बोलना चाहिए।"

इत्यादि वचनामृतोंको पीकर जो पाप रहित और श्रेष्ठ सत्य बोलता है, वही जगत्‌मे प्रधानपुरुष है।

सत्यकी तरह सब प्रकारके तपोंमे अर्थात् जिन तपोंमे इच्छाओंका रोकना अनिवार्य है वे तप १२ प्रकारके कहलाते हैं, उनमे उत्तम और नव विध ब्रह्म गुप्तिसे गुप्त किया गया ब्रह्मचर्य नामक तप उत्तम है।

सुन्दर स्त्रियोंके मनोहर अगोंको देख कर उनसे क्रीडा करनेकी जिसके चित्तमें इच्छा खडी होती है उसको त्याग देनेसे अथवा वेद नामक नोकषायके तीव्र उदयसे मैथुन सेवनकी इच्छाका त्यागना ब्रह्मचर्यव्रत है, उसे स्पष्ट करनेके लिए सत्पुरुष कहते हैं कि हे कामी पुरुष,! अनुपम सहज, परम तत्वरूप, निजस्वरूपको छोड कर अति सुन्दर स्त्रियोंकी शरीर आदि विभूतिको मनमें क्यों याद करता है, और उनके मोहमे किस लिए फँसा पडता है।

अब्रह्मचर्य्य के दोष—स्त्री सम्भोगसे सन्ताप पैदा होता है, पित्तको बढाता है, काम ज्वर फैल जाता है, हिताहितको नशाकर मोहको बढाता है। शरीर नि:सत्व होता है। तृष्णामें जकडा जाता है, अतः कामेच्छामे और ज्वरमें कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। और इन दोषोंको जान कर भी यदि कोई सर्व्वथा शीलका पालन न कर सके तो गृहस्थका कर्तव्य है कि विवाहित पत्निमें अवश्य सन्तोष पैदा करे। क्योंकि इस प्रतिज्ञामे भी अनेक तरह की इच्छाओंका मर्दन कर देता है।

कहा भी है कि—अपनी स्त्री मात्रमे सन्तोष करनेके अनन्तर जो अन्य स्त्री मात्रकी कभी इच्छा तक भी नहीं करता है, उसमे भी सुदर्शन शेठ की तरह अद्भुत प्रभाव पैदा हो जाता है, तब ब्रह्मचारीके प्रभावकी प्रशंसा क्यों कर की जासकती है, क्योकि वह तो अवर्ण्य है।

इसी भांति स्त्रीका भी परमधर्म है कि-पर पुरुष चाहे रूपमें, ऐश्वर्य्यमें, कलामें कितना भी बढा चढा क्यों न हो, उसे जहरका पुतला समझ कर त्याग देना चाहिए जिस प्रकार सीताने रावणको छोड दिया था । वही स्त्री देवोंसे पूजित होती है जिसने मैथुनके विकार को जीता है ।

मैथुन नाम जोडे का है, प्रकृतिमे स्त्री पुरुषका ही जोडा समझा जाता है, दोनोंका परस्पर सयोग या सभोगके लिए जो भावविशेष उत्पन्न होता है अथवा दोनों मिलकर जो सभोग किया करते हैं उसको मैथुन कहते हैं, और उस मैथुनको 'अब्रह्म' कहते हैं । इसमे भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है, क्योंकि उस अभिप्रायसे जो भी किया की जायगी, फिर चाहे वह परस्पर दो पुरुष या दो स्त्री ही मिल कर क्यों न करें, अथवा अनंग क्रीडा आदि ही क्यों न हो वह सब अब्रह्म है, और जो प्रमादको छोडकर किया करते हैं उसको मैथुन नहीं कहते । जैसे कि पिता भाई आदि पुत्री भगिनि आदिको जब गोदमे लेकर प्यार करते है तब वह अब्रह्म नहीं कहला सकता, क्योंकि उनमे 'प्रमत्तयोग' नहीं है । इस प्रमत्तयोगकी यदि एक अशमे निवृत्ति की जाय तो वह ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है । जैसे कहा है—

"माता बहन बेटीकी तरह परस्त्रीको जानता हुआ जो अपनी विवाहिता स्त्रीमें ही सन्तोष करता है, वह चौथा अणुव्रत कहलाता है ।" "उत्तम पुरुष परस्त्रीको व्याधि और दुखके समान समझ कर दूरसे ही छोड देते हैं, क्योंकि परस्त्री सदैव दु खोंका घर है, और सुखोंका नाश करनेके लिए प्रलयकी आग जैसी सिद्ध हुई है ।" "जो स्त्री अपने पतिको छोड कर परपुरुषमे रमण करने चली जाती है, उसे परले सिरेकी निर्लज्ज समझना चाहिए । जब इस आचरणसे अपनी स्त्रीका भी विश्वास नहीं है तब परस्त्रीका किस बात पर विश्वास किया जा सकता है ।" "परस्त्रीका सेवन करके पुरुष क्या सुख पाता है । केवल नरक निगोदमें रुलनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं । अत मनुष्योंको 'ब्रह्मचर्य्य' व्रतका पालन करना चाहिए ।" "इस व्रतका आश्रय-लेकर योगीजन परब्रह्म परमात्माका और अपना स्वरूप अभेदरूपसे जान लेते है । उसीका अनुभव करते हैं, और इसे धीर वीर पुरुष ही धारण करनेमें समर्थ हैं । अल्पसत्त्वाले, शीलरहित, इन्द्रियोंके दास, दुर्बल पुरुषतो इसका स्वप्नमें भी समाचरण नहीं करसकते, क्योंकि यह ब्रह्मचर्य्य असिधारा महाव्रत है ।"

"इन तीनों भुवनोंमे ब्रह्मचर्य्य नामक व्रत ही प्रशसनीय है, जो इसे निर्मलभावोंसे पालते हैं वे पूज्य पुरुषों द्वारा भी पूजित होते हैं ।" "जो ब्रह्मचर्य पालनमे अनुरक्त रहते हैं वे दश प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग कर देते है ।" जैसे—

(१) शरीरका सस्कार–शृंगारादिकरना । (२) पुष्ट रसका सेवन करना । (३) गाना-वजाना-देखना-सुनना । (४) स्त्रीका ससर्ग करना । (५) स्त्रीमे किसी प्रकारका सकल्प–विचार करना । (६) स्त्रीके अग उपागोको देखना । (७) उसे देखनेका सस्कार वनाए रखना । (८) पूर्व्व कृत भोगोंका पुनः स्मरण करना (९) अगाडीके लिए भोगनेकी चिन्तवना करनी । (१०) शुक्र (वीर्य)का क्षरण कर देना ।

ये दश भेद मैथुनके हैं, ब्रह्मचारीके लिए ये सर्व्वथा त्याज्य है ।

"जिस प्रकार किम्पाकफल (इन्द्रायण फल) देखने सूघनेमे रमणीय है परन्तु विपाक होनेसे तो हलाहल विषका काम कर डालता है । इसी भान्ति यह मैथुन भी कुछ काल पर्य्यन्त रमणीक और सुन्दर तथा सुखदायक प्रतीत होते हैं, परन्तु विपाक समय यानी अन्त समयमे वहुत ही भयप्रद प्रतीत होते हैं ।" "जो पुरुष काम और भोगोंमे विरक्त होकर सदा ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं उनको भावशुद्धिके लिए दश प्रकारका मैथुन त्याग देना चाहिए । क्योंकी इन दोषोके त्यागे विना भावोंमे निर्मलता नही आती । उत्तम भाव–ही कामके वेगको रोक सकता है ।"

कहा भी है कि–"सर्पसे डसे गए प्राणीके सात वेग होते हैं, परन्तु कामरूपी सर्पके द्वारा डसे गए जीवोंके दश भयानक और वडे वेग होते हैं, वे ये है ।"

कामके उद्दीपनसे पहले पहल चिन्तामे घिर जाता है कि कामका सम्पर्क क्योंकर हो, दूसरे वेगमे उसे देखनेकी इच्छा हो जाती है, ३ दीर्घ निश्वास लेकर छोडता है, और कहता है कि हाय उसे देख भी न सका, ४ ज्वर हो आता है, ताप मान वढ जाता है, ५ विना ही आगके शरीर जलने लगता है, ६ भोजन नही रुचता, ७ महा मूर्च्छा हो जाती है, कुछ भी चेत नहीं रह पाता । ८ उन्मत्त यानी पागल सा वन जाता है, आय बाय वकने लगता है, ९ प्राणों का रखना दूभर हो जाता है तथा उसे यह सदेह हो जाता है कि मैं अव जीवित नहीं रहूंगा । और दशवा वेग ऐसा आता है कि जिससे

वह मर भी जाता है, इनमें व्याप्त होकर यह जीव यथार्थ तत्व अर्थात् वस्तु स्वरूप को नहीं देखता। जब लोकव्यवहार ही का ज्ञान विदा हो जाता है तब परमार्थका ज्ञान क्यों कर हो सकता है। क्योंकि सब बातोंमें वह बिल्लकुल अस्थिर बन जाता है।

"जिसको कामरूपी काटा चुभता है वह प्राणी बैठने, सोने, चलने, फिरने, भोजन करनेमें तथा स्वजन पुरुषोंमें क्षण भर भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होता। अर्थात् सब अवस्थाओंमें डिगमिगाया रहता है।" "कामसे ठगा जाकर मनुष्य चतुर होकर भी मूर्ख बन जाता है, क्षमाशील-क्रोधी हो जाता है, शूर वीर कायर बन जाता है, बडप्पनसे गिर कर छोटा रह जाता है, उद्यमी पुरुष आलसी बन जाता है। और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है।" अतः मूर्खता न करके मनुष्यको मनुष्य जन्म सार्थक बनानेके लिए ब्रह्मचर्य्य पालन करना चाहिए। क्योंकि तपोंमें उत्तम ब्रह्मचर्य ही तप है।"

कदाचारका परिणाम-बैलके नपुंसक बनानेकी क्रिया देखकर, लंपटका राजा द्वारा इन्द्रिय छेदन देख कर, सुधीको कुशील त्याग कर स्वदार सन्तोष व्रत लेकर परदारका त्याग कर देना योग्य है।" "मैथुनका सेवन किंपाकफलकी तरह आरंभमें अच्छा लगता है परन्तु परिणाममें दारुण कष्ट होता है।" "शरीरमें कम्प, पसीना, थकान या शिथिलता, चक्कर आना, घृणा होना, पौरुषेयका क्षय, तपदिक क्षय-आदि रोग मैथुन सेवनसे होजाते हैं।" "योनि-यन्त्रमें असख्य जीवराशीकी उत्पत्ति हो जाती है, और मैथुन करते समय वे जीवित नहीं रह सकते।"

वात्स्यायनका मत है कि-"रक्तमें कीडे हो जाते हैं, वे जीव सूक्ष्म होते हैं, और सम्पर्कके समय मर जाते हैं।"

मैथुन सेवनसे काम ज्वर घट नहीं सकता-"अग्निमें घी डाल-कर अग्निको बुझानेकी इच्छाकी चेष्टाकी तरह स्त्रीसंभोगसे काम ज्वर कभी शान्त नहीं हो सकता। अतः स्त्रिए भी पर पुरुषको सर्पके समान समझकर उन्हें त्याग दें।" क्योंकि-

"ऐश्वर्यमें चाहे इन्द्रके समान हो और सुन्दरतामें कामदेवका अवतार हो तब भी सदाचारियोंकी दृष्टिमें सीताने रावण था जिस प्रकार त्याग किया इसी प्रकार पर पुरुष त्याज्य हैं।"

ब्रह्मचर्यसे ही पुजता है–ब्रह्मचर्य सच्चरित्रका प्राण है, परब्रह्मके पानेमे निमित्तरूप है, जो ब्रह्मचर्यका समाचरण करते हैं, वे पूज्य पुरुषोद्वारा पूजित होते हैं।

ब्रह्मचर्यका फल–वडी आयु, सुडौल शरीर, शरीरकी दृढतर रचना, शरीर पर विलक्षण तेज, महान् शक्ति, यशः कीर्ति, ससारमे मान मर्यादा, प्रतिष्ठापात्रता, ये सब ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार सब लोकोकी उत्तम रूप सम्पदा पाकर तथा सर्वातिशायी क्षायिक ज्ञान दर्शन शीलशाली पुरुषोमे 'ज्ञात वंश' मे जन्म प्राप्त, अन्तिम जिनेंद्र श्रमणमहात्माओंमे प्रधानतम थे।

महावीरके नाम–श्रमण भगवान् महावीर प्रभुके वर्धमान, विदेहदिन्न, ज्ञातपुत्र, काश्यप, वैशालिक, महावीर, सन्मति, श्रमण, भगवान् इत्यादि अनेक नाम थे। ये सब नाम उनकी अमुक अवस्थाके सूचक हैं। क्योंकि भगवान् महावीर स्वामीका जीवन सासारिक अवस्था और साधक अवस्थामे विभक्त है। वर्धमान, विदेहदिन्न (महावीर प्रभुकी माताका नाम 'विदेहदिन्ना' भी था "तिसला ति वा, विदेहदिन्ना ति वा, पियकारिणी ति वा—(आचाराग २–१५ १३)। त्रिशला माता विदेहमे जन्मी थीं जिससे उनका नाम विदेहदिन्ना था। अत माताके इसी नाम पर महावीर प्रभुका मातृपक्षका नाम भी विदेहदिन्न पड गया था, ज्ञातपुत्र, काश्यप और वैशालिक ये ३ नाम उनकी सासारिक अवस्थाको वता रहे हैं। महावीर, सन्मति, और श्रमणभगवान् ये तीन नाम उन्होने साधक अवस्थामे अपने आत्मवीर्यादि गुणोसे प्राप्त किए हैं, 'वर्धमान' पिताके पक्षका नाम था, और विदेहदिन्न मातृपक्षका नाम था। ज्ञातपुत्र यह 'वंश' सम्वन्धी नाम था, काश्यप 'गोत्र' का नाम था, और 'वैशालिक' जन्मस्थानके सम्वन्धका 'अर्थसूचक' नाम है, तव महावीर नाम उनके आत्म वीर्यका, सन्मति उनके आत्म ज्ञानका और 'श्रमणभगवान्' नाम श्रमण सस्कृतिके तात्कालीन अग्रसर रूपक 'अर्थसूचक' नाम है ॥ २३ ॥

ज्ञातपुत्र–उपर्युक्त सव नामोमे भगवान् महावीरके 'ज्ञातपुत्र' नामके विषयमे हमको विचार करना है, यह 'ज्ञातपुत्र' नाम उनके वंशका सूचक है, यह वात जैनागम और वौद्धागममे ठौर २ कही गई है।

भगवान् महावीर का 'श्री आचारांग' और 'कल्पसूत्र' आदि सूत्रोंमें उनके जीवन चरितके अनुसार उनका जन्म क्षत्रियकुण्ड ग्राममें 'ज्ञातवंशीय' और 'काश्यपगोत्रीय' सिद्धार्थ क्षत्रिय राजाके घर त्रिशला क्षत्रियाणीकी कुक्षिसे हुआ था।

यह ज्ञातृवंश उस समयके प्रसिद्ध इक्ष्वाकु, आदि क्षत्रियोंके विशाल कुलोंकी तरह प्रसिद्ध 'वंश' समझा जाता था। इस ज्ञातृवंशके क्षत्रिय प्रायः 'ज्ञातृक' के नामसे पहचाने जाते थे। और उनके इस 'ज्ञातृ' कुलके सम्बन्ध से उनके नगरों के बाहर बनाए हुए खड-उद्यानों के नाम भी 'ज्ञातृखड' के नामसे प्रसिद्ध थे। भगवान् महावीर प्रभुने 'कुण्डग्राम' के समीपवर्ती 'ज्ञातृखड' नामक बागमें दीक्षा ली थी। शास्त्र वचन तो इसकी खूब ही पुष्टि करता है।

जिनागममें 'ज्ञातृपुत्र' का प्रतिशब्द 'नायपुत्त' या 'नातपुत्त' के रूपमें और बुद्धागममें 'नाथपुत्त' या 'नाटपुत्त' के रूपमें जिस शब्दप्रयोगका उल्लेख देखनेमें आता है, वह भगवान् महावीर के 'ज्ञातृवंश' का ही अर्थसूचक नाम है, इसे मान लेनेमें हमको ऊपरोक्त कारण मिलते हैं, **'नायपुत्त'** या **'नात-पुत्त'** ये दोनों नाम संस्कृत में **'ज्ञातृपुत्र'** शब्दके ही प्राकृत रूप हैं, और **'नाथपुत्त'** या **'नाटपुत्त'** ये दोनों नाम भी इसी शब्दके 'पाली' रूप हैं। प्राकृत में **'त'** को **'य'** और पाली में **'त'** को **'थ'** और **'थ'** को **'ट'** भी साधारणतया हो जाता है। दिगम्बर सूत्रोंमें **'ज्ञातृपुत्र'** का **'नाथपुत्त'** इस शब्दको व्यवहृत होता देखा जाता है। इस प्रकार भाषा और भावकी दृष्टिसे देखते हुए भी ये सब अलग २ नाम मूल **'ज्ञातृपुत्र'** शब्दसे मिल जाते हैं। ये सब नाम **'ज्ञातृपुत्र'** शब्दसे बनाए गए हैं। इसमें शंका करने के लिए जरासा भी स्थान नहीं है। प्राचीन कालमें वंशके नामसे परिचय करानेकी प्रथा होनेसे भगवान् महावीर प्रभुके जीवनविषयक परिचय श्रीजि-नागमोंमें और बौद्धागमोंमें **'नातपुत्त'** या **'नाथपुत्त'** शब्दसे और भगवान् महावीरके शिष्योंका परिचय **'नातपुत्तीय'** या **'नाथपुत्तीय'** शब्दसे विशेषत दिया गया है।

श्रीजिनागमके १२ अंगोंमें छठ्ठा अंग 'णायधम्मकहाओ' है, उसमें उपर्युक्त आया हुआ **'णाय'** शब्द भी भगवान् महावीरका वंशवाचक 'नाय-पुत्त' के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है। प्राकृतमें **'न'** को **'ण'** हो जाना तो

एक साधारण नियम है। इस अंग का गुजराती अनुवाद भी '**भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ**, यह करनेमे आया है, इस अगका परिचय श्रीसमवायागसूत्रमे किया गया है, उसमे वताया है कि–"इस अंगमे ज्ञाताओं के नगरोका, उद्यानोंका, मातापिता का, "इत्यादि परिचय दिया जायगा' यह लिखा है, टीकाकारने ज्ञाताओंका उदाहरणभूत अर्थ किया है, परन्तु "ज्ञाता" अर्थात् 'ज्ञातृवंशी' क्षत्रिय ही अर्थ पूर्वापर विचार करते हुए अधिक निश्चय होता है।

भगवान् महावीरका परिचय श्रीजिनागमोमे '**नायपुत्त**'-'**ज्ञातपुत्र**' के अतिरिक्त और नामोंसे भी दिया गया है, तथापि वहा पर '**नायपुत्त**' शब्द की ही विशेष प्रधानता रही है। बहुत से प्राचीनतम सूत्रोमे भगवान् महावीर प्रभुकी गुण गाथाका सृजन विशेषत '**नायपुत्त**' शब्दसे ही किया गया है—

यथा–

"न ते सन्निहिमिच्छन्ति, **नायपुत्तवओरया**" १८

"न सो परिग्गहो वुत्तो, **नायपुत्तेण** ताइणा
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणो" २१

"एय च दोस दट्ठूणं, **नायपुत्तेण** भासियं
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गथा राइभोयणं" २६

"एय च दोसं दट्ठूणं **नायपुत्तेण** भासियं,
अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए" ४९

"एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे, अरहा **नायपुत्ते** भगवं वेसालिए वियाहिए" १८

भावार्थ—"जो भगवान् 'ज्ञातपुत्र' के वचनो पर पूर्ण विश्वास रखते है वे किसी वस्तु का सग्रह करके नहीं रखते ॥ १८ ॥

प्राणीमात्रकी रक्षा करनेवाले 'ज्ञातपुत्र' महावीर प्रभुने वस्त्र पात्रको परिग्रह न बताकर मूर्च्छा यानी ममत्व भावको ही परिग्रह बताया है, यह महर्षिओंने कहा है, ॥ २१ ॥ (दशवै० अ० ६)

'ज्ञातपुत्र' महावीर प्रभुने कहा है कि मर्य्यादामे रहनेवाले साधु इस दोपको भलिभान्ति देखकर थोडासा भी कपट पूर्वक झूठ न बोले ॥ ४९ ॥

इस दोपको देखकर निर्ग्रन्थ रात्रि भोजन छोडदे, क्योंकि 'ज्ञातपुत्र' ने इसके दोप प्रत्यक्षमे वताए हैं ।

"इस प्रकार अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शन युक्त अर्हन् प्रभु 'ज्ञातपुत्र' महावीर विशाला नगरमे इस प्रकार व्याख्यान करते थे ॥ १८ ॥"

इन प्रमाणोंके अतिरिक्त इस अध्यायमें तो २-१४-२१-२३-२४ की गाथाओंमे प्रभुकी स्तुति 'ज्ञातपुत्र' शब्दका ही सकेत रखकर की गई है। इस तरह श्रीजिनागमके प्रमाणभूत ग्रन्थोंमे **'नायपुत्त'** या **'नातपुत्त'** को भगवान् महावीरके वशवाची नामका उपयोग अनेक स्थलों पर पुष्कल रूपमे किया है, इन सव शब्दप्रयोगोंके उद्धरण करने की यहा जरासी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती । मात्र **हेमाचार्य** ने परिशिष्टपर्व्वमे जो 'ज्ञातनन्दन' भगवान् महावीरको वंदन किया है उसीका यहा उद्धरण देकर अगाडी वढ चलेंगे ।

उन्होंने मंगलाचरणमें कहा है कि—"जो कल्याण वृक्षोंका वगीचा है, श्रुतिरूप गगाका हिमालय है, विश्वकमलके लिए सूर्यकी भाति है उस ज्ञातनन्दन महावीरको मै नमस्कार करता हू ।"

बौद्धपिटकोंमे भगवान् महावीर का अपना उनके शिष्योंको और उनके सिद्धान्तोंका परिचय उनके वशवाची **'नाथपुत्त'** या **'नाटपुत्त'** के शब्द-व्यवहारसे ही दियागया है। उनके श्रमण निर्ग्रन्थोंके लिए **'नाथपुत्तीय'** शब्द का उपयोग किया गया है। इस नामके अतिरिक्त भगवान् महावीरके जीवन सम्बन्धी परिचयके लिए अन्य किसी शब्दका प्रयोग किया हो यह देखने मे नहीं आया, सिर्फ **'नाथपुत्त'** के साथ 'निगण्ठ' शब्द का प्रयोग हुआ है। मगर यह शब्दतो उनकी साधु अवस्थाका सूचक है। और वह **'नाथपुत्त'** शब्दका विशेष्य न हो कर एक विशेषण है।

इससे प्राचीन कालमें 'वंशवाचक' नामसे परिचय देनेकी प्रथा स्पष्ट जानी जा सकती है। महात्मा बुद्ध भी उनके मूल नाम "सिद्धार्थ" की अपेक्षा उनके 'गोत्रसूचक' नाम "गौतम" के नाम से और 'वंशसूचक' "शाक्यपुत्र" के नामसे अधिक प्रसिद्ध थे।

भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवश' था और इस ज्ञातृवंशसे उनका 'वंशसूचक' नाम **'नायपुत्त'** प्रसिद्ध हो गया, जिसे हम ऊपर देख गए हैं। मगर इस वंशका अगाडी चलकर कितना विस्तार और कितना विनाश हुआ इसका इतिहास प्राय· लुप्त है। इस लुप्तप्राय इतिहास का शोध करना 'अत्या-वश्यक' है। इस इतिहास को तलाश करने के लिए हमारे पास बौद्ध साहित्य एक अनन्य साधन है।

भगवान् 'महावीर' और 'महात्मा बुद्ध' ये दोनों एक समयके समकालीन धर्मक्रान्तिकारी महापुरुष होगए हैं। तदुपरान्त वे दोनो एक ही देशके निकटस्थ प्रान्तके निवासी राजवंशी पुरुष थे इन कारणोंको लेकर महात्मा बुद्धको एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तमें विहार करते हुए भगवान् महावीरकी जन्म भूमिमें जानेका और वहा भगवान् महावीरके वश-सम्बन्धी लोगोंके साथ वार्तालाप करनेका प्रसग प्राप्त होना यह एक स्वाभाविक बात है।

'बुद्धपिटक' के 'महावग्ग' नामक सूत्रमें म० बुद्ध भगवान् महावीरकी जन्मभूमि कुण्डग्राममें और उसके पासमें 'ज्ञातृको' के ग्रामोंमें एवं वैशालि नगर जानेका और वहा 'निर्ग्रन्थ श्रावक' 'सिह' सेनापतिके साथ बातचीत करनेका उल्लेख मिलता है। इस उल्लेखके आधार पर भगवान् महा-वीर का 'ज्ञातृवश' और उनकी जन्मभूमिके विषयमें हमको बहुत कुछ परि-चय मिलेगा। इसी धारणासे ये उल्लेख उतारने उचित प्रतीत हुए।

*अथ भगवान् जहा **कोटिग्राम** था वहा गए, वहा भगवान् कोटि-ग्राम मे विहार करते थे,

---

* देखो, विनयपिटक महावग्ग पृ० २४१-'कोटिग्राम,'

अम्बापाली गणिकाने सुना कि भगवान् **कोटिग्राम**मे आगए। अम्बापाली गणिका सुन्दर-सुन्दर (भद्र) यानोंको जुडवा कर, सुन्दर यान पर चढ कर, सुन्दरयानों के साथ वैशालिसे निकली। और जहा वह **कोटिग्राम** था वहा चली

तब वह 'लिच्छवी' जहां **कोटिग्राम** था वहा गए।

"एक समय भगवान् बुद्ध नादिक (ज्ञातिका) के गिञ्जिकावसथमे विहार करते थे"

{ मज्झिमनिकाय पृष्ठ १२७
चुल्ल-गोसिंग-सुत्तन्त
वैशाली }

कोटिग्राममे इच्छानुसार विहार कर जहा पर **वैशाली** का महावन है वहा गए, वहा भगवान् बुद्ध वैशाली महावन की **कूटागार** शाला मे विहार करते थे।

उस समय बहुतसे प्रतिष्ठित 'लिच्छवि' सस्थागार-(प्रजातन्त्रसभागृह) मे बैठे थे। वे सब मिलकर बुद्ध का गुण बखानते थे। धर्म का, सघ का, गुण बखानते थे, उस समय निगंठों का श्रावक (जैनों का श्रावक) सिंह सेनापति उस सभामे बैठा था।..................................
......तब सिंह सेनापति जहा **'निग्गंठ नाथपुत्त'** थे वहा गया, जाकर **'निग्गंठ नाथपुत्त'** से बोला कि भंते मे...................... ....

सिंह? तुम्हारा घर दीर्घकाल से **निगठों** के लिए प्याऊ की तरह रहा है।........ ....
.... उस समय बहुतसे

निगंठ (जैन साधु) वैशाली मे एक ....
.... चिरकालसे यह आयुष्मान् (निगठ) बुद्ध ....हैं।

'विनय पिटक' 'महावग्ग' तथा 'मज्झिम निकाय' मे आए हुए इन उल्लेखोंसे साफ २ मालूम हो जाता है कि 'महात्मा बुद्ध' 'महावीरस्वामी'

की जन्मभूमि 'कुण्डग्राम'–पाली भाषामें 'कोटिग्राम' मे गए थे । और कुण्ड-ग्रामके पासकी बसनेवाली वैशाली नगरीमेंसे वहा महात्मा–बुद्धको अम्बा-पाली नामक वेश्या और लिच्छवीक्षत्रिय मिलने आए थे । कोटिग्राम से म० बुद्ध जहा **'ञातिका'** 'ज्ञातृक' रहते थे वहा गए थे। और वहा **'ञातिका'** ज्ञातृकोंके 'गिंजिकावसथ'–ईंटोके घरमे ठहरे थे । इस स्थानके पास ही एक अम्बापालीवन नामक उद्यान भी रहा है जिसे अम्बापालीने बुद्ध और उनके संघको समर्पण कर दिया था । वहा से म० बुद्ध वैशाली गए और वहा सिंह नामक सेनापति जो कि निर्ग्रन्थोंका श्रावक था, उसे अपना अनुयायी बनाया, सिंह सेनापति महात्मा बुद्धको मिलने जाने से पहले **निर्ग्रन्थ** ज्ञातृपुत्र महा-वीर प्रभुके पास अनुज्ञा लेने आया था। तब भगवान् महावीरने सिंह सेनापति को "तू क्रियावादी हो कर अक्रियावादी श्रमण गौतमके पास उसे मिलने क्यो जाता है ? यह कह कर न जानेकी सम्मति दी थी" । परन्तु वह अपनी इच्छानुसार श्रमण गौतमके पास गया और वह वही श्रमण गौतम बुद्धका अनुयायी होगया ।

उपरोक्त उल्लेखसे हमारे विषयको पुष्ट करने वाली चार बाते जानने को विशेष तया मिलती हैं ।

(१) बौद्धोंका कोटिग्राम* ही जैनोका कुंड ग्राम मालूम होता है, इन दोनो नामोमे शाब्दिक सादृश्यके अतिरिक्त उस ग्राम के पास 'ज्ञातृक'–ज्ञातृ वंशके क्षत्रियोंका निवास स्थान और वैशाली नगरीकी निकटता होनेके कारण ये दोनो वस्तुए 'कुण्डग्राम' और वही 'कोटिग्राम' होनेकी मान्यता पुष्ट हो जाती है ।

(२) कोटिग्रामके पास ज्ञातृकोंका निवासस्थान, भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' था यह और भी पुष्ट कर देता है, और साथ २ कुण्डग्रामके, आस पास 'ज्ञातृक'–'ज्ञातृवंश' के क्षत्रियोंके खंड–'उद्यान' थे, और वहा

---

* बौद्धग्रन्थोंमें कुंडग्रामका नाम कोटिगाम और भ० म० को ज्ञाति-पुत्रके स्थान पर नातिपुत्र लिखा है । देखो "भारतका प्राचीनराजवंश" पृष्ठ ५० डे० विश्वेश्वरनाथ राय ॥

'ज्ञातृवंशी' क्षत्रिय रहते थे। यह इस विचारको और भी दृढ कर देता है। यह "ज्ञातृक" का उल्लेख और ये 'ज्ञातृक' भ० महावीरकी जन्म जातिवाले 'ज्ञातृ' क्षत्रिय ही होंगे यह कल्पना की ओर निर्देश करता है।

(३) 'ज्ञातृ' जाति लिच्छविओंकी एक शाखा थी" इस बातकी पुष्टिके लिए भी 'वैशाली के लिच्छवी क्षत्रिय महात्मा बुद्धको मिलने आए थे' इस उल्लेखसे पता चल जाता है कि भगवान् महावीर की माता भी लिच्छवि वंशकी ही थीं और 'सिंह सेनापति' जोकि–भगवान् महावीर का श्रावक था वह भी लिच्छवि वंशका ही था। ये दोनो बातें ज्ञातृ जातिको लिच्छविओंकी शाखा का होना ही पुष्ट करती हैं।

(४) कुण्डग्रामके पास विदेहकी राजधानी वैशाली नगरी थी। इस नगरी का कुण्डग्राम एक शाखापुरके समान था। भ० महावीर प्रभुका "वैशालिक" नाम भी इस नगरके नाम से ही प्रसिद्ध था, विशाला नगरी मे सिंह सेनापति नामका जो निग्रन्थ श्रावक लिच्छवी रहता था वह भगवान् महावीर की सलाहको न मानकर महात्मा बुद्धके पास गया था। इससे भी महात्मा बुद्ध वैशाली नगरमें आया था तब भगवान् महावीर प्रभु भी उसी नगरमे थे, यह स्पष्ट जान पडता है।

ऊपरके उल्लेख में जो '**जातिका**' शब्द लिखा गया है, उस शब्दका मूल बहुतोंने '**नादिका**' भी निकाला है, और उसका अर्थ 'इस नामके जलाशयके तट पर बसा हुआ एक ग्राम' किया जाता है। मगर यह भ्रमपूर्ण है। इस प्रकार हर्मन जेकोबी[†] उसका मूल शब्द **जातिका** ही बताता है। और वह शब्द 'ज्ञातृवंश' के क्षत्रियों का वाचक है यह कह कर समर्थन करता है।

इस **जातिका** शब्द पर त्रिपिटकाचार्य श्रीयुत राहुलसंकृत्यायन ने इस पर विशेष प्रकाश डालाहै । उसने अपनी 'बुद्धचर्य्या' 'नामक हिन्दी पुस्तकमें 'नादिका' का मूल शब्द "नाटिका"-ज्ञातृका,, बताया है । और 'ज्ञातृका' शब्द ज्ञातृवंशके क्षत्रियोंका सूचक है यह सप्रमाण बताया है । वे अगाडी चलकर यह भी बताते हैं कि-ज्ञातृ जाति लिच्छवियोंकी शाखाथी । और वैशाली नगरीके आस पास ही रहने वालीथी । यह ज्ञातृ जाति आज भी वैशाली नगरी (जिला मुज़फ़्फ़रपुरके अन्तर्गत है, बसाडके पास) के आस पास जथरिया नामक जातिसे पहचाना जाता है, यह जथरिया शब्द भाषाकी दृष्टिसे भी 'ज्ञातृ' शब्दके साथ गहरा सबंध रखता है ।

जथरिया शब्द '**ज्ञातृ**' शब्दका अपभ्रंश शब्द प्रतीत होता है । '**ज्ञातृ**' शब्दमेंसे जथरिया शब्दका अवतरण किस प्रकार होगया इसके विषयमें राहुलजीने भाषाकी दृष्टिसे निम्न प्रमाणसे विचार कियाहै । ज्ञातृ=नाति, ज्ञातृ-ज्ञातर-जातर-जतरिया-जथरिया-जैथरियाके गॉवमे नादिका-ज्ञातृका-नत्तिका-लतिका-रत्तिका-रती जिसके नामसे वर्तमान रत्ती पर्गना (जि० मुजफ्फरपुर) है । बुद्धचर्य्या २९ पृ० ।

इस प्रकार 'जथरिया' शब्द '**ज्ञातृ**'का अपभ्रंशहै राहुलजी इस रत्ती पर्गनाका मूल नाम अपने उपरोक्त उल्लेखमें आए हुए '**नादिका**' शब्द से उत्पत्ति बताते हैं ।

' उस समय बडी भारी निग्गंठोंकी परिषद (जैन साधुओंकी जमात) के साथ निग्गंठ नाटपुत्त (महावीर) नालन्दामें ही निवास करते थे ।

---

(१) 'नाटपुत्त'-'ज्ञातृपुत्र'लिच्छवियोंकी एक शाखा थी । जो वैशाली के आस पास रहतीथी । ज्ञातृसे ही वर्तमान जथरिया शब्द बना है । महावीर और जथरिया दोनोंका गोत्र काश्यप है । आज भी जथरिया भूमिहार ब्राह्मण इस प्रदेशमें बहु सख्यामें हैं । उनका निवास रत्ती पर्गना भी ज्ञातृ-नती-लती-रतीसे बना है ।

१११ पृष्ठमें निगंठ पुत्तका भी उल्लेख किया है जो कि सं० नि० ४०।१।८ से उद्धृत किया गया है ।

इस प्रकार 'जथरिया' और उसका वर्तमान निवास '**रती**' ये दोनों शब्द 'ज्ञातृ' शब्दके साथ घनिष्ट सबन्ध रखते हैं और इस सबन्धसे '**जथरिया**' 'ज्ञातृक'-ज्ञातृवंशी ही हैं, और उनका प्राचीन निवास स्थान जोकि '**नादिका**' या '**नाटिका**' के नामसे पहचाना जाता था वही वर्तमान रती परगना है यह राहुलजीका दृढ मन्तव्य है। इनके इस दृढ और पुष्ट मन्तव्यमें दूसरी यह भी युक्ति है कि-इन '**जथरियोंका**' मूल गोत्र **काश्यप** है। वही काश्यपगोत्र भगवान् महावीर और उनके ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंका भी था।

इन **जथरिया**-ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंके विषयमें सूचना करते हुए श्री राहुलजी बताते हैं कि ये '**जथरिया**' लोक वर्तमान समयमें अपनेको ब्राह्मण बताते हैं। ये दान नहीं लेते। पंजाब प्रान्तमेंभी जमना नदीके किनारे बसने वाली एक जाती रहती है। वे भी दान नहीं लेते। उस देशमें उनको **तगा** कहते हैं। शायद यह त्यागीका अपभ्रष्ट होगया हो। हां तो इन 'जथरिया' जातिके लोकों को भूमिहार ब्राह्मण कहा जाता है। मगर और लोक इनको ब्राह्मण नहीं मानते। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि-वास्तवमें ये लोक क्षत्रिय ही हैं। इसका दूसरा कारण यह भी है कि-ये 'जथरिया' नाम सिंहान्त वाले हैं। जो क्षत्रियोंके नामके साथ आजकल पीछेसे लगाया जाता है और इनके नामके पीछे ठाकुर शब्द भी जोडा जाता है। यह भी क्षत्रिय सूचक ही है। इस वंशमें आजकल भी बहुतसे जमीनदार और राजा भी हैं। दर्भंगा नरेश इसी जातिसे अलकृत सुने जाते हैं।

ज्ञातृ-वंश और उनके जीवनके सम्बन्धका बहुतसा अज्ञानान्धकार जो कि अपने आसपास फैल गया है वह अन्धकार दूर हो जायगा ॥

गुजराती अनुवाद—पोतानी तेमज अन्यनी पूर्ण उन्नति तथा भलाईने माटे जे परोपकार दृष्टिथी आपवामा आवे तेने 'दान' कहे छे, अथवा वस्तुपरथी पोतानो अधिकार छोडी दईने बीजा कोईने अधिकार आपवो ते पण 'दान' कहेवाय छे, परन्तु अहीं तो श्रद्धा अने प्रतीतिनी साथे भक्ति-भाव पूर्वक परिग्रह परनो ममत्व-भाव छोडीने कर्मोनी निर्जरा खातर अनुकम्पाथी तथा मन-वाणी-कायनी शुद्धि सहित फलनी इच्छा वगर दाता जे प्राशुक अने पवित्र वस्तु आपेछे तेने 'दान' कहे छे ।

ते दानना चार प्रकार—अन्नदान-औषधदान-अभयदान अने ज्ञान-दान, ए दानोंमा प्राणिओनो भय दूर करी तेने सर्वथा निर्भय करवा ते सर्वोत्तम दान मनाय छे । अने आ मानवदेहमा दश प्राण छे, तेथी 'प्राणी' कहेवाय छे, जीवित रहेवानी इच्छा अथवा जीवित रहेवानो तेनो स्वभाव होवाथी तेनुं नाम 'जीव' पण छे, अने ए दश प्राण द्रव्य प्राण छे, अने ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति रूप अनन्त–चतुष्टय भाव प्राण छे, वास्तविक रीते त्रणे कालमा आ प्राणोथी सदा आ जीव जीवित छे, सर्व जीवो जीववानी इच्छा राखे छे, मरवुं कोई इच्छतो नथी, तेथी जीवित रहेवानी इच्छावाळाने अभय दान दईने तेनुं सर्वप्रकारे रक्षण करवु श्रेष्ठ छे । कोईने साचा दिलथी अभयदान पण आप्युं होत तो आ जीवनी मोक्ष थई जात, परन्तु आत्माने ज्ञानदान न मळवाथी पोताने जीववानुं स्वार्थ राख्युं, बीजा जीवोने पण जीववु प्रिय छे ए भान भुलावी दीधुं । कोइए कह्यु पण छे के—

"जे रीते मने मारु जीवन प्रिय छे, तेमज अन्य जीवोने पण पोतानुं जीवन प्रिय छे, स्वर्गमा रहेनार इन्द्र तेमज विष्टानो कीडो, महलमा वसनार भूपति तेमज झुपडीमा रहनार गरीब कठीआरो, ए दरेक जीववु इच्छे छे, तेम समजीने कोई पण प्राणीना मन नामा प्राणने पण निरर्थक कष्ट न देवुं जोइए"।

अहिंसा परम धर्म छे—अहिसा-परम धर्म छे, हिसा सर्व जग्याए निंदाय छे, ते पोताने पण वधारे अप्रिय छे, तो बीजाओने पण अवश्य अप्रिय छे, कारण के पोतानी तेमज परनी मनोदशामा कंइ अन्तर नथी, तेथी चतुर मनुष्योनी सदा आ भावना रहे छे के कोई पण प्रकारे जगत्ना जीवोनु कल्याण

करु । भलाई करुं, परोपकारमा हुं पोते लाग्यो वळग्यो रहुं ने बीजाओने लगाडवानो प्रयत्न करुं । मारामा लेशमात्र पण दोष न रहेवा दऊं ने बीजाओने निर्दोष बनाववानो पण सतत प्रयत्न करुं । आत्माना अनन्त सुखथी सुखी बनी बीजाओने सुखना स्थान पर लई जाऊं ।

जो कोई प्राणी आ भावोथी विपरीत चालीने, लोभना दास बनीने, जीभनी लालच जाळमा फसीने, द्रव्योपार्जननी इच्छाथी, लडाईमा विजय मेळववानी इच्छा थी, पोताना मनने ब्हेकाववाना हेतुए, निरपराध दीन-प्राणिओनी 'हिंसा' करे छे त्यारे तेनाथी उपार्जन करेला पापथी दूषित थईने, ते स्वार्थीने नरकमा अवश्य जवुं पडे छे, आ सिद्धान्त सर्व महापुरुषोने मान्य छे, बधाए तेने उच्चकोटिए पहोंचाडवानो प्रचार कर्यो छे, महर्षि 'पतंजलिए' तो तेने सर्वथी मोटु स्थान आप्यु छे, पाच यमोमा सौथी प्रथम 'यम' जीवरक्षा छे,

"क्रोध लोभ-मोहने लीधे हिंसा करवी, करावबी, अने अनुमोदवी तेने वितर्क कहे छे, अने ते पापनुं परिणाम तेमना मते अनन्त दुःख बताववाना आव्यु छे।"

कोई जगाए तो अहिंसानी प्रशंसा एटले सुधी करवामा आवी छे के प्राणिओनी साथे वेर भाव पण त्यागी देवो जोइए। त्यारेज साधक अहिंसा पाळी शके छे।

श्रीमद् उमास्वामीए—तत्त्वार्थसूत्रमा कह्युं छे के "जे कोई जीव प्रमाद अर्थात् कषाय वगेरेथी युक्त थईने मनो योग–वचन योग अने कायवोग द्वारा प्राणोनो 'अतिपात' या 'व्यपरोपण' करे छे तेने हिंसा कहवु कहे छे।

हिंसा करवी–आयु-प्राणोनो अतिपात त्याग अथवा वियोग करवो, प्राणोनो नाश करवो, जीवने कायथी अलग करवो, भवान्तर अथवा गत्यन्तरमा पहोंचाडी देवो, अमर प्राणोनु व्यपरोपण करवु, ए बधा शब्दो एकार्थवाची छे।

तदुपरान्त 'योगशास्त्र' ना व्यासकृत भाष्यमा अहिंसानी व्याख्या आ प्रमाणे करवामा आवी छे । के "सर्वदा सर्वप्रकारना जीवोनी साथे कदी पण द्रोह न करवो ते अहिंसा छे ।

याज्ञवल्क्य–स्मृतिमा कह्युं छे के मन, वचन, कायथी कोईने पण क्लेश न पहोचाडवो ते ज 'अहिसा' छे ।

अहिंसा-सत्य-आज्ञा विना पर वस्तु न लेवी, आत्माने पवित्र राखवो, इन्द्रियोनुं दमन करवुं, दया पाळवी, मनोविकारना प्रवाहने रोकवो, शान्तिमय जीवन जीववुं, ए बधाने धर्मसाधन बतावबामा आव्युं छे ।

यजुर्वेद–तेमां पण उपदेश आपवामा आव्यो छे. के–हे पुरुष ! तूं जगत्‌ना कोई पण प्राणीनी हिसा करीश नहि । "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" १८–३, पोतानी आखोथी सर्वने मित्र दृष्टिए जोवा जोइए। शत्रु जेवी दृष्टि कोईना पर पण न करवी ।

मनुनो पांचमो अध्याय–"जे मनुष्य पोताना कल्याणनी तो इच्छा प्रगटकरे छे, परन्तु प्राण-भूत जीवोनी हिसा करे छे. ते जीव आ लोकमां, अने मरीने परलोकमा क्यारे पण सुख मेळवी शकशे नहि ।

दशधर्म–"धैर्य धारण करवु, शान्ति राखवी, आत्माने पापथी विरक्त बनाववो, चोरी न करवी, आन्तरिक पवित्रता राखवी, इन्द्रियोने वश करवी, सत्य बोलवु, क्रोध न करवो, अहिसानुं पालन करवुं, आरभ अने परिग्रहने मुकवा ए प्रकारे धर्मना दश लक्षण बतावेला छे ।"

महाभारत–"आ हुं सत्य कहुं छुं के सत्यवादिओनो धर्म अहिसा छे. अने ते प्रधान छे, अने हिंसा करवी, ए अधर्म छे, पाप छे ।

अहिंसावचनामृत–अहिंसा परम धर्म छे, अहिसा उत्कृष्ट दमन छे, अहिंसा उत्कृष्ट दान छे, अहिंसा प्रधान तप छे, अहिंसा परम यज्ञ छे, अहिसा परम फळ छे, अहिसा परम मित्र छे, अहिसा उत्कृष्ट सुख छे अहिसा एज उत्तम जीवन छे ।

"सर्व प्रकारना यज्ञोमा अनेक प्रकारनुं दान करवुं, सर्व तीर्थमा अनेक स्तुतिओ गावी, सर्व दानोनुं फल अहिंसा करता सारुं नथी, एटलेके ते कर्म अहिसानी साथे बराबरी करी शकतुं नथी ।"

नियमसार-कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गणास्थान, इत्यादि भेदोने सारी रीते जाणीने जीवरक्षा करवाना भावने 'अहिंसा' कहे छे, जीवोनुं मृत्यु थाय छे के नहि, ए प्रकारना विचारमा लागेला परिणाम वगर पाप-हिंसारूप क्रियानो त्याग थवो कठिन छे, तेथी ते रक्षाना प्रयत्नमा लागवु, ते 'अहिंसा' छे।

समन्तभद्राचार्यजीनुं कथन छे के-जगतना आ सर्वे जाणे छे के 'अहिंसा परब्रह्म स्वरूप छे, अर्थात् आत्मानी पूर्ण वीतरागताज 'अहिंसा' छे। ज्या वीतरागता छे त्या आत्मानुं शुद्ध-स्वरूप छे, जे आश्रमना चरित्रमा अणुमात्र पण आरभ नथी, त्या आ 'अहिंसा' प्राप्त थाय छे। आशय ए छे के आदर्श पुरुषोनुं सुन्दर तेमज सच्चरित्र रूप आचरण 'अहिंसा' छे। तेथी अहिं-सानी सिद्धिने माटेज परम दयालु प्रभुए आरम्भ परिग्रहनो त्याग कर्यो छे। प्रभु विचारशील वेश तेमज परिग्रहमा अनुरक्त नथी। कारणके ज्या परिग्रहनी आसक्ति नथी त्याज ऊचा प्रकारनी अहिंसा-धर्म छे 'जैन धर्मनी जय' ते माटे बोलवामा आवे छे के तेमा पूर्ण अहिंसानु पालन करवामा आवे छे, ते त्रस जीवोनी घात करवावाळा विचारोने जडमूलथी नाश करवानु कारण छे। तेमज पञ्चस्थावररूप एकेन्द्रिय जीवोनी घातथी पण तद्दन पर छे। अहिंसा त्रणे लोकना जीव समूहने सुख देनारी छे। तथा सुन्दर अने अक्षय सुखथी भरपूर समुद्र समान अगाध छे।

माराथी प्रतिकूळ सारुं नथी लागतुं त्यारे बीजाओने तेमने प्रतिकूळ क्याथी सारुं लागे ?

"बधाने पोतानो प्राण प्रिय छे राज्य नहि"–पोताना प्राण बचाववानी खातर इष्ट मित्र अने राज्यने पण तृणनी समान छोडी दे छे, तेथीज कोईना प्राणनो नाश करवाथी जे पाप थाय छे ते समस्त पृथ्वीनुं दान करवा छता दूर थई शकातुं नथी ।

मरनारने भले राज्य आपो के सुवर्णना पहाड अर्पण करो परन्तु जीवतरनी पासे ते वस्तुओनो कइ हिसाब नथी । तेथी ते सर्वने छोडीने जीवता रहेवानी अपील करे छे ।

"जरा काटो पगमा लागे छे तो ते आखा शरीरमा भारे पीडा करे छे तो जे निरपराध जीवोने मोतने आरे पहोंचाडी दे छे, ते मरनारना दु खोनी वेदना अनिर्वचनीय छे ।"

"अशरण, निरपराध, दुर्बलप्राणी बलवानना हाथे मराय छे, ते क्यानी नीति ? हाय ! कष्टनी साथे अमारे कहेवु पडे छे के जगत्मा अराजकता व्यापी गई छे, त्या न्यायने स्थान क्याथी मळे, जो कोई कोईने सभळावे छे 'तु मरी जा' एम साभळनार पण आ साभळता ज कंपी उठे छे, शरीर भयभीत अने दु खी थई जाय छे । तो जे बीजाने कठोरता पूर्वक शस्त्रथी मारे छे त्यारे तेनी शी दशा थती हशे ? तेना दु खना अनुभव वगर तेनु वर्णन कोण करी शके ?"

"हाथनुं कपावुं सारुं छे, पग वगरना रहेवामां पण कंइ खरावी नथी, पण शरीरना सम्पूर्ण अगोने प्राप्त करवा छता 'हिसकपुरुप' कोई कामनो नथी ।"

स्वार्थ साधवानी हिंसा पण हानिकारक छे–"विघ्ननी शान्तिने माटे करेली हिंसा पण विघ्नने माटेज थाय छे । घणाओ एम कही दे छे के–अमारा कुलनो आ रिवाज चाल्यो आवे छे । परन्तु ते कुलनु जराय भलुं करी शकतो नथी । ते कुलना नाश माटेज थाय छे शान्तिने माटे नहि । पोताना वंशमा परम्परागत चालती आवेली हिसाने जे प्राणी छोडी दे छे, अने शुद्ध अहिंसक बने छे, ते 'कालसूर कसाई' ना पुत्र 'सुलस' नी पेठे सर्व मनुष्योमा पवित्र अने श्रेष्ठ बने छे ।"

"जे इन्द्रियोने तो वशमा राखे छे, देव-गुरुनी सेवा पण करे छे, यथा शक्ति दान पण आपे छे, तत्त्व भणे भणावे छे, तप पण करे छे, पण धर्म बुद्धिए जरा पण हिंसा करी बेसे छे त्यारे तो तेनी उपरोक्त सर्व क्रियाओ निष्फल छे, तेथी साबित थयुं के धर्मना नामे करवामा आवेली हिंसा वज्रलेप समान भयंकर पापकारिणी छे।" "अने जे शास्त्रमा धर्मना नामे हिंसानो उपदेश करवामा आव्यो होय ते शास्त्र नथी पण शस्त्र समान छे।" "ए केवु आश्चर्य छे जे मनुष्य सुद्धाने मारवानो उपदेश देवावाळा, लोभान्ध बनी पथ भ्रष्ट बनवावाळा, हिंसा विधायकशास्त्र बनावीने तथा पाप करवानो उपदेश आपीने लोकोने मूर्ख बनावी रह्या छे, अन्धश्रद्धालु बनावीने मानो नरकना कुंडमा नाखी रह्या छे।"

अहिंसानुं माहात्म्य-"अहिंसा मातानी जेम सर्वनुं पालन करनारी अने हितकारिणी छे। अहिंसाज शत्रुओना मनमा अमृतनो सचार करावनारी छे। अहिंसा दुःख रूपी दावानलने बुझाववाना अमोल अने प्रधान वर्षा छे। संसार भ्रमण अर्थात् जन्म मरणना रोगथी पीडित जीवोने आरोग्यता अर्पनारी समर्थ औषधि छे।"

अहिंसानुं फल-"दीर्घायुष्य-पवित्र अने सुन्दर रूप-आरोग्यता-प्रशंसा निर्मल यश-कीर्ति इत्यादि सामग्रीओ अहिंसा पालनथी ज मळे छे, अधिक शुं कहेवु, अहिंसा सर्व मनोरथ पूर्ण करवावाळी आदि शक्ति छे।"

कोईए ठीकज कह्युं छे के-'पर्वतोमा सुमेरु-अमृत पीनाराना देवता, मनुष्योमा चक्रवर्ती, ज्योतिष चक्रमा चन्द्र, वृक्षोमा इष्ट फल आपनार फलदार कल्पवृक्ष, ग्रहोमा सूर्य, जलाशयोमा समुद्र, सुर असुर मनुष्य तथा नरकादिकोमा वीतरागना समान सर्व व्रतोमा पण अहिंसा व्रत सर्वोत्तम छे। ते व्रत अनुपम छे।"

"पोतानुं जीवन सर्वे कोईने बधी वस्तुओ करता अधिक प्रिय छे, जेम कह्युं छे के-"जो मरनारने एम कहेवामा आवे के तु एक करोड सोनामहोर लईने तारो जीव दई दे। त्यारे ते धनना ढगलाने छोडीने जीववानी आशा प्रगट करशे। कारणके जीव गया पछी तेने माटे धन शा कामनु? सर्वेने जीववु वहालुं लागे छे। तेथी सर्व दानोमा अभयदान श्रेष्ठ छे।

अभयदान पर उदाहरण-वसन्तपुरमा अरिदमन नामे राजा राज करतो हतो, ते पोतानी चार राणिओ साथे आनंद भोगवतो। एक दिन ते राणिओए गावुं, वजाववुं नाचवुं शरु कर्युं। राजा तेमनी गान्धर्व विद्या ऊपर प्रसन्न थई गयो अने वोल्यो के "आजे तमे जे कई मागशो ते हुं आपीश।" राणिओए जवाव आप्योके अत्यारे तो अमने कोई पण वस्तुनी आवश्यकता नथी, पण यथा समय ऊपर मागी लइशुं, अमने आपेल वरदान हमणा आप जमा राखो, राजाए कह्युं "वहु सारुं"

एक वार राणीओए एक चोरने जोयो के जेने लाल कपडा तथा जोडानो हार पहेरावीने वध्यभूमि तरफ लई जवामां आवतो हतो। राणीओनी साथे राजा पण महेल पर टेलतो हतो। चोरने जोईने राणीओए राजाने पूछ्युं के प्रजानाथ! "आणे शो अपराध कर्यो छे?" राजाए एक सिपाईने वोलावीने पूछ्युं। तेना जवावमा तेणे कह्युं के-पृथ्वीनाथ! तेणे चोरी जेवु राज्य तेमज धर्मविरुद्ध अकार्य कर्युं छे, तेथी आपेज तेने प्राणदंडनी शिक्षा फर्मावी छे।

ते साभळीने तेमानी एक राणीए कह्युं के न्यायवल्लभ! आप मने मारुं वरदान आपो के तेने एक दिवसने माटे जीवनदान आपवामा आवे, के जेथी हु तेना पर काइक उपकार करी शकुं" राजाए कह्युं "तथास्तु"

राणीए तेने महेलमा वोलावी कह्युं के "तने आजने माटे वचावी दीधो छे माटे खा पी ने मोजकर" एम कहीने अन्न वस्त्रथी तेनुं स्वागत करवामा आव्युं। सवार थता तेने १००० दीनार आपीने विदाय करवामा आव्यो।

ए रीते वीजी अने त्रीजी राणीए पण एक एक दिवसनुं जीवित दान दईने अनुक्रमे एक लाख अने एक करोड सोनामहोरनुं दान आप्युं।

पण चोथी राणीए तेने कंइ पण आप्या वगर तेने प्राण दंडनी सजा राजानी पासे क्षमा करावी दीधी। त्यारे साभळीने ते त्रणेए कह्युके "एने ते शु

आप्युं ?" चोथी राणीए कह्युं के "में तेने ए वस्तु आपी छे के जे तमे बधी मळीने स्वप्नमां पण न आपी शको" ते सांभळीने ते बधी क्रोध करीने तेने गळे पडीने बोली के "अमे तेने क्रोडपति बनावी दीधो अने तु कहे छे के अमे एना पर ताग जेटलो उपकार पण नथी कर्यो!" चोथीए कह्युं के "धन थी पण अधिक प्रिय सौने पोताना प्राण होय छे।" में तेने प्राण दान अपावीने हमेशने माटे सुखी बनावी दीधो छे। हवे तेने मरवानो भय नथी रह्यो। जेथी में सौथी मोटुं कार्य कर्युं छे। जो मारी आ वात पर तमने विश्वास न होय तो राजानी पासे आनो न्याय करावबो जोइए" एटली वात थया पछी राजाने महेलमां बोलाववामां आव्यो। राणीओनो मुकद्दमो सांभळीने राजाए चोरने बोलाव्यो अने पूछ्युं "तु साचुं कहे के कई राणीनो तु अधिक उपकार माने छे ?"

तेणे विनय पूर्वक शिर झुकावीने कह्युं के—एम तो बधीए मारा पर भारे उपकार कर्यो छे, कारण के तेणे मने अभयदान अपाव्युं छे। त्रणे राणीओए कोजेतुं धन आप्युं अने एक एक दिवस मरता बचाव्यो पण ए भय माथे रह्योज हतो के काले तो मरी जवानुं छे, तो आ धनने हुं करुं? पण चोथी राणीए मने मरवाथी बचावी दीधो छे। जेथी हुं आजीवन सुखी निर्भय बनी गयो, तेथी आ उपकारनो बदलो मारो देह आपीने पण नहि चुकावी शकुं। 'कारण के सर्व-दानोमां अभयदान श्रेष्ठ छे।'

एज प्रकारे सत्यवचनो निश्चय-व्यवहार-उभयनी पीडा दूर करनारा भाषासमितिमां छे, कारण के काणा-नपुंसक-रोगी-चोरादिने तेना नामे बोलावतां पण तेना मनमां आघात पहोंचे छे।

अनुभवगम्य छे, तेनो निषेध करवो ते सद्भूतनु अपलाप नामे मिथ्यावचन छे, आत्माने श्यामाक तड्डुल-सामकना चावलनी जेम नाना प्रमाणवालो वतावको अथवा अगुठाना टेरवा वरावर समजवो अथवा एम कहेवु के ते रक्त वर्णनो छे। निष्क्रिय छे, वगेरे सर्व वचन अभूतोद्भावन नामे असत्यवचन छे, कारणके आ जातना वचनो द्वारा आत्मानु जे वास्तविक स्वरूप नथी तेनो उल्लेख करवामा आवे छे। अर्थान्तर–एटले भिन्न अर्थ, एक पदार्थने अन्य रूपे वतावको, वास्तविक न कहेवो, ते अर्थान्तर छे। जेम कोई गायने घोडो कहे, अने घोडाने गाय कहे; जड़ने ईश्वर कहे अने ईश्वरने गुलाम कहे। ते-अर्थान्तर नामे असत्य कहेवाय छे।

गर्हा–एटले निन्दा करवी, तेथी जेटला निंद्य वचनो छे तेने वधाने गर्हित नामे असत्य वचन समजवा जोइए, जेमके "आने मारी नाखो !" "मरी जा" "आने कसाईने सौंपी दो" विगेरे हिंसामय वचन वोलवा तेमज मर्म भेदी–मनने दु ख थाय तेवा अपशब्द कहवा, गाळो देवी, कठोर वचन कहेवा, क्रूर शब्दो वापरवा, पैशून्य–कोईनी चुगली करवी, वगेरे गर्हित वचन कहेवाय छे। जो ते गर्हित वाक्य कदाच सत्य पण होय, छता ते असत्य मनाय छे। कारण के ते निन्द्य छे। प्रमाद सहित जीवना वचनो पण असत्य मनाय छे, प्रमाद युक्त कहेला वचन असत्य होय छे, अने प्रमाद रहित कहेवामा आवेल असत्य वचन पण सत्य होइ सके छे, जेवी रीते कोई रोगीवाळकने पतासामा दवा राखीने आपता कहे छे के आ पतासुं छे।

सत् शब्दना वे अर्थ थाय छे, विद्यमान तेमज प्रशंसा–तेथीज असत् शब्दना अविद्यमान अने अप्रशस्त ए वे अर्थ लेवा जोइए। सद्भूत-निन्हव-असद्भू-तोद्भावन तेमज अर्थान्तर ते अविद्यमान अर्थ दर्शावनार होवाथी असत्य छे। गर्हित वचन अप्रशस्त होवाथी असत्य छे तेमज प्रमादनो सवन्ध पण वंनेनी साथे छे,

ते सिवाय कषाय असत्यनु निमित्त वने छे। कषायनो उदय थता असत्यनो प्रयोग अवश्य करवामा आवे छे। तेथी क्रोध मान-माया-लोभ-राग-द्वेष-मोहादिने लीधे असत्य वोलवानो त्याग करवो, तेने सत्य अणुव्रत कहे छे।

मश्करीमा–कठोर शब्द वापरता-चुगली करता-अप्रशस्तवचन कहता-असत्य शब्द वोलवानु अनिवार्य थई जाय छे। ज्यारे वीजु अणुव्रत स्वीकाराय छे त्यारे ज देहधारिओने आत्मस्थिरता प्राप्त थाय छे।

कोइए कह्युं छे के जेने मूढताने कारणे धर्म एवुं नाम आपवामां आव्युं छे, वळी जेने म्लेच्छो पण निन्द्य समजे छे, ते असत्यनो मन-वचन-कायथी त्याग करवो एज योग्य छे, जो हितनी वाञ्छा होय तो असत्य न बोलवा मौननो स्वीकार करवो जोइए। कारण के नीचेनी बाबतोमां श्री मौन राखे छे, जेवा के—

प्रतिक्रमण करती वखते, मलमूत्र त्यागती वखते, पाप कार्य छोडती वखते निरन्तर मौन सेववुं, कारण के मौनना सेवनथी वाणीना दोषो लागता नथी।

मौनथी क्लेशनो नाश थाय छे, सन्तोष भाव आवे छे, वैराग्य आवे छे, ने सत्य अने संयमनी पुष्टि थाय छे, जीभनो स्वाद त्यजवाथी तपनी वृद्धि थाय छे, अभिमानथी बची जवाय छे, ने सत्व-समता आवे छे। वाणी मनोरमा बनी जाय छे, सज्जनो प्रशंसा पात्र थई जाय छे, मान सेवनार पूज्य बने छे, परन्तु देश कालनो विचार करीने मौननुं सेवन करवुं जोइए। जो स्वाध्याय बोलवाथी सभाने सद्बोध तेमज चारित्रनो लाभ थतो होय तो त्यां मौन न रहेवुं जोइए, वाणी हमेशा सत्य होवी जोइए।

असत्य बोलवानुं निकृष्ट परिणाम–जुठ बोलनार मरीने मूंगो बने छे, अथवा तेने मूक गतिवाळो जीव बनवु पडे छे, ते स्पष्ट बोली शकतो नथी। कोईने तेनी सम्मति पण प्रिय लागती नथी। मुख रोगथी पीडाय छे, आ बधुं जुठुं बोलवानु दुष्ट परिणाम जाणीने कन्यादि सम्बन्धी असत्य कदी पण न बोलवु जोइए। असत्य बोलनार मूर्ख-विकलाग-वाणी हीन थाय छे। तेनी वातो साभळता लोकोने तिरस्कार थाय छे। अने तेना मुखमांथी दुर्गन्ध नीकळे छे। जे लोक विरुद्ध छे, जेथी विश्वासघात थाय छे। जे पुण्यनुं प्रतिपक्षी छे, तेवु वचन क्यारेय पण न बोलवु जोइए। जे जूठ बोले छे तेनामा तुच्छता आवे छे, ते पोताने छेतरे छे, अधोगति (नरक) मा जाय छे, तेथी जूठ सदा वर्जनीय छे। जूठ प्रमादथी पण न बोलवुं जोइए, कारण के हितकार्यरूपी कल्पवृक्ष असत्यरूपी आधी थी पडी जाय छे। भूत-भविष्यत्-वर्तमाननी वातोनु पूर्णपणे ज्ञान न होय तो 'ते आम हशे' एम न कहेवु, जे वातमा शंका होय ते न कहेवी, जो त्रणे कालनी वातोमा तद्दन निश्शक पणु होय तो कहेवी। असत्य बोलवाथी वेर विरोध वधे छे, पोल खुली जवाथी पस्तावो थाय छे, कोई तेना पर विश्वास करतु नथी, बदनामी थाय छे, कुपथ्यना सेवननी पेठे अनेक दु खो जूठ बोलवाथी थाय छे। जूठ बोलनार नरक-निगोद-अने पशु योनिमा जन्म मरण करे छे। थोडु असत्य बोलनार पण नरक निगोदमा जाय छे। ज्ञानिओए ज्ञान अने चरित्रनु मूल सत्यज बताव्युं छे, सत्यवादिओनी चरण रजथी पृथ्वी पवित्र थाय छे। जे हमेशा सत्य बोले छे तेने भूत-प्रेत-सर्प-सिंह-कइ पण करी शकता नथी। माथु मुडावीने, जटा राखीने, नग्नावस्था धारण करीने, साधु वेश पहेरीने, अथवा तपश्चर्या करीने जे असत्य बोले छे, तेने अछूत करता पण वधु निन्द्य समजवो। एक तरफ असत्यनु पाप अने बीजी बाजु आखा ससारना सर्व पापो राखवामा आवे तो असत्यनु पाप वधी जाय। लुटारा तेमज व्यभिचारीओना पापनु प्रायश्चित होय छे पण असत्यवादीने माटे नथी। सत्यना पक्षे देवो पण ऊभा रहे छे, राजा पण तेना पर पोतानी सत्ता नथी चलावी सकतो, तेने अग्नि उपद्रव करी शकतो नथी, आम सत्यनो महिमा अपार छे। समस्त योगिओए सत्यनी खुबज प्रशसा करी छे, जेमाथी शुभचन्द्राचार्यना केटलाक वचनो आ नीचे आप्या छे। "जे सयमी मुनि धीरज पूर्वक सयमनी रक्षा करे छे, वा सुन्दीक्षानी उगने धारण करे छे, ते वचनरूपी जंगलमा सत्यरूपी वृक्ष रोपे छे।"

"यम-नियमादि व्रतोनो समूह एक मात्र अहिंसानी रक्षाने माटेज कह्यो छे, अहिंसा व्रत जो असत्यथी दूषित होय तो ते उच्चपद कदी पण प्राप्त न करी शके, असत्य वचन साथे अहिंसानु पालन अशक्य छे।" "जे वचन जीवोनुं हित करनारु होय ते असत्य छता सत्य छे। अने जे वचन पाप सहित हिंसा रूप कार्यनी पुष्टि करे छे, ते सत्य छता असत्य छे निन्द्य छे।" "जे साधक अनेक जन्मोनां दुःखोनी शान्ति अर्थे तप करे छे, ते निरन्तर सत्यज बोले छे, कारणके असत्य बोलनारने साधकपणुं सभवतुं नथी।" "जे वचन सत्य होय छे, करुणाथी भरपूर होय छे, अविरुद्ध होय छे, आकुलता रहित होय छे, असभ्य न होय, इन्द्रिय विकारोने पुष्ट करनार न होय, गौरव वधारनार होय, कोईने हलका पाडनारु न होय, तेज वचन शास्त्रमा प्रशसनीय गण्युं छे।" "निरन्तर मौननुं सेवन कल्याणकारी थाय छे, जो बोलवानी जरूर पडे तो सत्य-प्रिय-तेमज हितकर बोलवुं जोइए।" "पण दुष्ट चरित्रीना मुखमा वाणी क्रूर असत्य वाणी रूपी नागण रहे छे, के जे आखा जगतने दुःखी करे छे।" "जे वात सदेह युक्त होय, पापरूप होय, दोष सहित होय, ईर्षाने वधारनारी होय, ते बीजा ना पूछवा छता पण न कहेवी।" "मर्मभेदी, मनने पीडा उपजावनार, स्थिरता नाशक, विरोध करावनार, तेमज दया रहित वचनो प्राण जाता पण न बोलवा।" "ज्या धर्मनो नाश थई रह्यो होय, चारित्रने नुकसान पहोंचतु होय, देशनी स्वतन्त्रता नाश पामती होय, समीचीन सिद्धान्तनो लोप थतो होय, त्या देश-धर्म-तेमज जातिनी उन्नति खातर वगर पूछ्ये पण विद्वानोए बोलवुं जोइए, ते समये मौन धारण करवुं योग्य न कहेवाय।" "जे वाणीना श्रवणथी जीवो मोह मुग्ध बनी जाय, सन्मार्ग भूली जाय, साम्प्रदायिकता अने पक्ष-पात आवी जाय, वाडाबदीमां फसावनारी ते वाणी नथी, पण सापणी छे, कारण के तेना श्रवण मात्रथीज प्राणी उत्तम मार्गने छोडी कुमार्गे जाय छे।" "मनोहर वाणी जेटलु सुख आपे छे तेटलु सुख चदन-चन्द्रमा-चन्द्रमणी-मोती-मालती वगेरे शीतल पदार्थो आपी शकता नथी।" "अग्निथी दग्ध वन क्यारेक पण लीलु बनी शके छे, पण वाणीरूपी आगथी पीडित मनुष्य कदी पण प्रफुल्ल बनी शकतो नथी।" "जे सत्य-वक्ता छे, तत्त्वना स्वरूपने समजे छे, सदाचारी छे, तेना चरण स्पर्शथी पृथ्वी पवित्र बने छे, ते लोकोज उत्तम छे, अने जे असत्य वचन बोले छे ते नीच अने शूद्र छे।" "जे नीच पुरुष मनुष्-

जन्म प्राप्त करीने पण असत्य बोले छे, ते ससार रूपी सागरनो पार केवी रीते पामी शके ?" "जेना नाक-कान-हाथ कपायेला होय, रूप रगनु नाम पण न होय, दरिद्री तेमज रोगी होय, कुल-जाति अने वर्ण थी हीन होय, तो शु थयु ? तेनु तो भूषण सत्य छे, सत्यथी पवित्र तेमज सुखी बनी शके छे, तेनी शोभा सत्यथी छे।" "जे पुरुष असत्य-कालिमाथी मलिन छे, तेनो साथ पाप-रूपी-काळाशना भयथी कोई पण धर्मज्ञ पुरुष स्वप्नमा पण करतो नथी।" "जूठानी सगतिथी साचो पण कलंकित थाय छे, जेम मेला लुगडानी सगतिथी स्वच्छ अने निर्मळ गगाजलने पण दडनु प्रहार सहवु पडे।" "पुत्र-स्वजन-स्त्री-धन तेमज मित्रो विमुख बने, वा चाल्या जाय, तेमज प्राणनाश थाय छता असत्य न बोलवु जोइए। इत्यादि वचनामृतोनुपान करी जे कोई पाप रहित तेमज श्रेष्ठ सत्य बोले छे, ते जगत् प्रधान पुरुष छे।"

तपमां श्रेष्ठ तप कयो? सत्यनी पेठे सर्व प्रकारना इच्छा निरोध तपमा नव विधि ब्रह्म-गुप्तिए गुप्त एवो ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ छे। सुन्दर स्त्रीओना मनोहर अगोने जोईने तेनी साथे रमण करवानी जे इच्छा चित्तमा उत्पन्न थायछे, तेने त्यागी देवी, अथवा वेद नामे नो-कषायना तीव्र उदय थी मैथुन सेवननी जे इच्छा उत्पन्न थाय छे तेनो नाश करवो ए ब्रह्मचर्य व्रत छे। तेने स्पष्ट करवा माटे सत्पुरुषो कहे छे के हे कामी-पुरुष ! अनुपम-सहज-परमतत्व रूप निज स्वरूपने छोडीने अति सुन्दर स्त्रीजनोना शरीर आदिना रूपने मनमा शा माटे याद करे छे, अथवा तेना मोहमा शा माटे फसाय छे।

अब्रह्मचर्यना दोष—स्त्री सभोगथी सन्ताप थाय छे, पित्त वधे छे, काम ज्वर उत्पन्न थईने शरीरनु नाश करे छे, हिताहितने भुलावी दे छे, शरीर नि सत्व बनी जाय छे। तृष्णाना बधनमा फसाई पडे छे, तेथी कामेच्छा अने ज्वरमा जरा पण अन्तर नथी। आ दोषो जाणीने जो सर्वथा शीलनु पालन शक्य न लागे तो गृहस्थे पोतानी विवाहित पत्निमा सन्तोष राखवो, कारणके आ प्रतिज्ञा थी पण अनेक प्रकारनी इच्छानु मर्दन थाय छे, कह्यु पण छे के—स्वपत्निमा सन्तुष्ट रहेनार, अन्य स्त्री मात्रनी क्यारेय पण इच्छा न करनारमा पण सुदर्शनशेठनी पेठे अद्भुत प्रभाव उत्पन्न थाय छे, तो पछी सर्वाशे ब्रह्मचर्य पाळनार ब्रह्मचारीना प्रभावनी तो वातज शी ? एटले तेनो प्रभाव अवर्ण्य छे अने अकथनीय ! पर पुरुष भले रूपमा, ऐश्वर्यमा, कळामा, गमे तेटलो आगळ

वघेलो होय, पण तेने झेरनु पुतळु समजीने स्त्रीए जेम सीताजीए रावणने त्यागी दीधो हतो, तेम तेने त्यागी देवो जोइए, जे स्त्रीए मैथुन विकारने जीती लीधा होय ते देवोने पण पूज्य छे अने इच्छनीय छे।

मैथुन एटले शुं? मैथुन एटले जोडु, प्रकृतिमा स्त्री-पुरुषनुं जोडुं समजवु, बनेनो परस्परनो सयोग, अथवा सभोगने माटे जे भाव विशेष थाय छे, अथवा बने मळीने जे सभोग क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहे छे अने तेनेज अब्रह्म कहे छे, तेमा पण प्रमत्तयोगनो सबध छे। कारणके तेने लीधे जे कई क्रिया करवामा आवे, पछी भले ते परस्पर बे पुरुष अथवा बे स्त्रीओ मळीने करती होय, अथवा अनङ्ग क्रीडा आदि का न होय, ते सर्व अब्रह्म छे। जे प्रमत्त दशाने छोडीने क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहेवातु नथी, जेमके पिता-भाई विगेरे पुत्री-अथवा व्हेन आदिने गोदमा लईने प्यार करे छे, ते अब्रह्म कहेवातु नथी, कारण के तेमा प्रमत्त-योग नथी। आ प्रमत्तयोगनी ओछा वत्ता अशे पण निवृत्ति करवामा आवे तो ते ब्रह्मचर्याणुव्रत कहेवाय छे। जेमके कह्युं छे के-"माता-व्हेन-पुत्री समान परस्त्रीने जाणे, ने पोतानी विवाहिता स्त्रीमा सन्तोष माने, ते चोथु अणुव्रत कहेवाय छे।" "उत्तम पुरुष परस्त्रीने व्याधि समान समजी ने दूरथीज त्यजी दे छे, कारणके परस्त्री तो सदैव दु खोनु घर छे, अने सुखोने नाश करनार प्रलय काळनी आग समान छे।" "जे स्त्री पोताना पतिने छोडीने परपुरुष साथे रमण करेछे, तेने प्रथम पक्तिनी निर्लज्ज समजवी जोइए, ज्यारे आ प्रकारना आचरण थी पोतानी स्त्री पर पण विश्वास न रहे तो परस्त्रीनो विश्वास केम राखी शकाय?" "परस्त्रीनु सेवन करनार पुरुषने नरक निगोद मा रखडवानुं रहे छे, तेमा कशु सुख तो नथी ज, तेथी मनुष्योए ब्रह्मचर्य व्रतनु पालन करवु जोईए।" "आ व्रतनु पाळन करनार योगीओ परब्रह्म परमात्मानु ज्ञान पामे तेमज स्व-स्वरूपने अभेद रूपे जाणी शके छे, तेनो अनुभव करी शके छे। तेने धीरवीर पुरुषोज धारण करी शके छे। अल्पसत्ववाळा-शीळर-हित-इन्द्रियोना दास-दुर्बळ पुरुषो तो स्वप्नमा पण आनु समाचरण करी शकता नथी, कारणके ब्रह्मचर्य पण महाव्रत छे।" "त्रणे जगतमा ब्रह्मचर्य व्रत प्रशसनीय छे, जे तेनु निर्मल भाव पूर्वक पालन करे छे, ते पूज्यना पण पूज्य छे।

जे ब्रह्मचर्य पालनमा अनुरक्त छे ते दश प्रकारना मैथुननो सर्वथा त्याग करे छे।

(१) जेमके शरीर शणगारवु, (२) पुष्ट पदार्थनु सेवन करवु, (३) गावु, वजावु, जोवु, सांभळवु, (४) स्त्री संसर्ग करवो, (५) स्त्री संबंधी संकल्प विकल्प करवा, (६) स्त्रीना अंग उपांग जोवा, (७) तेने जोवाना विचारो करवा, (८) पूर्वकृत भोगोनु स्मरण करवु, (९) भविष्यमा भोगोनी चिन्तवणा करवी, (१०) वीर्य स्खलन करवु,

आ दश भेद मैथुनना छे, ब्रह्मचारीने माटे ते सर्वथा त्याज्य छे।

"जेवी रीते किंपाक फळ देखवा-सुंघवा मा रमणीय छे, पण परिणामे हालहल झेर समान छे, तेवीज रीते मैथुन पण थोडा वखत माटे रमणीय-सुंदर अने सुखदायक मालुम पडे छे, परन्तु परिणामे अत्यन्त भयप्रद नीवडे छे।" "जे पुरुष कामभोगोथी विरक्त बनीने सदा ब्रह्मचर्य पाले छे, तेणे भावशुद्धि माटे दश प्रकारना मैथुननो त्याग करवो जोइए, केम के आ दोषोना त्याग कर्या वगर भावशुद्धि-निर्मलता थती नथी, भावज कामना वेगने रोकी शके छे, कह्युं पण छे के–

"सर्प करडेल माणसने सात वेग होय छे, परन्तु काम रूपी सर्पथी डसायेल जीवने दश महा भयानक वेग होय छे, ते नीचे मुजब छे।

(१) कामना उद्दीपनथी चिंता उत्पन्न थाय छे, के काम भोगनी क्यारे प्राप्ति थशे, (२) जोवानी इच्छा उत्पन्न थाय छे, अने निःश्वास मूके छे (३) अफसोस करे छे, के स्त्रीने जोई पण न शकाइ। (४) ज्वर आवे छे, तापमान वधे छे, (५) शरीर बळवा लागे छे, दाह उपजे छे (६) भोजननी रुचि नथी रहेती, (७) महा मूर्च्छा उत्पन्न थाय छे, जरा पण चेत रहेतुं नथी, (८) उन्मत्त बनी जाय छे, जेम तेम बकवाद करे छे। (९) प्राण चाल्या जवानी शंका रहे छे। (१०) मृत्यु पण थई जाय छे।

काम वासनाथी घेरायेलो जीव यथार्थ तत्व वस्तु स्वरूप समजी शकतो नथी, ज्यारे लोक व्यवहारनु ज्ञान पण नाश पामे छे त्यारे परमार्थनु ज्ञान तो क्याथी थाय? बधी वातोमा तेनुं मन अस्थिर बनी जाय छे।

"जेने काम रूपी कंटक वागे छे, ते बेसवामा, सुवामा, चालवामा, फरवामा, भोजन करवामा अस्थिर बनी जाय छे।" "काम वासनावाळो पुरुष चतुर होवा छता मूर्ख बनी जाय छे, क्षमाशील छता क्रोधी बने छे, शूरवीर कायर बने छे, महान् हल्को बने छे, उद्यमी आळसु बने छे, अने जितेन्द्रिय भ्रष्ट बने छे।"

"तेथी मूर्खता कर्यावगर मनुष्यजन्म सार्थक बनाववाने मनुष्ये ब्रह्मचर्यनुं पालन करवु जोइए।

कदाचारनुं परिणाम–"बेलने नपुसक बनाववानी क्रिया, लंपटोने थती सजा वगेरे जोइने बुद्धिमाने कुशीलनो त्याग करीने स्वदारसन्तोषव्रत अगीकार करीने परस्त्रीनो त्याग करवो जोइए, मैथुन सेवन किपाक फळनी पेठे आरम्भमा सारुं लागे छे, पण परिणामे दारुण कष्ट आपे छे।" "मैथुन सेवनथी शरीर कम्प, परसेवो, थाक, शिथिलता, चक्कर आववा, तिरस्कार थवो, बलनो क्षय, ज्वरादि रोगो थाय छे।" "योनिमा असख्य जीव राशीनी उत्पत्ति थाय छे, अने मैथुन सेवन वखते तेनो नाश थाय छे।

वात्स्यायननो मत छे के रक्तमा सूक्ष्म जीवो पेदा थइ जाय छे, ने सयोग वखते ते मरी जाय छे।

मैथुन सेवनथी काम ज्वरनी शान्ति नथी थती–

अग्निमा घी होमवाथी जेम ते शान्त थतो नथी, तेमज स्त्री सम्बन्धी वैषयिक सयोगथी काम ज्वर शान्त थतो नथी, पण वधे छे। स्त्रीए पण पर पुरुषने नाग समान समजीने तेओनो त्याग करवो जोइए। कारणके ऐश्वर्यमा भले इन्द्र समान होय, सौन्दर्यमा कामदेवनो अवतार होय तो पण जेम सीताए रावणनो त्याग कर्यो तेम सन्नारीओए पर-पुरुषनो त्याग करवो जोइए।

ब्रह्मचर्यनुं फळ–ब्रह्मचर्य सच्चारित्रनु मूळ छे, परब्रह्म प्राप्तिनु निमित्त छे, जे ब्रह्मचर्यनु पालन करे छे ते पूज्यना पण पूज्य छे। दीर्घ आयुष्य, सुन्दर शरीर, शरीर रचनामा दृढता, शरीर पर विलक्षण तेज, महान् शक्ति, यश कीर्ति, ससारमा मान, प्रतिष्ठा, ए सघळुं ब्रह्मचर्यथी प्राप्त थाय छे।

आ रीते सर्वलोकनी उत्तम–रूपसम्पदा वगेरे मेळवीने तेमज क्षायक ज्ञान-दर्शन-शीलसमन्वित पुरुषोमा ज्ञातवशीय अन्तिम जिनवरेंद्र श्रमण-भगवान्-महावीर प्रधानतम हता।

काश्यप-गोत्रीय-श्रमण भगवान् महावीर प्रभुना वर्धमान, विदेहदिन्न, ज्ञात-पुत्र, काश्यप, वैशालिक, महावीर, सन्मति, वीर, श्रमण भगवान् इत्यादि अनेक नाम हता, ते बधा नामो तेनी अमुक अवस्थाना सूचक छे। कारण के भगवान् महावीर स्वामीनु जीवन सासारिक तेमज साधक अवस्थामा जुदु जुदुं हतु। वर्धमान, विदेहदिन्न (महावीर प्रभुनी मातानु नाम 'विदेहदिन्ना' पण हतुं,

त्रिशला माता विदेह कुलमा जन्म्या हता, तेथी तेमनु नाम विदेहदिन्ना पड्यु हतु, मातानां आ नामथी महावीर प्रभुनु मातृपक्षनु नाम पण 'विदेहदिन्न' पडी गयुं हतु) ज्ञातपुत्र, काश्यप, अने वैशालिक ए नामो तेमनी सासारिक अवस्था ना सूचक छे, महावीर, सन्मति अने श्रमण भगवान् आ त्रण नामो तेमणे साधक अवस्थामा पोताना आत्म-वीर्यादि गुणोथी प्राप्त कर्या हता, वर्धमान पितृपक्षनु नाम, अने विदेहदिन्न मातृपक्षनुं नाम हतु । 'ज्ञातपुत्र' ए वंश परथी नाम पड्यु । 'काश्यप'–गोत्रथी नाम पड्युं हतु । 'वैशालिक' जन्मस्थानना सम्बन्धनु सूचक छे । 'महावीर' आत्म-वीर्यसूचक, 'सन्मति' आत्मज्ञान सूचक अने 'श्रमण-भगवान्' श्रमण सस्कृतिना तात्कालिक अग्रेसर अर्थसूचक छे ।

ज्ञातपुत्र–

उपरोक्त सर्व नामोमाथी भगवान्-महावीरना 'ज्ञातृपुत्र' अथवा 'ज्ञातपुत्र' नामना सम्बन्धमा आपणे विचार करवानो छे आ ज्ञातपुत्र नाम तेमना वशनुं सूचक छे । ए वात जैनागम तेमज बौद्धागममा अनेक जग्याए कहेली छे ।

श्रीआचाराग तेमज कल्पसूत्र आदिक सूत्रोमा तेमना जीवनचरित्र अनुसार भगवान् महावीरनो जन्म 'क्षत्रिय कुंड' गाममा ज्ञातवशीय अने 'काश्यपगोत्रीय' सिद्धार्थ राजाने त्या त्रिशला क्षत्रियाणीथी थयो हतो ।

आ ज्ञातृवश ते समये प्रसिद्ध ईक्ष्वाकु-उग्र आदि क्षत्रियोना कुळनी पेठे प्रसिद्ध वश पण हतो ।

आ ज्ञातृवशना क्षत्रियो प्राय 'ज्ञातृक' नामथी ओळखाता, अने तेमना आ 'ज्ञातृ' कुलने लीधे तेमना नगरोनी वाहर वनावेला खड=उद्यानोना नाम पण 'ज्ञातृखड' पडेला हता, भगवान् महावीरे कुडग्रामनी नजीक 'ज्ञातृखड' नामक वागमा दीक्षा अगीकार करी हती, शास्त्र-वचनो तो आ वावतनी खूब पुष्टि करे छे ।

जिनागममा 'ज्ञातृपुत्र' ने वदले 'नायपुत्त' अथवा "नातपुत्त" तेमज वुद्धागममा "नाथपुत्त" अथवा "नाटपुत्र" शब्द प्रयोग करवामा आव्यो छे । ते भगवान् महावीरना ज्ञातृवंशनुज अर्थ सूचक नाम छे । ते मानवामा आपणने उपरोक्त कारणो छे । "णायपुत्त" अथवा "नातपुत्त" ए वन्ने नामो सस्कृत भाषाना "ज्ञातृपुत्र" शब्दना प्राकृत रूप छे । अने "नायपुत्त" अथवा "नाटपुत्त" ए वने नामो पाली रूप छे । प्राकृत मा 'त' नो 'य' अने पाली भाषामा 'त' नो 'थ' अने 'थ' नो 'ट' पण साधारणरीते थाय छे । दिगम्बर सूत्रोमा ज्ञातृपुत्रनो

"नाथपुत्त" शब्द प्रयोग जोवामा आवे छे, आ रीते भाषा अने भावनी दृष्टिए जोता पण आ बधा अलग अलग नामो मूळ 'ज्ञातृपुत्र' शब्दमा मळी जाय छे। आ बधा नामो "ज्ञातृपुत्र" शब्दथी बनेला छे ते निःशंक छे। प्राचीन काळमां वंशना नामथी परिचय आपवानी प्रथा होवाने लीधे भगवान् महावीरनो जीवन विषयक परिचय श्रीजिनागमोमा तेमज बौद्धागमोमा 'नातपुत्त' अथवा 'नाथपुत्त' शब्दथी आपवामा आव्यो छे।, तेमज भगवान् महावीरना शिष्योनो पण परिचय "नातपुत्तीय" अथवा "नाथपुत्तीय" ए शब्दथी विशेष करीने आपवामा आव्यो छे

श्रीजिनागमना १२ अगोमा छठ्ठुं अग "णायधम्मकहाओ" छे। तेमा आवेल "णाय" शब्द पण भगवान् महावीरना वंशवाचक 'नायपुत्त' नी साथे गाढ संबन्ध राखे छे। प्राकृतमा 'न' नो 'ण' थाय छे। आ अगनो गुजराती अनुवाद "भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ" एम करवामां आव्यो छे। आ अगनो परिचय श्रीसमवायागसूत्रमा आपेल छे। तेमा बताव्यु छे के "आ अगमा ज्ञाता-ओना नगर-उद्यान-माता पिता वगेरेनो परिचय आपवामा आवशे।" टीकाकारे ज्ञाताओनो उदाहरणभूत अर्थ कर्यो छे। परन्तु ज्ञाता एटले 'ज्ञातृवशीय' क्षत्रिय ए अर्थ पूर्वापर विचारता निश्चित थाय छे।

भगवान् महावीरनो परिचय श्रीजिनागमोमा 'नायपुत्त'=ज्ञातपुत्र सिवायना घणा नामोथी आपवामा आव्यो छे, **तो पण त्यां 'नायपुत्त' शब्दनी विशेष प्रधानता छे**। घणा प्राचीन सूत्रोमा भगवान् महावीर प्रभुना गुणग्राम 'नायपुत्त' शब्दथी करवामा आव्या छे जेमके —

"जे भगवान् "ज्ञातृपुत्रना" वचनो पर पूर्ण विश्वास राखे छे, ते कोई वस्तुनु सग्रह करता नथी" १८

"प्राणीमात्रनी रक्षा करवावाळा "ज्ञातपुत्र" महावीर प्रभुए वस्त्र पात्रने परिग्रह नथी कह्यो, पण मूर्च्छा या ममत्वभावने ज परिग्रह कह्यो छे, एम महर्षि-ओए कह्यु छे।" २१ [दशवैकालिक-अ० ६]

"ज्ञातपुत्र" महावीर प्रभुए कह्युं छे के-मर्यादामा रहेनार साधु आ दोषने सारी रीते जोई ने जरा पण कपट पूर्वक जुठ न बोले '

"आ दोषने जोइने निग्रन्थ रात्रि भोजननो त्याग करे, कारणके "ज्ञात-पुत्रे" आना प्रत्यक्ष दोष बताव्या छे।" (दशवैकालिक० अ० ६)

अनुत्तर ज्ञानी अने अनुत्तर दर्शन युक्त अर्हन् प्रभु 'ज्ञातपुत्र' महावीर प्रभु विशाला नगरीमा आ रीते व्याख्यान करता हता।

आ प्रमाणो उपरान्त आ अध्यायमा २-१४-२१-२३-२४ मी गाथाओमा प्रभुनी स्तुति "ज्ञातपुत्र" शब्दथी करवामा आवी छे। आ रीते श्रीजिनागमना प्रमाणभूत ग्रन्थोमा 'नायपुत्त' अथवा 'नातपुत्त' शब्दनो प्रयोग भगवान् महावीरना वंशवाची नाम तरीके अनेक स्थळे करवामा आव्यो छे, अने ए बधानो उल्लेख करवानी अहीं जरा पण जरूर नथी, हेमाचार्ये परिशिष्टपर्वमा जे 'ज्ञातनन्दन' भगवान् महावीरप्रभुने वंदन करेल छे तेनोपण उल्लेख करीशु, तेमणे मंगलाचरणमा कह्यु छे के —

"जे कल्याण वृक्षना बाग छे, श्रुतिरूप गंगाना हिमालय छे, विश्वकमळने सूर्यरूप छे, ते भगवान् "ज्ञातनन्दन" महावीरने हु नमस्कार करू छु।"

बौद्ध पिटकोमा भगवान् महावीरनो तेमना शिष्योनो तेमज तेमना सिद्धान्तोनो परिचय तेमना वंशवाची 'नाथपुत्त' अथवा 'नाटपुत्त' शब्दथी आपवामा आव्यो छे, तेमना श्रमण निग्रन्थो माटे 'नाथपुत्तीय' शब्दनो उपयोग करवामा आव्यो छे, आ नाम शिवाय भगवान् महावीर प्रभुनो जीवन परिचय आपता बीजा कोई शब्दनो प्रयोग करेलो जोवामा आवतो नथी, मात्र 'नायपुत्त' नी साथे 'निगंठ' शब्दनो प्रयोग करेलो होय छे, पण ते शब्दतो तेनी साधु अवस्थानो सूचक छे। ते 'नातपुत्त' शब्दनु विशेषण छे।

बुद्धपिटकना 'महावग्ग' नामे सूत्रमां महात्मा-बुद्ध, भगवान् महावीरनी जन्मभूमि "कुंढ ग्राम" मा तेमज तेनी नजीक 'ज्ञातृओ' ना गामोमां अने वैशाली नगरीमा जवानो तेमज त्यां 'निग्रन्थ' श्रावक सिह सेनापतिनी साथे वातचीत करवानो उल्लेख आवे छे, ते उल्लेख ना आधारे भगवान् महावीर प्रभुना 'ज्ञातृवश' अने तेमनी जन्मभूमि सम्बन्धी आपणने घणुं जाणवानु मळे छे, ते कारणथी ते उल्लेख आ नीचे उतारवामा आव्यो छे ।

ज्यां कोटिग्राम [देखो विनयपिटक महावग्ग पानु २४१ कोटिग्राम] हतु त्यां भगवान् गया, कोटिग्राममा भगवान् बुद्ध विहार करता हता, अम्बापाली गणिकाए साभल्यु के भगवान् अहीं आवी गया छे, तेथी तेणे सुन्दर रथ जोडाव्यो, ने तेमा बेसीने सुन्दर रथोनी साथे वैशालीथी नीकळीने 'कोटिग्राम' तरफ चाली ।

त्यारे ते लिच्छवी ज्यां कोटिग्राम हतुं त्या गया ।

कोटिग्राममां इच्छानुसार विहार करी ज्यां वैशालीनुं महावन हतुं त्या गया, त्या भगवान् बुद्ध वैशाली महावननी 'कूटागार शाला' मा विहार करता हता ।

ते वखते घणा प्रतिष्ठित लिच्छवि 'संस्थागार' [प्रजातन्त्र–सभागृह] मा बेठा हता, तेओ वधा बुद्धनी प्रशसा करता हता, धर्म अने सघना गुणोनु वर्णन करता हता, ते वखते निग्रन्थोना श्रावक (जैन-श्रावक) सिंह सेनापति ते सभामां बेठा हता . ... ।
त्यारे सिंह सेनापति ज्या निग्रन्थ (निग्गंठ-नाथ पुत्त) ज्ञातपुत्र हता त्यां गया, जइने 'निग्गठनाथपुत्त' ने कह्युं के हे पूज्य ! हू......................
...... । सिंह ! तारु घर लावा समयथी निग्रन्थो माटे निगामाम्प छे,......
.... ते समये घणा 'निग्गंथ' [जैन साधु] वैशालीमां एक..........लावा वाल्थी आ आयुष्मान् (निग्गठ) बुद्ध .... छे ।"

"एक समये भगवान बुद्ध नादिकना 'गिंजकावसथ' मा विहार करता हता।
[मज्झिमनिकाय पानुं १२७]

'विनयपिटक' 'महावग्ग' तथा मज्झिमनिकायना आवा आ उल्लेखोथी आपणने साफ साफ मालुम पडे छे के महात्मा बुद्ध–महावीर स्वामीनी जन्मभूमि कुंडग्राम (पाली भाषाना कोटिग्राम) गया हता, अने कुंडग्रामनी पासेनी वैशाली

नगरीमा थी त्या महात्मा–बुद्धने अवापाली नामे वेश्या अने लिच्छवि क्षत्रिय मळवा आव्या हता, कोटिग्रामथी महात्मा बुद्ध ज्या 'जातिका' ज्ञातृक लोक रहेता हता, त्या गया हता, अने त्या 'जातिका' (ज्ञातृका) लोकोना ईटोना घरमा हता । ते स्थाननी पासेज 'अम्बापाली' वन नामे उद्यान हतु जे अम्बापालीए बुद्ध अने तेमना सघने समर्पण करेल हतु । त्याथी महात्मा बुद्ध वैशाली गया अने त्या सिह नामे सेनापति के जे निग्रन्थोनो श्रावक हतो, तेने पोतानो अनुयायी बनाव्यो । सिह सेनापति महात्मा बुद्धने मळवा जता पहेला 'निग्रन्थ' ज्ञातृपुत्र महावीर प्रभुनी पासे अनुज्ञा लेवा आव्यो हतो । त्यारे भगवान् महावीरे सिंह सेनापतिने "तु क्रियावादी होवा छता अक्रियावादी श्रमण गौतमने मळवा शा माटे जाय छे ?" एम कहीने न जवानु कह्यु हतु । पण ते पोतानी इच्छानुसार श्रमण गौतमनी पासे गयो अने त्या ते श्रमण गौतम बुद्धनो अनुयायी बन्यो ।

ऊपरना उल्लेखथी· आपणा विषयने पुष्ट करनारी चार वात विशेष प्रकारे जाणवानी मळे छे ।

(१) बौद्धोनु 'कोटिग्रामज' [बौद्ध ग्रन्थोमा 'कुंडग्राम' नु नाम 'कोटिग्गाम' अने भगवान् महावीरना 'ज्ञातिपुत्र' ने बदले 'नातिपुत्त' लखेल छे । जुओ "भारतका प्राचीन राजवंश" पानु ४० लेखक विश्वेश्वरनाथ राय) जैनोनु 'कुडग्राम' जणाय छे, आ बने नामोमा शाब्दिक सरखापणुं छे । ते उपरात ते गामनी नजीक ज्ञातृक=ज्ञातृवशना क्षत्रियोनु निवासस्थान अने वैशाली नगरीनु नजिकपणुं होवाने लीधे 'कुंडग्राम' अने 'कोटिग्राम' बने एकज होवानु निश्चित थाय छे ।

(२) कोटिग्गामनी पासे ज्ञातृओनु निवासस्थान, भगवान् महावीरनो वश ज्ञातृवश हतो, ते वळी वधु पुष्टि करे छे। तेमज कुंडग्रामनी आसपास ज्ञातृक= ज्ञातृवशना क्षत्रियोना खंड=उद्यान हता। अने त्या ज्ञातृवंशी क्षत्रियो रहेता हता, ते आ बाबतने वधु दृढ करे छे । आ 'ज्ञातृक' नो उल्लेख ए विचारनो निर्देश करे छे के आ ज्ञातृक भगवान् महावीरनी जन्म–जातिवाळा ज्ञातृक्षत्रिय हशे ।

(३) 'ज्ञातृ' जाति 'लिच्छवि' ओनी एक शाखा हती [प्रसिद्ध जैन तीर्थंकर महावीरनी माता पण 'लिच्छवि' वंशनीज हती, जुओ 'भारतका प्राचीन राजवश' पानु २७८] आ वातनी पुष्टि 'वैशालीना लिच्छवि क्षत्रिय महात्मा बुद्धने मळवा आव्या हता' ते उल्लेखथी मळे छे । भगवान् महावीरनी माता पण लिच्छवि वंशनी हती, अने सिंह सेनापति के जे भगवान् महावीरनो श्रावक

हतो, ते पण लिच्छवि वंशनोज हतो, आ वंने वातो ज्ञातृजाति लिच्छविओनी एक शाखा हती, एम साबित करे छे ।

(४) कुडग्रामनी पासे विदेहनी राजधानी वैशाली नगरी हती, कुंडग्राम आ नगरीना एक परा जेवी हती । भगवान् महावीरनुं 'वैशालिक' नाम पण आ नगरीना नामथी पड्युं हतुं, विशाला नगरीमां सिंह सेनापति नामे जे निग्रन्थ श्रावक लिच्छवि रहतो हतो, ते भगवान् महावीरनी सलाह न मानीने महात्मा बुद्धनी पासे गयो हतो, आथी स्पष्ट जणाय छे के महात्मा बुद्ध अने भगवान् महावीर वंने एकी वखते वैशालीमा हता ।

ऊपरना उल्लेखमा जे 'ञातिका' शब्द लखेलो छे, ते शब्दनुं मूल घणां-ओए 'नादिका' कहेलुं छे, अने तेनो अर्थ 'ते नामना जलाशयपर वसेलुं एक गाम एवो करे छे, पण तेमा तथ्य नथी, हर्मन जेकोवी [जुओ हर्मन जेकोवी कृत Sacred Books The East नामे ग्रन्थमाळामा प्रकाशित 'आचाराग अने कल्पसूत्र' नामे जैन सूत्रोना अनुवादनी प्रस्तावना, पानुं १०] मूल शब्द 'ञातिका' ज छे, अने ते ज्ञातृवंशना क्षत्रियोनो वाचक छे तेम समर्थन करे छे ।

आ 'ञातिका' शब्द पर त्रिपिटकाचार्य श्रीयुत राहुल साकृत्यायने विशेष प्रकाश पाड्यो छे, तेमणे पोताना 'बुद्धचर्या' नामे हिन्दी पुस्तकमां 'नादिका'-नो मूल शब्द 'नाटिका=ज्ञातृका' बतावेल छे, अने 'ज्ञातृका' शब्द ज्ञातृवंशना

ते वखते घणी मोटी निर्ग्रन्थ परिषद् (जैन साधुओनी सभा) साथे निग्रन्थ 'नाटपुत्त'[1] (महावीर) नालंदामा निवास करता हता ।

---

१ नाटपुत्त=ज्ञातृपुत्र, ज्ञातृ लिच्छविओनी एक शाखा हती, के जे वैशालीनी आसपास रहेती हती, ज्ञातृनाथीज वर्तमान 'जथरिया' शब्द बन्यो छे, महावीर तेमज जथरिया ए बंनेनुं गोत्र काश्यप छे, आजे पण जथरिया, भूमिहार ब्राह्मण आ प्रदेशमा मोटी संख्यामा छे, तेमनु निवास रत्ती परगना, पण ज्ञातृ-नत्ती-रत्ती रत्ती थी ज बनेलु छे ।

१११ में पाने निग्रन्थ सूत्रनो पण उल्लेख कर्यो छे के जे म० नि ४०—९–१८ थी उद्धृत करवामां आव्यो छे ।

क्षत्रियोनो सूचक छे, एम सप्रमाण बताव्युं छे, आगळ ऊपर वळी तेओ एम पण बतावे छे के 'ज्ञातृजाति' लिच्छविओनी शाखा हती। अने वैशालीनी आजु-बाजुमा रहेती हती, आ ज्ञातृजाति आजे पण वैशाली नगरी [जिल्ला मुजफ्फर-पुरनी अंदर बसाडनी पासे छे] नी आसपास जथरिया नामे जाति वसे छे, आ जथरिया शब्द भाषा दृष्टिए पण ज्ञातृशब्दनी साथे गाढ संबन्ध धरावे छे।

जथरिया शब्द 'ज्ञातृ' शब्दनो अपभ्रंश जणाय छे, ज्ञातृमाथी 'जथरिया' शब्द केवी रीते बनवा पाम्यो ते संबंधमा भाषा दृष्टिए उक्त राहुलजीए नीचे मुजब विचार कर्यो छे।

ज्ञातृ=ज्ञाति, ज्ञातृ=ज्ञातर-जातर-जतरिया-जथरिया जैथरियाना गाममां 'नादिका'=ज्ञातृका=नत्तिका-लत्तिका-रत्तिका-रत्ती जे नामथी वर्तमान रत्ती पर-गणा [जि० मुजफ्फरपुर] छे। बुद्धचर्या पानुं ५२८ ॥

आ रीते 'जथरिया' शब्द 'ज्ञातृ' नो अपभ्रंश छे। राहुलजी आ रत्ती परगणानुं मूल नाम पोताना उपरोक्त उल्लेखमा आवेला 'नादिका' शब्दथी उत्पन्न थयेलुं बतावे छे।

आ प्रकारे 'जथरिया' अने तेमनुं स्थान रत्ती ए बंने शब्द ज्ञातृ शब्दनी साथे गाढ संबंध धरावे छे, अने आ सबंधथी जथरिया ज्ञातृक=ज्ञातृवंशीज छे, अने तेमनुं प्राचीन निवासस्थान के जे नादिका अथवा नाटिका नामथी ओळ-खाय छे ते वर्तमान रत्ती परगनुं छे, एवो राहुलजीनो दृढ अभिप्राय छे। वळी तेमना आ अभिप्रायमां बीजीवात ए पण छे के आ 'जथरियानुं' मूळ गोत्र काश्यप छे, ते काश्यप गोत्र भगवान् महावीर अने तेमना ज्ञातृवंशी क्षत्रियोनुं पण हतुं।

आ जथरिया=ज्ञातृ वंशी क्षत्रियोना सबंधमा श्रीराहुलजी बतावे छे के आ 'जथरिया' लोको वर्तमानमा पोताने ब्राह्मण कहेवडावे छे, तेओ दान लेता नथी, [पंजाबमा जमना किनारे वसनारी एक जाति रहे छे ते पण दान नथी लेती ते देशमा तेमने 'तगा' कहे छे, सभव छे के ते शब्द त्यागीनो अपभ्रंश होय, पण तेओना गोत्रो गोड ब्राह्मणोथी मळी आवे छे] अहीं तो जथरिया जातिना लोकोने भूमिहार ब्राह्मण कहेवामा आवे छे। परन्तु बीजा लोको तेमने ब्राह्मण मानता नथी। तेथी स्पष्ट मालुम पडे छे के वास्तवमा तेओ क्षत्रिओज

छे। आनुं बीजुं कारण ए पण छे के आ 'जथरिया' नाम 'सिंहान्त' वाळा छे, के जे क्षत्रियोना नामनी साथे आज काल पाछळ लगाडवामां आवे छे, वळी तेमना नामने छेडे ठाकोर शब्द पण जोडवामा आवे छे, ए पण क्षत्रिय सूचक ज छे, आ वंशमा हालमा पण घणा जमीनदार तथा राजाओ छे, दरभंगा नरेश आ जातिना छे, कोई दरभंगा ना प्रथम राजा रघुनन्दनने आ वंशमाज समाविष्ट करे छे अने वर्तमान दर्भंगा नरेशने श्रोत्रीय ब्राह्मण माने छे।

बौद्ध साहित्यना उल्लेखथी तेमज राहुलजीना कथनथी आटलुं अवश्य मानवु जोइए के भगवान् महावीरनो वंश ज्ञातृवंश हतो, अने ते ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय 'कुंडग्राम' नी नजीक रहेता हता, वळी आ ज्ञातृवंशीय क्षत्रियोना गाममां महात्मा बुद्ध आव्या हता, वर्तमानमा आ ज्ञातृवशीय क्षत्रिय जथरियाना नामथी प्रसिद्ध छे, अने ते घणे भागे बिहार प्रान्तना मुजफ्फरपुर जिल्लाना रत्ती नामे परगणामा रहे छे। वळी ते जथरिया पोताना नामने छेडे सिंह तेमज ठाकोर शब्दनो उपयोग पण करे छे। अने काश्यप गोत्र होवाने लीधे ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय होवाने सभव छे, पण आजकल ए लोको पोताने भूमिहार ब्राह्मण कहे छे। आमा केटले अशे तथ्य छे, तेनी शोध करवानी अत्यन्त आवश्यकता छे, आ सत्यशोधथी भगवान् महावीर प्रभुना ज्ञातृवश तेमज तेमना जीवन सम्बन्धमा अज्ञानान्धाकार जे आपणी आजु बाजु फेलाई गयो छे, ते दूर थई जशे।

मूल

ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा,
सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा।
निव्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा,
ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी ॥ २४ ॥

संस्कृतच्छाया

स्थितीनां (स्थितिमतां) श्रेष्ठा लवसत्तमा वा,
सभा सुधर्म्मा वा सभानां श्रेष्ठा।
निर्वाणश्रेष्ठा यथा सार्वधर्म्माः,
न ज्ञातपुत्रात्परमस्ति ज्ञानी ॥ २४ ॥

सं० टीका—स्थितिमतां सुखोपभोक्तॄणां वा जीवानां चोर्द्धानां देवानामिति, तन्मध्ये यथा लवसत्तमा पञ्चानुत्तरजास्तदुत्पन्ना देवाः सर्वोत्कृष्टस्थितिवर्तिनः प्रधानाः, यदि वा तेषां सप्तलवायुष्कमभविष्य-त्तदा सिद्धिगमनमभविष्यदिति चापि । अतस्तेऽभिधीयन्ते कथ्यन्ते लवसत्तमाः श्रेष्ठतमाः । समानां परिषदां मध्ये यथा सौधर्म्मा "स्यात्सु-धर्म्मा देवसभेत्यमरः" परिषच्छ्रेष्ठा "सुधम्मा तु सभा मता इत्यभि-धानप्पदीपिका ।" बहुभिः क्रीडास्थानैः सभ्यजनगोष्ठीभिरुपेतत्वात्तथा । यथा सर्वेऽपि धर्म्मा निर्वाणफलं दर्शयन्ति वा सर्वेभ्यो हितं सार्वम-र्हद्दर्शनं-सर्वेषां जीवानां हितकर्ता उत नाहितकारकोऽतः सोर्हत्प्रणीत-धर्मो निर्वाणप्रदाने श्रेष्ठ इति भावः । यत एवं ज्ञातृपुत्रात्सर्वज्ञा-च्छ्रीमहावीरात्स्वप्रकाशात् परं प्रधानमन्यच्च विज्ञानं नास्त्येव सर्वथा भगवानपरज्ञानिभ्योऽधिको ज्ञानीति भावः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—[जह] जैसे [ठिईण] आयुष्मानोंमे [लवसत्तमा] पाच अनुत्तर विमानोंमे निवास करनेवाले देव [सेट्ठा] श्रेष्ट होते है, [सभाण] सव सभाओंमे [सुहम्मा] सौधर्म-इन्द्रकी [सभा] सभा [सेट्ठा] श्रेष्ठ है, [सव्व-धम्मा] ससारके सव धर्मोंमे [निव्वाणसेट्ठा] मोक्ष धर्म प्रधान है, किन्तु [णायपुत्ता] ज्ञात-पुत्र-महावीरसे [परमं] वढकर [णाणी] ज्ञानी कोई भी [न] नहीं [अत्थि] है ॥ २४ ॥

भावार्थ—उत्कृष्ट स्थितिमे सर्वार्थ-सिद्धिके देव प्रधान है, क्योकि सुख-पूर्वक रहते हुए इतना वडा आयु पाचवें अनुत्तर विमानके देवोंके अतिरिक्त अन्य किसीकी नहीं है, उनके वरावर सुख भी किसी दूसरेको नहीं है, तथा जिस प्रकार सौधर्म-इन्द्रकी सभा अन्य सभाओंसे सुन्दर है, और सव आस्तिक परलोक-स्वर्ग-नरक-आत्मा आदि पदार्थों को माननेवालोमे धर्मका फल एक मुक्ति ही है, क्योकि मिथ्यामार्गकी पुष्टि-करनेवाले भी मोक्षको स्वयं प्रधान मानते हैं, —सी भांति भगवान् भी समस्त ज्ञानिओंमें परमोत्कृष्ट ज्ञानी थे, ॥ २४ ॥

भाषा-टीका—अधिक आयुवाले सुखी जीवोंमें लवसत्तम अर्थात् पाच अनुत्तर विमानमें उत्पन्न देवोंका आयु सबसे अधिक श्रेष्ठ और सुखी है। इन्हें लवसत्तम इस लिए कहते हैं कि यदि इनका आयु सात लव अधिक होता तो इन्हें मोक्ष हो जाता। सभाओंमें सुधर्म्मा अर्थात् शक्रेन्द्रकी सभा सर्व श्रेष्ठ है, क्योंकि वहा सभ्यपुरुषोंकी गोष्ठी अधिक पाई जाती है। सारे धर्मोका निचोड सबने मोक्ष बताया है। अर्थात् धर्मका अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्व्वाण माना है। या जो सबके लिए हितकर हो उसको सार्व कहते हैं। वह अर्हन होता है। उसका कहा हुआ धर्म श्रेष्ठ और निर्व्वाण प्रद है। इसी तरह ज्ञातृपुत्र महावीर प्रभुसे बढकर सर्व्वज्ञ ज्ञानी कोई नहीं है॥ २४॥

गुजराती अनुवाद—अधिक आयुष्यवाळा सुखी जीवोमा लवसत्तम अर्थात् पाच अनुत्तर विमानवासी देवोनुं आयुष्य सर्वथी अधिक श्रेष्ठ अने सुखी छे [तेमनु आयुष्य जो सात लव वधारे होत तो तेओ मोक्षे जात, ते कारणे तेमने लवसत्तम कहे छे] सभामा सुधर्मा शक्रेन्द्रनी सभा सर्व श्रेष्ठ छे। कारण के त्या सभ्यपुरुषोनी गोष्टी अधिक प्रमाणमा थाय छे। बधा धर्मोनो सार मोक्ष छे अर्थात धर्मनुं अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्व्वाण मनाय छे, जे बधाने माटे हित कर होय तेने सार्व कहे छे, ते 'अर्हत्' होय छे। तेमणे कहेलो धर्म श्रेष्ठ निर्वाण प्रद छे। आ प्रकारे 'ज्ञातृपुत्र' महावीर प्रभुथी अधिक सर्व्वज्ञ कोई नथी॥२४॥

मूल

पुढोवमे धुणइ विगयगेही,
न सण्णिहिं कुव्वइ आसुपन्ने।
तरिउं समुद्दं च महाभवोघं,
अभयं करे वीर अणंतचक्खू॥ २५॥

संस्कृतच्छाया

पृथ्व्युपमो धुनोति विगतगृद्धिर्न सन्निधिं करोति आशुप्रज्ञः।
तरित्वा समुद्रमिव महाभवौघमभयंकरो वीरोऽनन्तचक्षुः॥ २५॥

सं० टीका—पृथ्वीव न भगवान् यथा पृथ्वी सकलाधारा वर्त्तते सर्वान् सत्त्वादिकान् धारयति वा. तथैव सर्वसत्त्वानामभयप्रदानत

सदुपदेशदानाद्वा महावीरः सत्त्वाधार इति, अथवा पृथ्वी सर्वसहा, एवं भगवानपि परिषहोपसर्गान् सम्यक् सहते, कर्मरजांसि धुनोति दूरीकरोतीति भावः, अष्टविधं कर्म्मापनयति वेति शेषः । तथा विगता प्रणष्टा सबाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु गृद्धिर्लिप्सा वा गार्ध्य, तृष्णा भरमभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः । तथा सन्निधानं सन्निधिः स च द्रव्यसन्निधिः संचयः । धनधान्यद्विपदचतुष्पदरूपो द्रव्यसन्निधिः, भावसन्निधिस्तु कषायविषयादयो वा, सामान्येन कषायास्तमुभयरूपमपि सन्निधिमथवेन्द्रियजन्य विषयं तन्न करोतीति भावः । "संनिधाने,=अन्तिके, इन्द्रियगोचरे, सन्निधिरिति शब्दार्थचिन्तामणिः"। "सन्निधिः सनिधानेऽपि पुमानिन्द्रियगोचर इति मेदिनी" । "पच्चक्खे सन्निधाने च, सन्निधि परिकित्तितो, इत्यभिधानप्पदीपिका" । भगवान्न करोतीन्द्रियगोचरं विषयं प्रगटं प्रत्युत नाशयतीति भावः । वीरस्तथैवाशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगान्न छद्मस्थवन्मनसा पर्य्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्तिं विधत्ते करोति । छाद्यते स्वात्मरूपमनेनेति छद्म, तन्मध्ये तिष्ठतीति छद्मस्थो हि स केवलज्ञानरहितो भवति । परन्तु भगवान् सर्वज्ञ । स एवंभूतः समुद्रपारमिव महाभवौघं संसारसमुद्रं समुत्तीर्य तीर्त्वा, बहुदुःखाकुलं चातुर्गतिकं संसारसागरं तीर्णः सर्बोत्तमं निर्वाणमासादितवान् । अभयं प्राणिनां प्राणरक्षानुकूलं व्यापारं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात्करोतीत्यभयंकरश्च, भयोपपदात्करोतेः 'मेघर्तिभयेषु कृञ' इति 'ख' प्रत्यये रिवत्वात् 'अरुर्द्विषदजन्तस्य चेति मुमागमः।' तथाऽष्टविधकर्म्मविशेषेणेरयति, प्रेरयति, कम्पयति, दूरीकरोतीति वीरः । तथा अनन्तमपर्य्यवसानं-नित्यं-ध्रुवं ज्ञेयानन्तत्वात् वाऽनन्तं चक्षुरिव चक्षुः केवलज्ञानं स तथेति ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—[वीर] भगवान् महावीर [पुढोवमे] पृथ्वीकी तरह सबके आधारभूत अथवा पृथिवीकी सदृश परिषह–उपसर्ग आदि सहनेवाले [धुणति] आठ कर्मोंकी मूल प्रकृतिओंको और उत्तर प्रकृतिओंको नष्ट करते हैं, [विगय-गेहि] अभिलाषा रहित तथा जो [सण्णिहिं] द्रव्य आदिका सचय [न] नहीं [कुव्वति] करते, [आसुपन्ने] और जिनका ज्ञान सदा शीघ्र उपयोगयुक्त है, [समुद्द] समुद्रकी [व] भांति [महाभवोघं] पर्यायोंके समूहरूप अनन्त संसारको [तरिउं] पार होकर [अभयकरे] अपने और औरोंके द्वारा जीवोंकी रक्षा कर-नेवाले और [अणन्तचक्खु] अनन्त-ज्ञानयुक्त थे ॥ २५ ॥

भावार्थ—संसारके प्राणी पृथ्वीपर सब प्रकारके कार्य करते हैं, किन्तु पृथ्वी किसीपर अप्रसन्न नहीं होती, प्रत्युत सब कुछ सहती है, इसी प्रकार भग-वान महावीर भी परिषह और उपसर्ग आदि सब कुछ सहते थे, न किसी पर प्रसन्न होते थे न अप्रसन्न, जिस तरह पृथ्वी सबके लिए आधार रूप है, भग-वान् भी दयालु होनेसे आधारभूत थे, महावीर प्रभु आठ कर्मोंसे रहित और बाह्य-वस्तुके ममत्वसे दूर थे, तथा छद्मस्थकी तरह जाननेके लिए उन्हें वस्तुके सोचने या विचारनेकी आवश्यकता न थी, क्योंकि भगवान् प्रतिसमय उपयोगात्मक ज्ञानसे युक्त थे, तथा अनेक दु खोसे भरपूर संसार समुद्रसे पार होकर मुक्त होने वाले, स्वय जीवरक्षा करनेवाले और उपदेशद्वारा औरोंकी रक्षा करानेवाले, तथा अनन्त पदार्थोंके ज्ञाता-द्रष्टा थे ॥ २५ ॥

दिया है । और अव केवल ज्ञानरूप अनन्तचक्षुयुक्त हैं । और वह चक्षु सादि अनन्तरूप है । प्रभुकी अनन्त ज्ञानरूपा लक्ष्मी इसीसे अपार है ॥ २५ ॥

गुजराती अनुवाद—ते भगवान् महावीर प्रभु पृथ्वीनी पेठे सर्वप्राणिओने आधारभूत छे, अने पोताना पवित्र उपदेशथी सर्वनो भय दूर करनार छे, अथवा पृथ्वीनी जेम सर्व प्रकारना प्रखर परिषह तेमज उपसर्ग सिंहसमान वृत्तिथी सहन करनार छे, आठ कर्मरूपी रज मेलनो नाश करीने निर्लेप थया छे । वळी बाह्य तेमज आन्तरिक सर्व तृष्णा अने आशानो तेमणे नाश कर्यो छे, तेथी कोई पण पदार्थमा तेमने आसक्ति रही नथी, हवे तेओ द्रव्यथी संसारोपयोगी वस्तुओ अने भावथी इन्द्रिय विषयो तेमज कषायनो संग्रह करशे नहि, तेओए इन्द्रिय विकारोनो सर्वथा नाश कर्यो छे, तेओ सर्वज्ञ होवाथी छद्मस्थनी पेठे विचार करीने बोलवानी तेमने आवश्यकता नथी, कारणके तेमने हस्तामलकवत् त्रिलोकनु अनन्तज्ञान प्राप्त थयु छे, तेमज वळी संसारसमुद्रनो पार पामी सुन्दर निर्वाण प्राप्त कर्यु छे, के ज्याथी पुनरावृत्ति करवी नहि पडे । वीरता पूर्वक अष्टकर्मरूपी अनन्त कार्मणवर्गणाओनो अत्यन्त अभाव कर्यो छे, केवलज्ञानयुक्त छे, ते सादि अनन्तरूप छे । प्रभुनी अनन्तज्ञानरूपी लक्ष्मी अपार छे ॥ २५ ॥

मूल

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा ।
एआणि वंता अरहा महेसी,
ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ ॥ २६ ॥

(संस्कृतच्छाया)

क्रोधं च मानं च तथैव मायां, लोभं चतुर्थमध्यात्मदोषान् ।
एतान् वान्त्वाऽर्हन्महर्षिर्न करोति पापं न कारयति ॥ २६ ॥

सं० टीका—क्रोधं कषायरूपमात्मेतरगुण द्रूपोपयोगं "दोसो कोधे गुणोनरे इत्यभिधानप्पदीपिका" । "दोसो च पटिघं च वा, क्रोधाऽघाता कोप रोसा इत्यभिधा०" । मानमहंकारं च, "मानो विधा

च उण्णति" "गव्बोऽभिमानोऽहंकारो" इत्यभिधानप्पदीपिका"। मायां छद्मत्वं कपटं, "माया तु सवरीत्यभिधानप्पदीपिका" । लोभं पुद्गलव-स्तुसंचयव्यापारं "अभिज्झा वनथो वानं, लोभो रागो इत्यभिधानप्प-दीपिका" । वान्त्वा त्यक्त्वा वा एतान् दोषान् कषायानध्यात्मदोषान् परिहायाऽसौ भगवान् महर्षिर्जातस्तथा स्वयं पापमास्रवं, "पापं, च किब्बिसं, वेराऽघ दुच्चरितं, दुक्कतं, अपुञ्ञाऽकुसलं, कण्ह, कुलसं, दुरिताऽगु च" । अथवा पापमपराधं "पापापराधेसु" अथवा पापं कर्म्मपकं "पापे च कद्दमे" । अथवा पाप युद्धं चापि, "पापे युद्धे रवे" अथवा पाप कलिः कलह "पापे कलि" । वा पापं वैरं ह्यपि "पापे च पटिघे वेरं" "इत्यादीन्यभिधानप्पदीपिका" । न करोत्यन्यैर्न कारय-तीत्येते कषायदोषास्त्वपि हितमिच्छंस्त्याज्या एव, यथाह सिद्धान्ते-

"कोहं माण च माय च, लोहं च पाववड्ढणं,
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो" ॥ ३७ ॥

इमे चत्वारः कषायाश्चतुरो दोषान् समुत्पादयन्ति, यथा-

"कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो,
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो" ॥ ३८ ॥

एतानात्मदोषानेतैः प्रयत्नैरपनयेत् ॥

"उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे,
मायमज्जवभावेण, लोहं संतोसओ जिणे" ॥ ३९ ॥

नो चेत्संसारे परिभ्रमणं, यथा-

"कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ, माया अ लोहो अ पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स" ॥४०॥
(दश० अ० ८)

अथ कषायप्रत्याख्यानस्य फलमाह—कसायपच्चक्खाणे णं भंते जीवे कि जणयइ? कसायपच्चक्खाणे णं वीयरागं भावं जणयइ, वीयरागभावे पडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥ ३६ ॥
(उ० अ० २९ ॥)

वीतरागताफलमाह—वीयरागयाणं भंते जीवे कि जणयइ? वी० नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिदइ, मणुन्ना मणुन्नेसु सद्दफरिसरूवरसगंधेसु चेव विरज्जइ ॥ ४५ ॥

कषायविजयस्य पृथक्त्वफलं दर्शयति—कोहविजएणं भंते जीवे किं जणयइ? को० खंति जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ । खंतिए णं भते जीवे कि जणयइ? ख० परीसहे जणयइ ॥ माणविजएणं भंते जीवे कि जणयइ? मा० मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न वंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ; मद्दवयाएणं भंते जीवे कि जणयइ? म० अणुस्सियत्तं जणयइ, अणुस्सियत्तेणं (अनुत्सुकत्वेन) जीवे मिउमद्दवसंपन्ने (मृदुमार्दवसम्पन्नो) अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ (क्षपयति) ॥ माया-विजएणं भते जीवे कि जयणइ? मा० अज्जवं जणयइ । मायावेय-णिज्ज कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ । अज्जवयाएणं भंते जीवे किं जणयइ? अ० काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं अवि-संवायणं जणयइ, अविसंवायण (यथार्थ) सपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥ लोहविजएणं भंते जीवे किं जणयइ? लो० सतोसं जणयइ, लोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ७० ॥ मुत्तिएणं भंते जीवे कि जणयइ? मु० अकिचणं जणयइ, अकिंचणेय जीवे अत्थलोलाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जो भवइ ॥ ४७ ॥

कषाया अग्नय उक्ता अत एनान् शमयन्तु यथा—

"सपज्जलिया घोरा, अग्गि चिट्ठइ गोयमा,
जे डहंति सरीरत्थे, कहं विज्झाविया तुमे" ॥ ५० ॥

{ सम्प्रज्वलिता घोरा, अग्नयस्तिष्ठन्ति गौत्तम !,
ये दहन्ति शरीरस्थाः कथं विध्यापितास्त्वया ॥ }

"महामहप्पसूयाओ गिज्झ-वारि जलुत्तमं,
सिंचामि सययं देहं, सित्ता नो डहन्ति मे" ॥ ५१ ॥

{ महामेघप्रसूतात् गृहीत्वा वारि जलोत्तमम् ।
सिंचामि सतत देहं, सिक्ता नो दहन्ति माम् ॥ }

"अग्गीय इ इ के वुत्ता, केसी गोयममब्बवी,
केसीमेवं बुवतं तु गोयमो इणमब्बवी" ॥ ५२ ॥

"कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं,
सुयधाराभिहया सन्ता भिन्ना हु न डहन्ति माम् ॥"

{ कषाया अग्नय उक्ताः श्रुतशीलतपोजलम् ।
श्रुतधाराभिहता सन्त , भिन्ना खलु न दहति माम् ॥ }

(उत्तराध्यन सूत्र, अ० २३)

अर्थतेषां वृद्धव्याख्यामाह—

क्रोधः परापकाराय ज्वलितश्चित्तवृत्तिभेदः, परानिष्टाभिलाष इत्यथवाऽनिष्टविषयेष्वप्रेतुक इत्यर्थः । आत्मन्युत्कर्षाभिमानात्मकं मानमिति । पापस्वभाव एव मिथ्याबुद्धिरेष्वज्ञानभेदो दम्भ इत्यर्थः । परद्रव्याद्यभिलाषो लोभः । परानिष्टाभिलाषः क्रोधः, सर्वेव मोघमिच्छे [illegible] . क्रोधादीनां सर्वेषामपि [illegible] इदमुक्त

च भवति । अतः क्षान्त्यैव नश्यति । मत्समो नान्योऽस्तीति मननं मानं । अथवाऽऽत्मन्यविद्यमानगुणारोपणोत्कर्षरूपा बुद्धिर्मानो महति धनाये सत्यपि ह्यनुक्षणं वर्धमाने तदभिलाषो लोभोऽथवा परवित्तादिकं दृष्ट्वा नेतुं (ग्रहीतुं) यो हृदि जायतेऽभिलाषो लोभश्च सः ।

इतरेऽप्याहुर्यथा—

"लोभ एव मनुष्याणां, देहसस्थो महान् रिपुः । सर्वदुःखाकरः प्रोक्तो, दुःखदः प्राणनाशकः ।" "सर्व्वपापस्य मूलं हि, सर्व्वदा तृष्णयान्वितः, विरोधकृत् त्रिवर्णानां, सर्वार्तेः कारणं तथा ।" "लोभात्त्यजन्ति धर्म्मं च, मर्य्यादां वै तथैव च, मातरं भ्रातरं हन्ति, पितरं वान्धवं तथा ।" "गुरुं मित्रं तथा तातं, पुत्रं च भगिनीं तथा, लोभाविष्टो न किं कुर्य्यादकृत्यं पापमोहितः" ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—भगवान् महावीर (कोहं) क्रोधको (च) और (माण) मानको (च) और (मायं) मायाको (तहेव) इसीप्रकार (चउत्थं) चौथे (लोभं) लोभको अर्थात् (एआणि) इन सब (अज्झत्थदोसा) अध्यात्मिक-आत्मसंवन्धी दोषोंको (वंता) त्यागकर (अरहा) अर्हन् तथा (महेसी) महर्षि हुए; और (पावं) पाप (ण) न (कुव्वइ) स्वयं करते हैं (ण) न (कारवेइ) औरोंसे प्रेरणासे कराते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—कारणके नाश होनेपर कार्यका भी नाशहोजाता है ससारके वढनेमें कारणभूत क्रोध-मान-माया और लोभ हैं, अत इनके नाश होनेपर ससार-कर्मवर्गणाकाभी नाश हो जाता है, इसलिए भगवान् क्रोधादिका नाश करके अर्हन् अवस्था एवं महर्षिपदको प्राप्त हुए, क्योंकि वास्तवमें कपायका नाश किए विना कोई भी महर्षि नहीं वन सकता, और भगवान् न स्वयं पाप करते हैं न औरोंको पापमें प्रेरित करते हैं ॥ २६ ॥

भाषा-टीका—क्रोध कपायका पहला भेद है, इसके आवेशमें आकर जीव द्वेषका उपयोग करने लगता है, इससे औरोंका अनिष्ट तक भी कर डालता है, चित्तकी वृत्ति गर्म और खराव होजाती है, अनिष्ट करते समय क्रोधका ही

उपयोग होता है। मान दूसरा कषाय है, इसकी मात्रा का कोई प्रमाण नहीं है, इसे अहंकार भी कहते हैं, इसके कारण 'वाहरे मैं' यही कहना रहता है, इसके आवेशमें मात्र अपनीही बढती चाहता है। माया नाम कपट करने का है, इससे दम्भ क्रिया करता है, सरलता का नाश कर डालता है, अपनी चित्तवृत्ति का मालिक नहीं रह पाता। पराये धनमें अतिशय अभिलाषा रखना लोभ है, जिससे किसी दूसरेका अहित करना बायें हाथका खेल समझता है।

क्रोध शान्तिसे जीता जा सकता है, शान्तिके विना क्रोधके आवेशमें अन्धा हो जाता है। इससे अधीरता, अस्थिरता और हृदयशून्यता आ जाती है। अतः क्रोधको समभावसे नष्ट करना चाहिए।

मुझसे बढकर अन्य कोई नहीं, इस मान्यताके आने पर मानसे घिर जाता है, और अपनेमें अविद्यमानगुणको उत्पन्न करनेकी बुद्धि पैदा करता है, इससे अन्य सबको छोटी दृष्टिसे देखता है। स्पष्ट बात न करना माया है। अधिक धनकी आय होने पर भी प्रतिपल जिसकी अभिलाषा बढती रहे उस अवस्थाका नाम लोभ है, या पराए धनको देख कर उसके स्वीकार करने की इच्छाको हृदयमें उत्पन्न करना लोभ है, यह लोभ मनुष्योंके शरीरमें सबसे बडा शत्रु है, यह सब दुःखोंकी खान और प्राणनाशक है, सब पापोंका मूल है, तीनों वर्गोंके लोग इसके कारण विरोध खडा कर रहे हैं, सबके दुःखोंका कारण यही सिद्ध हुआ है। लोभसे प्रेरित होकर माता, पिता, भाई, बन्धु और धर्म की मर्यादा सबको नष्ट कर डालता है। गुरु, मित्र, पिता, पुत्र, भगिनी आदिको लोभसे मार कर नाश करता है तथा वह कौनसा अपराध है जिसे लोभ वश न करता हो।

प्रभुमें इनका अत्यन्ताभाव है । अत· प्रभुके अनुवर्तिओंका भी यह मुख्य कर्तव्य है कि–वे भी कषायोंको छोडें, जैसे दशवैकालिकमें कहा है कि–

क्रोध-मान-माया-लोभ पापको बढाने मे उत्तेजना देते हैं, यदि हितकी इच्छा है तो चारों ही कषायोंका वमन करो अर्थात् त्याग करो ।"

'ये चारो कषाय अनन्त दोषोंको बढाने वाले है, तथापि इनमें एक एक मुख्य दोष है ।'

जैसे–"क्रोधसे प्रीतिका नाश होता है, मान विनयका नाश करता है, माया–कपट करनेसे मित्रता टूट जाती है, लोभ तो प्रेम, विनय और मित्रता इन तीनों का ही नाशक है ।

इनके हटाने के साधन–क्रोधको शान्तिसे, मानको मार्दवतासे, मायाको सरल और उदार आर्जवतासे तथा लोभको सन्तोषसे अलग हटादो नही तो संसारमें अनन्त परिभ्रमण करना होगा ।

क्योंकि–यदि क्रोध और मानका निग्रह न किया हो, तथा माया और लोभको बढा रहा हो तब तो ये चारों ही कषाय संसारकी जडको सींचकर बढा देते हैं ।

कषायके त्याग का फल–उत्तराध्ययन के २९ वें अध्यायमें गौतम प्रश्न पूछते हैं कि-भगवन् ! कषाय को छोड देनेसे क्या लाभ उत्पन्न होता है ?

गौतम ! कषाय त्यागसे वीतरागभाव उत्पन्न होताहै । वीतरागभाव आने-पर सुखदु खमें समान भाव हो जाताहै ।

वीतरागता का फल–

वीतरागता के पानेसे क्या लाभ होता है ? गौतम ! वीतरागतासे स्नेह-बंधन और तृष्णाका बन्धन नष्ट करडालता है, मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्शसे वैराग्यद्वारा विरक्त होता है ।

अलग २ कषायके जीतने का फल–क्रोध के विजयसे क्या प्राप्त होता है ? क्रोधके विजयसे क्षमा के गुणको प्रगट करताहै । क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले कर्मोंको न बाधकर पूर्वकालमें बाधे हुए कर्म्मोंका क्षय करदेता है । शान्तिसे परिग्रह जीतनेका अभ्यास तथा सहिष्णुता उत्पन्न करता है ।

हे पूज्यनीय! मानके विजयसे क्या लाभ होता है? मानके विजयसे निरभिमानिता या मार्दवताका अद्वितीयगुण पैदा होताहै। मान-जन्य कर्मका प्रतिबंध न करके पहलेके बांधे हुए कर्मकी निर्जरा करता है॥ मार्दवतासे क्या लाभ होता है? इससे अभिमान रहित होजाता है। वह किसी भी पदार्थमें उत्सुक नहीं होता। कठिन स्वभावको न रख कर वह फिर कोमल और मृदुताका सम्पादन करके जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ और ऐश्वर्य इन आठ-मदोंका संहार करता है जोकि आत्मशत्रु रूप हैं।

मायाका विजय करनेसे जीव क्या पाता है? इससे प्रकृति सरल हो जाती है। कपटसे भोगेजानेवाले कर्म नहीं बांधता। और पहले प्रतिबंधको तोड़-देता है। निष्कपटतासे जीवको क्या प्राप्त होता है? निष्कपटतासे काय, मन और भाषासे सरल होकर यथार्थ भाव पैदा करता है, किसीको ठगता नहीं, ऐसा जीव धर्मका सम्यक् आराधक बन जाता है।

लोभको जीतनेसे क्या लाभ होता है? इसे जीतनेसे सन्तोषरूपी अमृतको पाता है। और तज्जन्य कर्मका बंध नहीं डालता। और पहले बांधे हुए कर्मोंको खपेर देताहै। निर्लोभतासे जीवको क्या लाभ होता है? इससे अकिञ्चन भाव यानी निस्पृहतारूप गुण मिल जाता है। क्योंकि निष्परिग्रहीजीवोंको धनके लोभी कभी नहीं चिपटते।

गुजराती अनुवाद—कषायनो पहेलो भेद, क्रोध छे, आवेशमां आवी जीव द्वेष करे छे, तेथी बीजानुं अनिष्ट पण करी बेसे छे, चित्तवृत्ति गरम तथा खराब बनी जाय छे। अनिष्ट करती वखते क्रोधनोज उपयोग थाय छे, कषायनो बीजो भेद मान छे। तेनी मात्रानुं कशुं प्रमाण नथी, तेने अहंकार पण कहे छे, तेना आवेशमां मात्र पोतानीज चढती इच्छे छे। माया नाम कपटनुं छे, तेनाथी दम्भ करे छे, सरळतानो नाश थाय छे, चित्तवृत्ति कब्जे रहेती नथी। परधनमां अतिशय अभिलाषा ए लोभ छे, तेनाथी अन्यनु अहित करी बेसता वार लागती नथी ।

कषाय निग्रहनो उपाय—क्रोध शान्तिथी जीति शकाय छे, शान्ति वगर क्रोधना आवेशमा अन्ध बने छे। अधीरता-अस्थिरता-तेमज हृदयशून्यता-आवे छे तेथी क्रोधनो समभावथी नाश करवो जोइए।

माराथी मोटुं कोई नथी, ए मान्यता मानथी आवे छे, अथवा पोतानामा न होय तेवा गुणो पोतानामा छे, एवी बुद्धि थई जाय छे, तेथी बधाने हलका माने छे, स्पष्ट वात न कहेवी ते माया छे,

पुष्कळ धन होवा छता हरेक क्षणे वधुनी अभिलाषा राखवी ते लोभ छे, अथवा परधन जोइने ते लई लेवानी हृदयमा इच्छा उत्पन्न थवी ते पण लोभ छे, लोभ मनुष्यनो मोटामा मोटो शत्रु छे, सर्वना विरोधनुं ए कारण छे। लोभथी प्रेरित बनीने माता-पिता-भाई-बन्धु-अने धर्मनी मर्यादा पण रहेती नथी। गुरु-मित्र-पुत्र-भगिनी वगेरेनो नाश लोभथी करे छे। लोभथी सर्व प्रकारना अकृत्य करे छे।

परन्तु भगवाने आ चारे कषायोनो नाश करी दीधो छे, आ चारे दोषो कोई साधारण दोष नथी, ते तो अध्यात्म दोष छे। तेनाथी अध्यात्मिकतानो नाश थाय छे, तेनाथीज अनन्त ससारमां रखडवुं पडे छे, भगवान् महावीर प्रभु ते कषायोनो नाश करी महर्षि बन्या, हवे तेओ पाप-आस्रव करता नथी, कर्म मळथी तेओ अलिप्त छे, जन्म-जरा-मरणथी मुक्त छे, कलहनो अत्यन्ताभाव थई गयो छे, प्रभु निर्वैर छे, आशय ए छे के प्रभु पोते पाप करता नथी, कोई बीजाने पाप या आस्रवनो उपदेश पण करता नथी, करावता नथी, कारणके पाप करवुं, कराववुं, ते कषाय अने अशुभयोगो थी-थाय छे, प्रभुमा तेनो अत्यन्त अभाव

छे, तेथी प्रभुना अनुयायिओनुं पण ए कर्तव्य छे के तेओ पण कषायने तजे, दशवैकालिकमां कह्युं छे के–"क्रोध-मान-माया-लोभ पाप वृद्धि करनार छे, जो हित चाहता हो-तो चारे कषायोनो त्याग करो।"

आ चारे कषायो अनन्तदोष वधारनार छे, तो पण तेनामां एक एक मुख्य दोष छे, जेमके–क्रोध प्रीतिनो, मान विनयनो, माया-कपट मित्रतानो अने लोभ प्रेम-विनय अने मित्रतानो नाश करे छे।

तेने दूर करवाना उपाय—क्रोधने शान्ति थी, मानने नम्रता गुण थी, मायाने उत्कट सरळताथी, अने लोभ सन्तोषथी दूर करे नहि तो संसारमां अनन्तकाल परिभ्रमण करवु पडशे।

क्रोध-माननो निग्रह न कर्यो होय, माया अने लोभमां वृद्धि थती होय तो आ चारे कषायो नाश माटे संसार जाळनी अनन्त वृद्धि करशे।

कषायत्यागनुं फल—उत्तराध्ययनना २९ मा अध्ययनमां गौतम-स्वामी प्रश्न पूछे छे के हे भगवन्! कषायना त्यागथी जीव शुं पामे छे?

गौतम! कषाय त्यागथी वीतराग भाव उत्पन्न थाय छे अने वीतराग-भावने पामेल जीव ने सुखदुःख समान बने छे।

गुजराती अनुवाद—कषायनो पहेलो भेद, क्रोध छे, आवेशमां आवी जीव द्वेष करे छे, तेथी बीजानुं अनिष्ट पण करी बेसे छे, चित्तवृत्ति गरम तथा खराब बनी जाय छे। अनिष्ट करती वखते क्रोधनोज उपयोग थाय छे, कषायनो बीजो भेद मान छे। तेनी मात्रानुं कशुं प्रमाण नथी, तेने अहंकार पण कहे छे, तेना आवेशमा मात्र पोतानीज चढती इच्छे छे। माया नाम कपटनुं छे, तेनाथी दम्भ करे छे, सरळतानो नाश थाय छे, चित्तवृत्ति कब्जे रहेती नथी। परधनमां अतिशय अभिलाषा ए लोभ छे, तेनाथी अन्यनुं अहित करी बेसता वार लागती नथी।

कषाय निग्रहनो उपाय—क्रोध शान्तिथी जीति शकाय छे, शान्ति वगर क्रोधना आवेशमा अन्ध बने छे। अधीरता-अस्थिरता-तेमज हृदयशून्यता-आवे छे तेथी क्रोधनो समभावथी नाश करवो जोइए।

मारायी मोटु कोई नथी, ए मान्यता मानथी आवे छे, अथवा पोतानामा न होय तेवा गुणो पोतानामा छे, एवी बुद्धि थई जाय छे, तेथी वधाने हलका माने छे, स्पष्ट वात न कहेवी ते माया छे,

पुष्कळ धन होवा छतां हरेक क्षणे वधुनी अभिलाषा राखवी ते लोभ छे, बीजानुं धन जोइने ते लई लेवानी हृदयमा इच्छा उत्पन्न थवी ते पण लोभ छे, लोभ मनुष्यनो मोटामां मोटो शत्रु छे, सर्वना विरोधनुं ए कारण छे। लोभथी प्रेरित थईने माता पिता-भाई-बन्धु-अने धर्मनी मर्यादा पण रहेती नथी। गुरु-मित्र पुत्र भगिनी वगेरेनो नाश लोभथी करे छे। लोभथी सर्व प्रकारना अकृत्य करे छे।

छे, तेथी प्रभुना अनुयायिओनुं पण ए कर्तव्य छे के तेओ पण कषायने मूके; दशवैकालिकमा कह्युं छे के–"क्रोध-मान-माया-लोभ पाप वृद्धि करनार छे, जो हित चाहता हो-तो चारे कषायोनो त्याग करो।"

आ चारे कषायो अनन्तदोष वधारनार छे, तो पण तेनामा एक एक मुख्य दोष छे, जेमके–क्रोध प्रीतिनो, मान विनयनो, माया-कपट मित्रतानो अने लोभ प्रेम-विनय अने मित्रतानो नाश करे छे।

तेने दूर करवाना उपाय—क्रोधने शान्ति थी, मानने नम्रता राखवाथी, मायाने उदार सरळताथी, अने लोभ सन्तोषथी दूर कर नहि तो संसारमां अनन्तकाल परिभ्रमण करवुं पडशे।

क्रोध-माननो निग्रह न कर्यो होय, माया अने लोभमा वृद्धि करी होय तो आ चारे कषायो तारा माटे ससार जाळनी अनन्त वृद्धि करशे।

कषायत्यागनुं फल—उत्तराध्ययनना २९ मा अध्ययनमा गौत्तमस्वामी प्रश्न पूछे छे के हे भगवन्! कषायना त्यागथी जीव शुं पामे छे?

गौत्तम! कषाय त्यागथी वीतराग भाव उत्पन्न थाय छे अने वीतरागभावने पामेला जीव ने सुखदु ख समान वने छे।

वीतरागतानुं फल—वीतरागपणाथी शुं पामे छे? गौत्तम! निरासक्तिथी स्नेह वंधन तथा तृष्णा वंधनने ते जीव छेदी नाखे छे, तथा मनोज्ञ अने अमनोज्ञ शब्दरूप-रस-गन्ध-स्पर्श इत्यादि विषयोमां वैराग्य-विरक्ति-त्यागभावने पामे छे।

अलग २ कषाय जयनुं फल—हे पूज्य! क्रोधना विजयथी आ जीव शुं पामे छे? गौतम! क्रोध विजयथी जीव क्षमाना गुणने प्रगटावे छे, क्रोधथी उत्पन्न थता कर्मोने वाधतो नथी। अने पहेला वाध्या होय तेने खपावे छे, शान्तिथी परिषह जीतवानो अभ्यास तथा सहिष्णुता विगेरे विगेरे गुणो उत्पन्न थाय छे।

हे पूज्य! मानना विजयथी जीव शुं पामे छे? मानना विजयथी निरभिमानता या मृदुताना अपूर्वगुणने प्रगटावे छे, अने मानजन्य कर्मने वांधतो नथी, अने पहेला जे वंधायुं छे तेनी निर्जरा करे छे,

मृदुताथी जीव शुं पामे छे? तेनाथी जीव अभिमान रहित थाय छे, अने कोमल मृदुताने प्राप्त करी जाति-कुल-वल-रूप-तप-ज्ञान-लाभ-अने ऐश्वर्य ए आठ प्रकारना मद रूप शत्रुनो सहार करे छे,

मायाना विजयथी जीव शुं पामे छे? मायाना विजयथी सरलभावपणुं पामे छे, अने मायाथी वेदवा पडता कर्मो बंधातो नथी, अने पूर्वे बंधाया होय तो तेने दूर करे छे ।

निष्कपटताथी जीव शुं पामे छे? निष्कपटताथी मन-वचन अने कायथी सरलता अने सुंदरता प्राप्त करे छे, अने कोईनी साथे ते ठगाई करतो नथी, तेवो जीवात्मा धर्मनो सम्यक् आराधक बने छे,

हे पूज्य! लोभना विजयथी जीव शुं पामे छे? लोभना विजयथी सन्तोष रूप अमृतने मेळवे छे, लोभ जन्य कर्म बाधतो नथी, अने पूर्वे बंधायेला छे तेने विखेरे छे ।

निर्लोभताथी जीव शुं पामे छे? तेनाथी जीव अपरिग्रही बने छे, अने धनलोलुपी पुरुषोना कष्टो, पराधीनताओथी बची जाय छे, अने राष्ट्रनी दासत्व शृंखलाओने निर्लोभी थइने तोडे छे अने देशने स्वतन्त्र बनावी शके छे

कषाय पण एक आग छे, तेने शान्त करो—जेमके—चारे तरफ आग सळगी रही छे, ते बधाने एकदम बाळी रही छे, शरीरधारी प्राणीने पण तेणे छोडेल नथी, ते अग्निने हे गौतम! तमे शी रीते बुझावी नाखी,?

हे केशी? महा मेघमाथी उत्पन्न थयेला पाणीना प्रवाहमाथी ते उत्तम पाणी लई सतत हुं ते अग्निने ठारी नाखुं छुं, अने तेथी ते ठरेली अग्नि मने लेशमात्र बाळी शकती नथी ।

गौतम! ते अग्नि कई? गौतमे जवाब आप्यो केशी मुने! कषायोज भयंकर अग्नि छे, ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तप रूपी जलनी धाराओ तीर्थंकररूपी महामेघथी वरसेली छे, सत्यज्ञाननी धाराओथी, हणायेली ते कषायो रूपी अग्नि साव ठरी जाय छे, तेथी ते आग मने लेशमात्र पण बाळी शकती नथी ॥ २६ ॥

मूल

किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं,
अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं ।
से सव्ववायं इति वेयइत्ता,
उवट्ठिए संजम दीहरायं ॥ २७ ॥

संस्कृतच्छाया

क्रियाक्रियं वैनयिकानुवादं,
अज्ञानिकानां प्रतीत्य स्थानम् ।
स सर्ववादमिति वेदयित्वा,
उपस्थितः संयमदीर्घरात्रम् ॥ २७ ॥

सं० टीका—क्रियावादिनामशीतिशतं भेदाः । अक्रियावादिनां चतुरशीतिभेदाः । विनयवादिनां द्वात्रिंशत्, अज्ञानवादिनां सप्तषष्टीति त्रिषष्टिशतभेदाः पाषण्डिनां सर्वलिङ्गिनां "पाषण्डाः सर्वलिंगिन इत्यमरः ।" "[कुटीसकादिकाचतुचत्तिंस द्वासट्ठिदिट्ठिओ इति छन्नुव्वुती एते] पासण्डा सम्पकासिता इत्यभिधानप्पदीपिका ।" वा मनोनीतधर्मिणां स्थानं पदं वा सादृश्यं स्थितिमवस्थामात्मनो ज्ञात्वा, "स्थानं सादृश्येऽवकाशे स्थितौ वृद्धिक्षयेतर इति मेदिनी ।" सर्वधर्माणामन्तर्भेदं रहस्यं ज्ञात्वेति भावः । वा स्थितिं तेषां स्थानं निकटं त्यक्त्वेत्याशयः । "अवकाशे स्थितौ स्थानमित्यमरः ।" पक्षमित्यपि सम्यक् प्रतीत्य परिच्छिद्य ज्ञात्वा च स भगवान् सर्ववादं सर्वमन्तव्यं कथयित्वा सर्वेषामेकान्तवादिनां स्वरूपं कथनं भावं च परिज्ञाय दीर्घकालं यावज्जीवपर्य्यन्त संयमे धर्मे सम्यगुपस्थितः स्थितवान् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह भगवान् महावीर [किरियाकिरियं] क्रियावाद और अक्रियावादके तथा [वेणइयाणवाय] विनयवादी और [अण्णाणियाणं] अज्ञानवादियोंके [ठाणं] पक्षको [पडियच्च] जानकर तथा [सव्ववायं] और सब वादोंके—पक्षको (इति) सम्यक् प्रकारसे (वेयइत्ता) समझाकर [संजमदीहरायं] यावज्जीव संयममें [उवट्ठिए] उपस्थित रहे ॥ २७ ॥

भावार्थ—संसारमें अनेक मतोंका प्रचार है, कोई क्रियासे मोक्ष मानता है, कोई अक्रिया वादी है वे मात्र ज्ञानसे मुक्ति होना मानते हैं; कोई विनय करनेमें मोक्ष मानते हैं और कोई अज्ञानसे। और भी इनके अनेक सिद्धान्त हैं,

उन सवको प्रभु अच्छे प्रकारसे जानकर तथा औरोंको इसका तथ्य समझा कर संयममें तत्पर होगये थे अर्थात् जैसा उपदेश करते थे वैसा आचरणमे भी लाते थे ॥ २७ ॥

भाषाटीकाः—क्रियावादियोंके १८० मत, अक्रियावादियोंके ८४ मत, विनयवादियोंके ३२ मत और अज्ञानवादियोंके ६७ इस प्रकार पाषंडियोंके ३६३ भेद सर्वधर्म्मलिंगिओके होते हैं। बौद्धोने ९६ पाषंड माने है। मनोनीत धर्मका नाम पाषण्ड है। या सर्वधर्मका नाम पाषंड है। प्रभुने उनकी तुलना स्याद्वादसे कर दिखाई। जिस अग्नि परीक्षामें कोई पाषंड न डट सका। परन्तु प्रभुने इनसे सर्वधर्म समभाव रखना बताया। उनमे युक्तायुक्तविभाग करके असत्य का त्यागना सर्वश्रेष्ठ माना। इस प्रकार स्वसमय परसमय का मन्तव्य समझाकर यावज्जीवतक सयमधर्ममें एकरस होकर तत्पर (स्थिर) रहे थे ॥ २७ ॥

गुजराती अनुवाद—क्रियावादीना १८० मत, अक्रियावादीना ८४, विनयवादीना ३२ अने अज्ञानवादीना ६७ ए सर्व ३६३ पाखण्डिओना भेद जाणवा, बोद्धोए ९६ भेद मान्या छे, मनोनीत धर्म्म पाखण्ड कहेवाय छे, तेनी तुलना स्याद्वादथी करी बतावी, ते अग्निपरीक्षामा कोई पाखण्डी टकी न शक्यो। प्रभुए सर्व धर्म समभाव राखवानुं पण बताव्युं, तेमा योग्यायोग्यनुं जाणपणुं पण बतावीने असत्यनो त्याग सर्व श्रेष्ठ मान्यो। आरीते स्वसमय, पर-समयनु मन्तव्य समजीने उत्तम दशविध सयममा (धर्ममा) जावजीव सुधी सावधान पणे रह्या ॥ २७ ॥

मूल

से वारिया इत्थी सराइभत्तं,
उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता आरं परं च,
सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥ २८ ॥

संस्कृतच्छाया

स वारयित्वा स्त्रियं सरात्रिभक्तं, उपधानवान् दुःखक्षयार्थम्।
लोकं विदित्वाऽऽरं पारं च, सर्वं प्रभुर्वारितवान् सर्ववारम् २८

सं० टीका—स वीरभगवान् स्त्रियं स्त्रीसम्पर्कं सम्भोगं च मैथुनं स्त्रीवेदपुरुषवेदोदयं, रात्रिभोजनसहितं निरन्तरं वारयित्वा परित्यज्य, उपलक्षणादन्यान्यपि प्राणातिपातादीनि ग्राह्याणि । परन्तु रात्रिभोजने तु सुतरां त्रसानामपि हिंसाऽनिवार्य्यसंयोगेन भवत्येवेत्यनेन रात्रिभोजनं त्याज्यमेवेति भावः । यथाह—

पुरुषार्थसिद्ध्युपाये—

"रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा,
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि" ॥ १२९ ॥

"रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा ।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न सम्भवति" ॥ १३० ॥

"यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहार ।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा" ॥ १३१ ॥

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्यभुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥ १३२ ॥

अकाले भुञ्जानः परिहरेत् कथ हिंसाम् ।
अपि वोधितः प्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३॥

किं वा वहुप्रलपितैरिति सिद्ध यो मनोवचनकायैः ।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पाल्यति ॥ १३४ ॥

अहिंसाणुव्रतपालको नरो रात्रिभोजनं वर्जयतीति दर्शयन्नाह; सागारधर्मामृते—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं, मूलव्रतविशुद्धये ।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥ २४ ॥

जलोदरादिकृद्यूकाद्यंकमप्रेक्ष्यजन्तुकम्।
प्रेताद्युच्छिष्टमुत्सृष्टमप्यश्नन्निश्यहो सुखी ॥ २५ ॥

अथवा **वनमालादृष्टान्तेन रात्रिभोजनदोषस्य पातकं दर्शयति—**

"त्वां यद्युपैमि न पुनः सुनिवेश्य रामं, लिप्ये वधादिकृदघैस्तदिति श्रितोऽपि। सौमित्रिरन्यशपथान्वनमालयैकं, दोषाशिदोषशपथं किल कारितोऽस्मिन्" ॥ २६ ॥

लौकिकसंवाददर्शनेनापि रात्रिभोजनप्रतिषेधमाह।

यत्र सत्पात्रदानादिकिञ्चित्सत्कर्म्म नेष्यते।
कोऽद्यात्तत्रात्ययमये, स्वहितैषी दिनात्यये ॥ २७ ॥
भुञ्जतेऽन्हः सकृद्वर्य्या द्विर्मध्या पशुवत्परे।
रात्र्यहस्तद्व्रतगुणान्, ब्रह्मोद्यान्नावगामुकाः ॥ २८ ॥
योऽत्ति त्यजन् दिनाद्यन्तर्मुहूर्तौ रात्रिवत्सदा।
स वर्ण्यैतोपवासेन स्वजन्मार्द्धं नयन् कियत् ॥ २९ ॥

तथा च—श्रावकस्यैकादशप्रतिमासु षष्ठ्यां प्रतिमायां श्रावको रात्रिभुक्तित्यागी भवति। यथाह—

समन्तभद्रस्वामी श्रावकाचारे—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं, नाश्नाति यो विभावर्य्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥ १४२ ॥

पुनश्च—मुनिस्तु महाव्रतं समेत्य रात्रिभोजनात्सर्वथा विरमति यथाह दशवैकालिके—तस्य षष्ठव्रतं कृतम्—

अहावरे छट्ठे भंते! वए राइभोयणाओ वेरमणं, सवं भंते! राइभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा, पाणं वा खाइमं वा साइमं वा,

नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवऽन्नेहि राइं भुंजाविज्जा राइं भुंजंतेऽवि अन्नेन समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। छट्ठे भंते! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं।

"अहावरे" इत्यादि। अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्। तद्यथा-अशनं, वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वेति, 'अश्यत इत्यशनम्,'—ओदनादि, 'पीयत इति पानं'—मृद्वीकापानादि, 'खाद्यत इति खाद्यं' खर्जूरादि, 'स्वाद्यत इति स्वाद्य' ताम्बूलादि, 'नैव स्वयं रात्रौ भुजे, नैवान्यै रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुंजानानप्यन्यान्नैव समनुजानामि; इत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृतपूर्वविधम्। विशेषस्त्वयम्—रात्रिभोजन चतुर्विधम्। तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। द्रव्यतस्त्वशनादौ, क्षेत्रतोऽर्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु, कालतो रात्र्यादौ, भावतो रागद्वेषाभ्यामिति। स्वरूपतोऽप्यस्य चातुर्विध्यम्, तद्यथा—रात्रौ गृह्णाति रात्रौ भुंक्ते, १ रात्रौ गृण्हाति दिवा भुंक्ते २, दिवा गृण्हाति रात्रौ भुक्ते ३, दिवा गृण्हाति दिवा भुक्ते ॥ ४ ॥ सनिधिपरिभोगे द्रव्यादिचतुर्भंगी पुनरियम्—द्रव्यतो नामैको रात्रौ भुक्ते नो भावतः १, भावतो नामैको नो द्रव्यतः २, एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि ३, एको नो द्रव्यतो नो भावत. ॥ ४ ॥ तत्रानुद्गते सूर्य्ये उद्गत इत्यस्तमिते वाऽनस्तमित इत्यरक्तद्विष्टस्य कारणतो वा रात्रौ भुञ्जानस्य द्रव्यतो रात्रिभोजनं नो भावतः। रात्रौ भुञ्ज इति मूर्च्छितस्य तदसम्पत्तौ भावतो नो द्रव्यतः। एवमेव सम्पत्तौ द्रव्यतोऽपि, भावतोऽपि चतुर्थो भंगः पुन.

शून्यः । एतच्च रात्रिभोजनं प्रथमचरमतीर्थंकरतीर्थयोः—ऋजुजडवक्र-जडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वख्यापनार्थं महाव्रतोपरि पठितं मध्यमतीर्थ-करतीर्थेषु पुनः ऋजुप्रज्ञपुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्गे इति ॥

तथा च योगशास्त्रेऽपि—

अन्नं प्रेतपिशाचाद्यैः, सचरद्भिर्निरंकुशैः ।
उच्छिष्टं क्रियते यत्र, तत्र नाद्यादिनात्यये ॥

तथा—

घोरान्धकाररुद्धाक्षैः, पतन्तो यत्र जन्तवः ।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुञ्जीत को निशि ?

रात्रिभोजने दृष्टान् दोषानाह—

"मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्ति, कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥"
"कण्टको दारुखण्डं च, वितनोति गलव्यथाम् ।
व्यञ्जनान्तर्णिपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥"
"विलग्नश्च गले वालः, स्वरभंगाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषाः, सर्वेषां निशि भोजने ॥"

यदाहुः—

*मेहं पिपीलियाओ, हणंति वमणं च मच्छिया कुणइ, जूया-

---

* मेधा पिपीलिका घ्नन्ति, वमनं च मक्षिका करोति,
यूका जलोदरत्वं, कोलिक कुष्ठरोगं च ।
वालः स्वरस्य भंगं, कण्टको लगति गले दारु च,
तालुनि विध्यति अलिर्व्यंजनमध्ये भुज्यमानः ।
जीवाना कुन्थ्वादीना, घातनं भाजनधावनादिषु ।
एवमादिरजनीभोजनदोषान्, कः कथयितुं शक्नोति ॥

जलोयरत्तं, कोलियओ कोढरोगं च ॥ बालो सरस्स भंगं, कंटो लग्गइ गलम्मि दारु च । तालुम्मि विंधइ अली, वंजणमज्झम्मि भुंजंतो ॥ जीवाण कुंथमाईण घायणं भायणधोयणाईसु । एमाइरयणिभोयणदोसे, को साहिऊ तरइ ?,

नाप्रेक्ष्यसूक्ष्मजन्तून्, निश्यद्यात्प्राशुकान्यपि,
अप्युद्यत्केवलज्ञानैर्नादृतं यन्निशासनम् ॥
*जइवि हु फासुगदव्वं कुंथूपणगावि तहवि दुप्पस्सा,
पच्चक्खनाणिणो वि, हु राइभत्तं परिहरंति ।
जइवि हु पिवीलगाई, दीसंति पइवमाईउज्जोए,
तहवि खलु अणाइन्नं, मूलवयविराहणा जेण ॥

लौकिकसंवाददर्शनेनापि रात्रि-भोजनं प्रतिषेधति यथा—

"धर्म्मविन्नैव भुंजीत, कदाचन दिनात्यये,
बाह्या अपि निशाभोज्यं यदभोज्यं प्रचक्षते ।"

तच्छास्त्रमेव कथयति—

"त्रयीतेजोमयोभानुरिति वेदविदो विदुः ।
तत्करैः पूतमखिलं, शुभं कर्म्म समाचरेत् ॥"

पुनश्चैतदेवाह—

"नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम् ।
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ॥"

---

* यद्यपि खलु प्राशुकद्रव्य, कुन्थुपनका अपि तथापि दुष्प्रेक्ष्या. ।
प्रत्यक्षज्ञानिनोऽपि खलु रात्रिभक्त परिहरन्ति ॥
यद्यपि खलु पिपीलिकादयो दृश्यन्ते प्रदीपाद्युद्योते ।
तथापि खल्वनाचीर्णं, मूलव्रतविराधना येन ॥

पुनश्च—"दिवसस्याष्टमे भागे, मन्दीभूते दिवाकरे ।
नक्तं तु तद्विजानीयान्न नक्तं निशि भोजनम् ॥"
"देवैस्तु भुक्तं पूर्वान्हे, मध्यान्हे ऋषिभिस्तथा ।
अपराण्हे च पितृभिः, सायान्हे दैत्यदानवैः ॥"
"सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः, सदा भुक्तं कुलोद्वह ।
सर्ववेलां व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥"

आयुर्वेदेऽप्युक्तम्—

"हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चण्डरोचिरपायतः ।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥"

परपक्षसंवादमभिधाय स्वपक्षं समर्थयते—

"संसज्जीवसंघातं, भुञ्जाना निशि भोजनम् ।
राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते, मूढात्मानः कथं नु ते ? ॥"

एतदेवाह—

"वासरे च रजन्यां च, यः खादन्नेव तिष्ठति ।
शृंगपुच्छपरिभ्रष्टः, स्पष्टं स पशुरेव हि ॥"

रात्रिभोजनविरतानां सविशेषपुण्यवत्वं दर्शयति—

"अन्हो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् ।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥"

ननु यो दिवैव भुंक्ते तस्य रात्रिभोजनप्रत्याख्याने फलं नास्ति ? फलविशेषो वा कश्चिदुच्यतामित्याह—

"अकृत्वा नियमं दोषाभोजनाद्दिनभोज्यपि ।
फलं फलेन्न निर्व्याजं, न वृद्धिर्भाषितं विना ॥"

पूर्वोक्तस्य विपर्य्ययमाह—

"ये वासरं परित्यज्य, रजन्यामेव भुजते ।
ते परित्यज्य माणिक्यं, काचमाददते जडाः ।"

ननु यदि नियमः सर्वत्र फलवान् ततो यस्य "रात्रावेव मया भोक्तव्यं न दिवसे" इति नियमस्तस्य का गति? रित्याह

"वासरे सति ये श्रेयस्काम्यया निशि भुंजते ।
ते वपन्त्यूषरक्षेत्रे, शालीन् सत्यपि पल्वले ॥"

रात्रिभोजनस्य दुर्विपाकफलमाह—

"उलूककाकमार्जारगृध्रशम्बरशूकराः ।
अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥"

वनमालोदाहरणेनायमपि रात्रिभोजनदोषस्य त्यागमहत्त्वं दर्शयति यथा—

"श्रूयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मणः ।
निशाभोजनशपथं, कारितो वनमालया ॥"

शास्त्रं निदर्शनं च विना सकलजनानुभवसिद्धं—रात्रिभोजनत्यागफलमाह—

"करोति विरतिं धन्यो, यः सदा निशि भोजनात् ।
सोऽर्द्धं पुरुषायुषस्य, स्यादवश्यमुपोषितः ॥"

तदेवं रात्रिभोजनस्य भूयांसो दोषास्तत्परिवर्जने तु ये गुणास्तान् वक्तुमस्माकमशक्तिरेवेत्याह—

"रजनीभोजनत्यागे, ये गुणाः परितोऽपि तान् ।
न सर्वज्ञादृते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वरः ॥ ७० ॥

अमितगतिश्रावकाचारेऽपि रात्रिभोजनस्य निषेधः कृतः ।

यत्र राक्षसपिशाचसंचरो, यत्र जन्तुनिवहो न दृश्यते ।
यत्र मुक्तमपि वस्तु भक्ष्यते, यत्र घोरतिमिरं विजृम्भते ॥
यत्र नास्ति यतिवर्गसङ्गमो, यत्र नास्ति गुरुराजदर्शनम् ।
यत्र संयमविनाशि भोजनं, यत्र संसजति जीवभक्षणम् ॥
यत्र सर्वशुभकर्म्मवर्जनं, यत्र नास्ति गमनागमक्रिया;
तत्र दोषनिलये दिनात्यये, धर्मध्यानकुशला न भुंजते ॥
भुंजते निशि दुराशयाय के, गृद्धिदोषवशवर्तिनो जनाः ।
भूतराक्षसपिशाचशाकिनी, संगतिः कथममीभिरस्य च ॥
वल्भते दिननिशीथयोः सदा, यो निरस्तयमसंयमक्रियः ।
शृंगपुच्छशफसंगवर्जितो, भण्यते पशुरयं मनीषिभिः ॥
आमनन्ति दिवसेषु भोजनं, यामिनीषु शयनं मनीषिणः ।
ज्ञानिनामवसरेषु जल्पनं, शान्तये गुरुषु सेवनं कृतम् ॥
भुज्यते गुणवतैकदा सदा, मध्यमेन दिवसे द्विरुज्वले;
येन रात्रिदिवयोरनारतं, भुज्यते स कथितो नराधमः ॥
ये विवर्ज्य वदनावसानयोर्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा ।
भुंजते जितहृषीकवाजिनस्ते भवंति भवभारवर्जिताः ॥
ये व्यवस्थितमहः सुसर्वदा, शर्वरीषु रचयन्ति भोजनम् ।
निम्नगामिसलिलं निसर्गतस्ते नयन्ति शिखरेषु शाखिनम् ॥
सूचयन्ति सुखदायि येऽगिनां, रात्रिभोजनमपास्तचेतनाः ।
पावकोद्धतशिखाकरालितं, ते वदन्ति फलदायिकाननम् ॥
ये ब्रुवन्ति दिनरात्रिभोगयोस्तुल्यतां रचितपुण्यपापयोः ।
ते प्रकाशतमसोः समानतां, दर्शयन्ति सुखदुःखकारिणोः ॥

रात्रिभोजनमधिश्रयन्ति ये, धर्म्मबुद्धिमधिकृत्य दुर्धियः ।
ते क्षिपन्ति पविवन्हिमण्डलं, वृक्षपद्धतिविवृद्धये ध्रुवम् ॥
ये विधृत्य सकलं दिनं क्षुधा, भुंजते सुकृतकांक्षया निशि ।
ते विवृध्य फलशालिनीं लतां, भस्मयन्ति फलकांक्षया पुनः ॥
ये सदापि घटिकाद्वयं त्रिधा, कुर्वते दिनमुखान्तयोर्बुधाः ।
भोजनस्य नियमो विधीयते, मासि तैः स्फुटमुपोषितद्वयम् ॥
रोगशोककलिराटिकारिणी, राक्षसीव भयदायिनी प्रिया ।
कन्यका दुरितपाकसभवा, रोगिता इव निरन्तरापदाः ॥
देहजा व्यसनकर्मपंडिताः, पन्नगा इव वितीर्णभीतयः ।
निर्धनत्वमनपायि सर्वदा, पात्रदानमिव दत्तवृद्धिकम् ॥
संकटं सतिमिरं कुटीरकं, नीचवित्तमिव रंध्रसकुलम् ।
नीचजातिकुलकर्म्मसंगमः शीलशौचशमधर्मनिर्गमः ॥
व्याधयो विविधदुःखदायिनो, दुर्जना इव परापकारिणः ।
सर्वदोषगणपीड्यमानता, रात्रिभोजनपरस्य जायते ॥
पद्मपत्रनयनाः प्रियंवदाः, श्रीसमाः प्रियतमा मनोरमाः ।
सुन्दरा दुहितरः कलाल्या., पुण्यपंक्तय इवात्तविग्रहाः ॥
अंशितव्यसनवृत्तयोऽमलाः, पावना हिमकरा इवांगजाः ।
शक्रमन्दिरमिवास्ततामसं, मन्दिरं प्रचुररत्नराजितम् ॥
लब्धचिन्तितपदार्थमुज्वलं, भूरिपुण्यमिव वैभवं स्थिरम् ।
सर्वरोगगणमुक्तदेहता, सर्वशर्म्मनिवहाधिवासिता ॥
ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः, सर्वयाचितविधानपण्डिताः ।
सर्वलोकपतिपूजनीयता, रात्रिभुक्तिविमुखस्य जायते ॥

शूकरी शंवरी वानरी घीवरी, रोहिणी मंडली शोकिनी क्लेशिनी ।
दुर्भगा निस्सुता निर्धवा निर्धना, शर्वरीभोजिनी जायते भामिनी ॥
बान्धवैरंचिता देहजैर्वन्दिता, भूषणैर्भूषिता व्याधिभिर्वर्जिता ।
श्रीमती ह्रीमती धीमती धर्मिणी, वासरे जायते भुक्तितः शर्मणी ॥
रात्रिभोजनविमोचिनो गुणा, ये भवन्ति भवभागिनां परे ।
तानपास्य जिननाथमीशते, वक्तुमत्र न परे जगत्त्रये ॥

इत्यनेकशास्त्रसम्मतरात्रिभोजनं परिहेयमिति भावः । उपधानं तपः, प्रणयं च प्रकर्षेण नयं न्यायं "उपधानं विषे गण्डौ प्रणयेऽपि नपुंसकमिति मेदिनी" । तद्विद्यतेऽस्यासावुपधानवान्, तपोनिष्टप्तदेहो नयवानपि, दुःखक्षयार्थं दुःखप्रणाशनार्थमारं प्रान्तभागं, पारं परं लोकं "पारं परतटे प्रान्ते इति मेदिनी"। "पारं मुत्ति इत्यभिधानप्पदीपिका बौद्धकोपः" । ऐहलोकं पारलोकं, अथवाऽऽरं मनुष्यलोकं पारं दूरवर्त्ति तीरं 'पारं परम्हि, तीरम्हि' इति अभिधानप्प०" । अथवा नरकादिकं स्वरूपतस्तत्प्रापणहेतुं ततश्च ज्ञात्वा सर्वमेव तत्, प्रभुर्भगवान् सर्ववारं बहुशो निवारितवान् त्यक्तवान् एतदुक्तं कथितं प्राणातिपातादिकं निषेधादिकं स्वतोऽनुष्ठाय परांश्च-स्थापितवान्, नहि स्वतोऽस्थितः परांश्च स्थापयितुमलमित्यर्थः स्वयमधर्म्मे स्थितः पराञ्जनान्धर्मे स्थापयितुमसमर्थः । स्तुतिकृतोक्तमिति । "ब्रुवाणोऽपि न्यायं स्ववचनविरुद्धं व्यवहरन्, परं नालं कश्चिद्दमयितुमदान्तं स्वयमिति । भवान्निश्चित्यैवं मनसि जगदाधाय सकलं, स्वमात्मानं तावद्दमयितुमदान्तं व्यवसिन." ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—[से] उस [उवहाणवं] तपस्वी [प्रभु] भगवान् महावीरने [दुक्खक्खयट्ठयाए] आठ प्रकारके कर्मरूपी दु खोंको दूर करनेकेलिए

[सराइभत्तं] रात्रि भोजन सहित [इत्थी] स्त्री-सभोगादि पापोंको [वारिया] छोडकर [सव्वं] तथा समस्त [आर] इस [लोग] लोकको (च) और [परं] परलोकको [विदित्ता] जानकर [सव्ववारं] अधिकाधिक प्रमाणमें समस्त परभावका [वारिया] निवारण किया ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो वक्ता जिस प्रवृत्तिका उपदेश करता है वह वैसा ही वर्तन भी करता है, तव ही उसके उपदेशका प्रभाव पडता है। महावीरप्रभुने मोक्ष-पानेका जो उपदेश किया उसमे वे स्वयं भी सलग्न रहे हैं। इसीसे कहा गया है कि-भगवान्ने आठ कर्मरूपी दु खोंका नाश करनेके लिए स्त्री-संसर्ग तथा रात्रिभोजन और १८ पापोंका स्वयं त्याग किया था। इसके अतिरिक्त घोर तप करते हुए इसलोक-परलोक अथवा मनुष्यलोक नरकलोकादिका रहस्य जानकर उन सवका त्याग किया ॥ २८ ॥

भाषा-टीका—भगवान् स्त्रीससर्ग और स्त्रीके पडौसमें रहने तकके कट्टर त्यागी थे। उन्होंने ब्रह्मचर्य्य पालन करनेके लिए नव वाड विशुद्ध शील पालन करना वताया है। यहा तक तो कहा है कि-जिस स्थान पर स्त्री वैठकर गई है, ब्रह्मचारी उस स्थान पर एक घटा तक विल्कुल न वैठे। क्योंकि उसके अशुद्ध और गर्म परमाणुओंका प्रभाव सुशीलके लिए हानिकर है। यही ब्रह्म-चारिणीके लिए भी समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त आप रात्रिभोजनके भी प्रत्यक्ष विरोधमें थे, क्योंकि रात्रिमें भोजन करनेसे त्रस जीवोंकी हिंसाका होना अनिवार्य सयोग है। इसी कारणसे रात्रिभोजन करना मना किया है।

रात्रिभोजन इस लिए वर्जित है कि रात्रिमे भोजन करनेवालोंके लिए हिंसाका निवारण करना अशक्य है। अतः हिंसाका त्यागी रातमें भोजन न करे। मगर जो जीव तीव्र राग भाव रखते हैं उनसे इसका त्याग नहीं हो सकता। क्योंकि जिसे भोजनसे अत्यधिक अनुराग होगा वह ही प्राणी रात दिन खाता पीता रहेगा। और जहा राग वन्धन होता है वहा प्रमत्तयोग व्यापार अवश्य रहता है। और प्रमत्त प्राणी हिंसा अवश्य करेगा।

पहुतसे यह भी कहते हैं कि यदि सदाकाल भोजन करनेमें हिंसा होती है तो दिनमें भोजन न करके रातको ही खाना चाहिए? क्योंकि इस प्रकार करनेसे सदैव तो हिंसा न होगी। मगर यह वात नहीं है, यद्यपि उदरके

भरने की अपेक्षा सब प्रकारके भोजन समान हैं। परंतु अन्नके भोजनमें जितना साधारण राग भाव है, उतना मास भोजनमें नहीं। मांस भोजन में विशेष राग भाव है। जितना घास खानेवाली गायको चारा मिलने पर खाते समय सामान्य रागभाव है, उतना थोडा रागभाव चूहे मारनेवाली बिल्लीको नहीं। बिल्लीको मास भोजनमें विशेष रागभाव है। क्योंकि अन्नका भोजन सहजमें मिल जाता है और मासका भोजन अतिशय कामादिककी अपेक्षा अथवा शरीरादिकके मोहकी अपेक्षा विशेष प्रयत्नसे तैयार किया जाता है। इसी तरह दिनका भोजन सब मनुष्योंको सहज ही प्राप्त होजाता है। इसीलिए उसमें साधारण रागभाव पाया जाता है, परन्तु रात्रि भोजनमें तो शरीरादिक व कामादिक पोषण करनेकी अपेक्षा विशेष रागभाव आता है। अत एव रात्रि-भोजन सर्वथा त्याज्य ही है।

इसके अतिरिक्त दीपकके प्रकाशमें बारीक जीव आखोसे ठीक २ नहीं दीखते, तथा रात्रिमें दीपकके प्रकाशसे नाना प्रकारके ऐसे छोटे बडे जीव घूमने लगजाते है, जो दिनमें कभी दिखलाई नहीं पडते। अत एव रात्रि भोजनमे तो प्रत्यक्ष हिंसा है, और रात्रिमें भोजन करनेवाला हिसासे कभी बच नहीं सकता। अत· जिस महाभाग्यशालीने रातमें आहार करना सर्वथा छोड-दिया है वही सच्चा अहिंसक है । रात्रि भोजनके छोडे विना अहिंसाव्रतकी सिद्धि नहीं हो सकती। अत एव कोई २ आचार्य इसे अणुव्रतमे भी गर्भित करते हैं।

सागारधर्मामृतमें कहा है कि-अहिसाव्रतका साधक रात्रि भोजनका त्याग अवश्य करता है। क्योंकि मूल व्रत की शुद्धि के लिए तथा अहिसाव्रतकी रक्षाके निमित्त रात मे चार प्रकार का आहारकरना तीनयोगसे धर्मी जीवोंके लिए वर्जित है।

पुराने विचारके मनुष्योंका यह भी मत है कि रात होनेपर भूत प्रेत आकर आहारको झूंठा करदेते हैं। और बहुतसे जीव ऐसे भी हैं जिनको रात्रिमे देखना कठिन है। यदि जूं आदि जीव भोजन मे खाया जाय तो जलोदर जैसे राजरोगोंका हो जाना कुछ असंभव नहीं। अत रात्रि भोजनका त्यागी ही उपरोक्त आपत्तियोंसे मुक्तहोकर इन्द्रिय विलासके जालसे छूट सकता है।

वनमालाने रात्रिभोजनके दोप की शपथ दिलवाई थी।

जैन रामायणमें कहा है कि-रामजी लक्ष्मण और सीताके साथ दक्षिणापथमे घूमते २ कूर्चनगरमें आ निकले। वहा महीधरराजाने अपनी वनमाला नामक पुत्रीका विवाह लक्ष्मणसे करदिया। कुछदिन रहकर वहाँसे जव तीनों विदा होनेलगे तव वनमाला भी लक्ष्मणके साथ चलनेलगी। परन्तु लक्ष्मणने उसे साथमें न चलनेकी सम्मति दी। यह सुन स्वामीके विरहमे कातरभाव होकर वोली कि नाथ! आप मुझे वापस कवतक आकर ले जाओगे? यह विश्वास न होनेसे साथ ही रहूंगी। लक्ष्मणने उसे विश्वास दिलानेके लिए प्राणातिपात जैसे अनेक पापकी कडी शपथ ली। तव उसने उन शपथोंपर असन्तोष प्रकट किया और रात्रिभोजनके पापकी शपथ दिलाई। लक्ष्मण वह शपथ लेकर रामके साथमें जामिला। उस समय रात्रि भोजनका पाप चार प्रकारकी हत्याओंसे भी अधिक समझा जाता था।

किसीने कहा है कि—सुपात्र-पुरुष दिनमें आते हैं वे रातको नहीं आ पाते, अत दिन अस्त होनेपर उनको आहार देनेसे वञ्चित रह जाता है। अत दानी और कल्याणकी कामना रखनेवालापुरुष रातमें भोजन करना त्याग देता है।

पुरुषोंके तीन प्रकार—उत्तम पुरुष मध्यान्ह समय भोजन करते हैं, मध्यम पुरुष दोवार खाते हैं, परन्तु जो सर्वज्ञके कहे हुए धर्मसे अनभिज्ञ हैं, वे पशुकी तरह दिनरात चरते रहते हैं।

दो घडी दिन चढनेतक रात्रि निकट रहती है, दो घडी दिन वाकी रहने पर रात्रि समीप में आ जाती है, अत. सवेरे का दुघडिया धर्माराधन और स्वाध्यायके लिए है। तथा साझके दुघडियेमें प्रतिक्रमणका आरभ होजाता है। अत· उन दो दो घडियोंको छोड कर जो आहार करते हैं वे प्रशंसनीय पुरुष हैं। क्योंकि उनका आधा जन्म-समय तो उपवास करने में ही व्यतीत हो गया है।

श्रावककी ११ प्रतिज्ञा (प्रतिमा) ओंमें छठवीं प्रतिज्ञा रात्रिभोजनके छोडने की होती है, जिसमें अन्न, पानी, खानेकी वस्तु मिठाई आदि, और पान सुपारी आदि स्वादकी वस्तुएँ तथा चाटनेकी वस्तुएँ आदि जो रातमें नहीं भोगता वह सब त्रसप्राणी जीवोंकी अनुकम्पा करनेवाला सच्चा गृहस्थ है।

छठा व्रत मुनिओंका रात्रि भोजन त्याग है—मुनिवर्ग तो महाव्रतोंको लेकर रात्रिभोजनसे सर्वथा विरक्त हो जाता है। दशवैकालिकमें उसका छठवां व्रत इस प्रकार किया गया है। और वह गुरुके सन्मुख यों प्रतिज्ञा लेता है कि–

भगवन्! में रात्रिभोजन करनेका त्याग करता हूं। और अन्न, पानी, खाद्य स्वाद्यादि पदार्थोंका रात्रि के समय न भोजन करूंगा, न कराऊंगा, न करने वालेकी अनुमोदना भी करूंगा। सारी उमरभरकेलिए तीनकरण और तीन योगोंसे अर्थात् मन-वचन-कायासे रातमें, आहार न करूंगा न कराऊंगा, तथा अनुमोदन भी न करूंगा। हे भगवन्! उस रात्रिभोजनके पापरूप दंडसे में पीछे हटता हूं, उसका प्रतिक्रमण करता हूं, अपने आत्माकी साक्षीसे उसे निंद्य समझता हूं, गुरुकी साखसे उसको घृणित समझता हूं, और आत्मासे उस पाप का त्याग करता हूं।

अहिंसा महाव्रतकी रक्षाकेलिए रात्रिभोजनका त्याग किया गया है– और वह भी इस जन्मके अन्तिम श्वास तक छोडा गया है।

उसे महाव्रत न कह कर व्रत इसलिए कहा है कि–महाव्रतोंकी तरह इसका पालन करना अधिक कठिन नही है। इसीकारणसे इसे मूलगुणमे न रख कर उत्तरगुणमें रखलिया है।

और इसे महाव्रतोंके पीछे इस लिए पढा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके समय मनुष्य समुदायका स्वभाव ऋजुजड और वक्रजड होता है। और मध्यके तीर्थंकरोंके समयके मनुष्योंकी बुद्धि ऋजुप्रज्ञ होनेसे इसका पाठ सुगमतया समझनेके लिए महाव्रतके पीछे जोड दिया है। इससे यह भी सिद्ध है कि महाव्रतोंकी भाति ही इस व्रतका पालन भी किया जाया करे। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी तथा मिश्रणामिश्रणकी दृष्टिसे इसके अनेक प्रकार है जैसे–द्रव्यसे अशनादि, क्षेत्रसे अढाई द्वीपमे, कालसे रातके समय और भावसे द्वेषरहित होकर इसका पालन करना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त और प्रकार भी पाए जाते है। जैसे कि–आहारादि रातमें ग्रहण करना और रातमें खाना, रातमे ग्रहण करना और दिनमे खाना, दिनमें ग्रहण करना और रातमे खाना, दिनमें ग्रहण करना और दिनमें खाना।

इन चारों भंगोंमें पहलेके तीन भंग साधुके लिए अशुद्ध अर्थात् ग्राह्य नहीं हैं, और अन्तिम शुद्ध भंग ग्राह्य है।

द्रव्य और भावकी अपेक्षासे भी रात्रिभोजनके चार भंग बन जाते हैं। जैसे–केवल द्रव्यसे, केवल भावसे, द्रव्य और भाव दोनोंसे, तथा द्रव्य और भावसे रहित। सूर्य्योदय या सूर्यके अस्तका सन्देह होनेपर भी भोजन किया जाता है, वह केवल द्रव्यसे रात्रि भोजन है भावसे नहीं है। "मैं रातमें भोजन करूं" ऐसा विचार हो जाय और खाया पिया कुछ नहीं है तब वह केवल भावसे रात्रि भोजन है, द्रव्यसे नहीं। बुद्धि काम करते हुए भी रात्रिमें आहार कर लेना, यह द्रव्य और भाव दोनोंसे है और न रात्रिमें भोजन करना न करने की अभिलाषा ही खडी करना यह द्रव्य और भावसे रहित भंग है।

बुद्धोंके आठ उपदेशोंमें भी रात्रिभोजन वर्जित है, जैसे–

१ 'पाणातिपाता' वेरमणि सिक्खापदं 'समा दियामि'।

२ 'अदिन्नादाना' वेरमणि सिक्खापदं समा 'दियामि'।

३ 'अब्रह्मचारिया' वेरमणि सिक्खापदं 'समादियामि'।

४ 'मुसावादा' वेरमणि सिक्खापद समादियामि।

५ 'सुरामेरय-मज्ज-पमादट्ठाना' वेरमणि सिक्खापद समादियामि।

६ 'विकालभोजना' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।

७ 'नच्चगीतवादित विसुकदस्सन माला गन्धविलेपनधारण, मंण्डन भूषणट्ठाना' वेरमणि सिक्खापद समादियामि।

८ 'उच्चाशयन, महाशयना,' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।

भावार्थ—मैं किसी प्राणधारी जीवका प्राण लेनेसे विरक्त होता हूं।

२ किसी दूसरेकी वस्तु विना दिए न लेनेकी प्रतिज्ञा करता हूं।

३ सब प्रकारके स्त्रीसमागम से वंचित होनेकी प्रतिज्ञा करता हूं।

४ सब प्रकारके झूठ बोलने की प्रतिज्ञा लेकर विरक्त होता हूं।

५ किसी प्रकारका मादक द्रव्य या गाजा-भाग-मदिरादिक सेवन करनेसे विरक्त होता हूं।

६ असमय अर्थात् दोपहरके बाद भोजन करनेसे बाज आकर विरक्त होता हूं [बौद्ध लोक दोपहर बाद कुछ नहीं खाते और रातमें भी नहीं खाते]

७ नाचने, गाने, ढोल वजाने आदि अनेक प्रकारके तमाशे देखने तथा फूल-माला, गन्ध, लेपनादिक लगाने तथा आभूषण शृगार करनेसे विरक्त होता हूं।

८ ऊचे और वडे आराम देनेवाले आसनो और वडी शय्याओमे शयन कर-नेका त्याग करता हूं। इत्यादि–छठवे नियममे रात्रि भोजन इनके यहा भी वर्ज-नीय है।

घोर अन्धकारमें आखो से कुछ नहीं दीखता, उस समय रातमे उडने-वाले जीवोंका भोजनमें पडजाना भी सभव है अत रातमे कौन खा-पी सकता है?

रात्रि भोजनके प्रत्यक्ष दोष—

"भोजनमे कीडी खाई जाने पर वुद्धिका नाश करती है, यूका खाई जाय तो जलोदर हो जाता है, मक्खीसे वमन हो जाता है, पेटमे मकडी जानेसे कोढ हो जाता है। काटा या लकडी का टुकडा गलेमे पीडा कर देता है। शाक भाजीमें बिच्छु आजाय तो वह हलक को डंक मारकर वेध देता है। गलेमे यदि बाल अटक जाय तो स्वरका भंग हो जाता है, रातमे खानेसे ये दोष प्रत्यक्ष हो जाते हैं।" "रातमे वरतन मल कर साफ करते समय कुथुवा आदि वहुतसे जीव मसले जाते हैं।" "रातमे प्राशुक वस्तुएँ भी न खानी चाहिए क्योंकि मोदक फलादिकों के जीव रातमे दिख नहीं सकते।" "सूर्यके तेजमे ऋग् यजु-साम, इस तरह तीनों वेदोंका तेज है यह वेदज्ञोंका कहना है, और इसी-लिए सूर्यका नाम त्रयीतनु पडा है, उसके किरणोंसे सव कुछ पवित्र हो जाता है, और समस्त शुभकर्म्म उसके प्रकाशमे हों, उसके अभावमे शुभकर्म जो भोजन पानादिक हैं वे न करने चाहिए।"

"वेदज्ञ कहते हैं कि आहुति, स्नान, श्राद्ध और देवार्चन दान आदि रात्रिमें विधान करने योग्य नही हैं। परन्तु रात्रिभोजन तो विल्कुल त्याज्य है।"

"दिनके आठवे भागमे सूर्यका प्रकाश मन्द हो जाता है, अत वुद्धिमानोंने उसे भी रात्रि समझा है। और उस समय भी भोजन वर्जनीय है।"

"देवता पहले पहरमें जीम लेते हैं, ऋषि मध्यान्हमें भोजन करते है, तीसरे पहरमे पितृलोकोंकी भोजन-निवृत्ति होती है, चौथे पहरमे दैत्य और दानव भोजनसे निवटते है। सन्ध्यामे यक्ष राक्षस खाते हैं, अत. हे युधिष्ठिर! सव देवताओंकी वेलाका अतिक्रम होनेसे रात्रि भोजन अभोजन है।"

आयुर्वेदमें रात में खाना पीना मना है—

"सूर्यके अस्त हो जाने पर हृदयकमल और नाभिकमल अतिशय सकुचित हो जाते है, अत रातमें भोजन न करना चाहिए, क्योंकि अनेक सूक्ष्म जीव खाए जाते हैं, और रातमें खाया गया भोजन स्वास्थ्यकर नहीं होता, और भलि भान्ति जाठरीमें जाकर उसका पाक–भी नहीं बनता।"

"जो दिनरात वे समय खाने पीनेमे ही मस्त रहता है वह विना सींग पूंछ का पशु समान है। अत. मनुष्यको दिनमे भी नियमित भोजी-भोजन सयमी होना चाहिए।"

दो घडी दिन चढे तक तथा दो घडी दिन रहने पर जो भोजन पान त्याग देता है, वह रात्रिभोजनके दोषोंको जाननेवाला पुण्यका भागी होता है।"

"जिसने दिनमें भोजन करनेका अभ्यास या रिवाज तो डाल लिया है, मगर प्रतिज्ञा नहीं ली है तो क्या उसे निवृत्ति रूप पुण्य नहीं मिलता? इसका उत्तर यह है कि–किसीने रकम तो कर्जमें देदी है मगर व्याज नही खोला है, अत वह वसूल करते समय व्याज लेनेका हकदार नहीं होता क्योंकि दुनियादारोंमे बोलीका मूल्य है।"

"जो दिनमें भोजन करना त्याग कर रातमे ही खाना पसद करता है, वह मानो माणिक्यको छोडकर काचके टुकडेको पसद करनेवाला जड बुद्धि है।"

"दिनके होते हुए भी जो कल्याणकी इच्छासे रात्रिमें भोजन करते हैं वे सुन्दर और बनाए हुए 'खेत' को छोड कर मानो खारीली–नमकीन रेहीदार भूमिमें धान्य बोना चाहते हैं।"

"रात्रिमें खानेसे उल्लू-काक-बिलाव-गिद्ध-राक्षस-साप-बिच्छू-गोह-चमगीदड-वागुल आदि अनेक बुरी योनिए पाते हैं।

"जो पुरुष रात्रि-भोजन त्याग देता है वह धन्यवादका पात्र है, क्योंकि वह अपनी आधी आयु उपवासमें बिता रहा है।"

"रात्रि-भोजनके त्यागमें जो जो गुण हैं, उनके विषयमें अधिक क्या कहा जाय उनके सब प्रकारके लाभ सर्वज्ञ ही जानते हैं।"

इसके अतिरिक्त अमितगति श्रावकाचारमें भी अनेक दोष दिखाए हैं,

जैसे—"रातमें राक्षस और पिशाच घूमते हैं, जीवोंके समूहको भलि प्रकार देखा नहीं जाता, जिस वस्तुका नियम किया हो उस पदार्थको भी अनजानपनसे खा सकता है, और उससमय घोर अन्धकार छाया रहता है।" "उस समय सुपात्र साधु महापुरुषोंका भी आना कठिन है, जिसमें गुरुदेवका सेवा सत्कार नहीं किया जा सकता, और सयमका निरन्तर विनाश हो जाता है, यहा तक कि छोटे मोटे जीव भी भक्षण कर जाता है।" "जिसमें दानादिक शुभकर्म-भी वर्जित है, लोकोंका आना जाना उस समय विल्कुल वंद हो जाता है, जो एकान्त दोपोंका घर है, जिसमें दिनका अभाव होजाता है, ऐसी रात्रिमें धर्मध्यानकुशल मनुष्य भोजन कभी नहीं करते।" "जो दुराशयके कारण जीभके स्वादके फेरमें पड कर रात्रिमें भोजन कर लेते हैं वे भूत प्रेतोंकी सगतिको न छोड सकेंगे।" "जिसने यम-नियम-सयमकी क्रियाओंकात्याग कर दिया है, और दिनरात खाने पीनेमें ही पिला पडता है, उसे बुद्धिमान विना सींग पूछका पशु ही समझते है। मगर उसके पशुओ जैसे खुर ही तो नहीं हैं" "बुद्धिमान् शारीरिक सुख और जीवरक्षाके लिए दिनमें भोजन करते है, रात्रिमें आरामसे सोते हैं, ज्ञानीजन समय विचार कर बोलते हैं, तथा आत्मशान्तिके लिए गुरु जनकी सत्सगति और सत् शास्त्रका श्रवण-मनन और निदिध्यासन करते है।" "गुणवान् और उत्तम पुरुप सदैव दिनमें एक वार भोजन करते हैं, मध्यम-पुरुप उज्वल दिनमें दो वार आहार करते हैं, और जो दिनरात निरन्तर चरते ही रहते है वे मनुष्योंमें अधम है।" "जो पुरुप दिनके आदि और अन्तकी दो घडियोंको छोड कर भोजन करते हैं, उनको कभी स्वास्थ्य विगडनेका भय नहीं रहता, वे इन्द्रियोंके घोडों को जीतकर ससार भरके कष्टसे एकदम हल्के हो जाते है।" "जो पुरुप अपने पास दीपक रखकर रातको खाते है मानो वे स्वभावसे नीचेकी ओर वहनेवाली नदीके जलको वृक्षकी चोटीके ऊपर पहुचाया चाहते है" "जो रात्रि भोजनको सुखदायक जीवन मानता है वह आगसे जले हुए वनको मानो फलदायक मानता है, मगर यह अनहोनी वात है।" "जो दिन और रातके खानेमें वरावर पुण्य और पापकी मान्यता रखते वे मानो सुख और दुखके प्रदाता प्रकाश और अन्धकारको समान देखते है।" "जो धर्मबुद्धिसे रातमें खाते है, वे निश्चयसे वृक्षोंकी पद्धतिको बढानेके-

लिए मानो वज्र और आगको फेंक रहे हैं।" "जो पुण्यकी अभिलाषासे दिन भर तो खूब भूखे रहते हैं, और रात पडने पर खाने लग पडते हैं वे फलदार लताको पुन फलकी इच्छासे मानो काट रहे हैं।" "जो पुरुष दो घडी दिन चढे तक सवेरे नवकारसी तप रखते हैं, और दो घडी दिन रहनेपर चरम प्रत्याख्यान कर देते हैं, वे एक मासमें मानो दो उपवासका फल प्राप्त कर लेते हैं।" "रातमें खानेवालोंको ये सामग्रिए मिलती है, उन्हें रोग और शोक युक्त तथा कलह करनेवाली राक्षसीकी तरह डरानेवाली स्त्री मिलती है, महापापसे उत्पन्न अन्तराय-दु ख देनेवाली कन्या प्राप्त होती है, पुत्र व्यसनी और काले सापकी तरह डरावने होते हैं, घरमें दरिद्रता रहती है, छिद्रान्वेषक नीचपुरुषकी लक्ष्मी की तरह सकट रूप अन्धकारसे परिपूर्ण घर होता है। नीच जातिमें पैदा होकर नीच कर्म करने पडते हैं। समभाव-सत्य-शील-निर्लोभताका अभाव रहता है, अन्यका अनिष्ट करनेवाले दुर्जनकी तरह अनेक दु ख देनेवाली व्याधिसे घिरा रहता है। समस्त दोषोंके समूहसे पीडित रहता है। इत्यादि अनेक दोषोंकी उत्पत्ति हो जाती है।"

रात्रि-भोजन त्यागने वालोंके गुण—"कमल पत्रके समान आखोंवाली, प्रिय वचन बोलनेवाली, मनोहर लक्ष्मीकी समानता रखनेवाली स्त्री उसे प्राप्त होती है, कला और विद्याकी खान, पुण्यकी पंक्तिकी तरह सुन्दर शरीरवाली, कन्या मिलती है।" "व्यसन प्रवृत्तिसे रहित चन्द्रमाकी भाति उसके घर निर्मल चारित्रवान् पुत्र होता है। इन्द्रके मन्दिरकी तरह अन्धकार रहित प्रचुर रत्नोंसे शोभित मकान मिलते हैं। स्थिर वैभव पाते हैं, वाञ्छित पदार्थ मिलते हैं, रोग रहित सुन्दर शरीर धर्मसाधनके लिए प्राप्त होता है, अधिक क्या कहा जाय उसे सब प्रकारके सुख समूह प्राप्त होते हैं।" "इनके अतिरिक्त ज्ञान-दर्शन और चारित्रकी आन्तरिक सम्पत्तिसे भी उनका आत्मा अलंकृत होता है, १४ ब्रह्माण्डोंका पति होकर सुर-असुर नर आदि के पूजनीय होते हैं, वैभवके पानेका इन्हें अहंकार भी नहीं होता, न्यायसे धन कमाते हैं, धर्मेश्वर होते हैं, रात्रि-भोजनसे विमुख और त्यागिओंको ये सामग्री संयोग मिलते हैं।" "वे बान्धवों द्वारा पूजित होते हैं, जिनकी पुत्रादि द्वारा खूब सेवा होती है, नीरोग होते हैं, लक्ष्मी जैसी धर्मिष्ठ बुद्धिमती स्त्री

मिलती है, जिसका स्वभाव धर्मात्मा और सच्चरित्रानुगामी होता है, ये सब सुख दिनमें यत्नपूर्वक भोजन करनेवाले सत्यवादीको मिलते हैं ।"

इत्यादि अनेक शास्त्र संमत होनेसे रात्रिभोजनको अप्राकृतिक और दूषित समझकर छोड देना चाहिए। प्रभु महावीर रात्रिभोजनके स्वयं त्यागी थे, और औरोंको भी त्याग करनेका उपदेश करते थे, तथा सदैव तपश्चरण किया करते थे, अपार नम्रता थी, उनकी वाणी अनन्तनयोसे शुद्ध थी। उन्होंने संसार और मोक्षका स्वरूप बताया था, सब प्रकारके आस्रवोंसे आप रहित थे, औरोंको भी आस्रवके पापजालसे सदा रोकते थे, क्योंकि जो स्वयं अधर्मी और अनीतिमान् हो वह औरोको धर्म और नीतिमे क्योकर स्थापन कर सकता है। जो स्वयं धर्मिजन-नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाला हो वही औरोंको पाप-कर्मके गढेसे निकाल सकता है। किसीने कहा भी है कि "जो स्वय तो न्याय की बात कहता हो, परन्तु न्यायके विरुद्ध आचरण करता हो तो वह औरोंपर अपना कुछ भी प्रभाव नही डाल सकता, क्योकि 'अदान्त' कभी इन्द्रिय निग्रह नहीं कर सकता।"

और प्रभुने इस लोक और परलोक को जानकर पापोसे सर्व्वथा निवृत्ति प्राप्त की थी ॥ २८ ॥

गुजराती अनुवाद–भगवान् महावीर प्रभु स्त्रीससर्ग अने स्त्रीनी नजीक रहेवाना पण कट्टर त्यागी हता, तेमणे नववाडविशुद्ध ब्रह्मचर्यनु पालन करवानुं कह्यु छे, जे स्थान पर स्त्री बेठी होय त्या ब्रह्मचारी एक कलाक सुधिमां नज बेसे, कारण के तेना अशुद्ध परमाणुओ सुशील पुरुषने हानिकर छे। एज ब्रह्मचारिणी माटे समजी लेवुं।

रात्रिभोजन त्यागी–

ते उपरान्त तेओ रात्रिभोजनना पण प्रत्यक्ष विरोधी हता, कारण के रात्रिभोजनथी त्रस जीवोनी हिंसा थाय छे, तेथी रात्रिमा भोजन करवानी मना करवामा आवी छे, हिंसा त्यागी रात्रिभोजन न ज करे, जे जीव तीव्र राग भाव सहित होय छे, ते तेनो त्याग करी शकतो नथी, कारणके जे जीवने भोजन पर अधिक प्रीति होय छे, ते रात्रे के दिवसे खातो पीतो ज रहेशे, ज्या राग बन्धन होय छे त्या प्रमत्तभाव जरूर रहे छे, अने प्रमत्तभावयुक्त प्राणी हिंसा अवश्य करे छे.

घणाओ एम पण कही दे छे के जो भोजन करवामां सदा काळ हिंसा थई जाय छे, तो दिवसे भोजन न करता रात्रेज खावुं जोइए, कारण के तेम करवाथी सदा काळनी हिंसा थती नथी, परन्तु ते वात ठीक नथी, जो के उदर भरणनी अपेक्षाए सर्व प्रकारना भोजन समान छे, पण शाकाहारी भोजनमां जेटलो साधारण अने सात्विक भाव छे, तेटलो मांस भोजनमां सात्विक-भाव नथी, मास भोजनमा विशेष रागभाव छे,। घास खानारी गायने घास खाती वखते जेटलो सामान्य रागभाव छे, तेटलो उंदर मारनारी हिंसक बिलाडीमा नथी, बिलाडीने मास भक्षणमा विशेष राग भाव छे। 'अन्न भोजन' सहजमा उत्पन्न थाय छे अने मळे पण छे, अने मास भोजन अतिशय कामादिकनी खातर अथवा शरीरादिकना मोहनी खातर विशेष प्रयत्न करवामा आवे छे, ए रीते दिवसनुं भोजन सर्व मनुष्योने सहजज प्राप्त थाय छे, तेथी तेमां साधारण रागभाव थाय छे, परन्तु रात्रिभोजनमा तो शरीरादिक तथा कामादिकना पोषणनी खातर विशेष राग भाव आवे छे, तेथी पण रात्रिभोजन त्याज ज छे।

दीपकदोष–वळी दीवाना प्रकाशमां झीणा जन्तुओ आखथी बराबर देखाता नथी, तेमज रात्रे दीवाना प्रकाशथी जुदी जुदी जातना एवा नाना मोटा जन्तुओ फरवा लागे छे, के जे दिवसे क्यारेय पण देखाता नथी, तेथी रात्रिभोजनमा प्रत्यक्ष हिंसा छे, ने रात्रिभोजन करनारा हिंसाथी पण क्यारेय बची शकता नथी,।

तेथी जे भाग्यशाळी रात्रि भोजननो सर्वथा त्याग करे छे, ते साचो अहिंसक छे, रात्रिभोजनना त्याग वगर अहिंसा व्रतनी सिद्धि नथी थई शकती। तेथी कोई कोई आचार्य तेनो प्रथम अणुव्रतमा समावेश करे छे।

सागारधर्मामृतमा कह्यु छे के अहिंसाव्रतनो साधक रात्रिभोजननो अवश्य त्याग करे छे, कारण के मूलव्रतनी शुद्धिने माटे तेमज अहिंसा व्रतनी रक्षा खातर रात्रे चार प्रकारनो आहार त्रिधोग करी धर्मी आत्माओ माटे वर्जित छे।

घणा विचारोना मनुष्योनो ए पण मत छे के रात्रि थता भूत प्रेत आवीने आहारने अभडावी दे छे, वळी पण जीवो एवा छे, के रात्रे ते जोवा बहु मुश्केल

पडे छे, जो जू आदि जीव भोजनमा खवाई जाय तो जलोदर जेवा राजरोगो थवानो संभव रहे छे, तेथी रात्रिभोजनना त्यागीज उपरोक्त आपत्तिओथी वचीने दूर रही शके छे, ।

वनमाळा नामनी राजकन्याए पोताना पति लक्ष्मणजीने रात्रिभोजनना दोषना सोगन खवडाव्या हता । जैन रामायणमा लखेलु छे के रामचन्द्रजी–लक्ष्मणजी अने सीतानी साथे दक्षिणमा फरता फरता कूर्चनगरमा आवी पहोंच्या, त्यां महीधर राजाए पोतानी वनमाळा नामे पुत्रीना लग्न लक्ष्मण साथे कर्या, थोडा दिवसो रह्या वाद त्याथी ज्यारे त्रणेय विदाय थवा लाग्या त्यारे वनमाळा पण लक्ष्मणनी साथे चालवा लागी, त्यारे लक्ष्मणे तेम न करवा कह्युं । ते साभळीने स्वामीना विरहथी दु·खी थता ते वोली के नाथ ! आप मने पाछा फरता लई जशो के केम, ते वावतनो मने विश्वास न होवाथी हुं आपनी साथेज रहीश, लक्ष्मण तेने विश्वास वेसे ते खातर प्राणातिपात जेवा पापनी भयंकर प्रतिज्ञा करी, त्यारे तेणे ते ते प्रतिज्ञाओ पर असन्तोष प्रगट करीने रात्रिभोजनना पापनी प्रतिज्ञा लेवडावी, लक्ष्मणे पण ते प्रतिज्ञा स्वीकारी लीधी अने ते राम साथे जई मल्या । ते समये रात्रिभोजननुं पाप चार प्रकारनी हत्याओथी पण वधु मानवामा आवतुं हतुं ।

कोईए कह्युं छे के–सुपात्र पुरुष दिवसे आवे छे, तेओ रात्रे आवता नथी, तेथी दिवस अस्त थता तेमने आहार देवानुं वनी शकतुं नथी, तेथी दान तथा कल्याणनी इच्छा पूर्ण राखनारा पुरुषो रात्रे भोजन करवानो त्याग करे छे ।

पुरुषोना त्रण प्रकार–

उत्तम पुरुष मध्यान्ह समये भोजन करे छे, मध्यम पुरुष वे वखत खाय छे । परन्तु जे सर्वज्ञ कथित धर्मथी अनभिज्ञ छे ते पशुनी पेठे दिवसने रात खाधा करे छे ।

वे घडी दिवस चडता सुधी रात्रि नजीक गणाय छे, वे घडी दिवस वाकी रहेता रात्रि समीप गणाय छे, तेथी सवारनी वे घडी धर्माराधन तथा [illegible]ध्या माटे छे, अने साजनी बे घडी प्रतिक्रमण माटे छे, तेथी ते वब्बे [illegible]ओने छोडी जे आहार करे छे, ते पुरुप प्रशंसनीय छे, कारण के तेम करवाथी जीवननो अर्धभाग तो उपवासमा व्यतीत थाय छे ।

श्रावकनी ११ प्रतिज्ञा (पडिमा) मा छट्ठी रात्रि भोजन त्यागनी छे। जे अन्न-पान-खादिम-स्वादिमनी वस्तुओनो उपयोग रात्रे करतो नथी, ते सर्व जीवोनी अनुकम्पा करवावाळो साचो गृहस्थ छे.

मुनिओनुं छट्ठुं व्रत-रात्रिभोजन त्याग छे,

मुनिओ तो रात्रिभोजननो सर्व्वथा त्याग करे छे, दशवैकालिकसूत्रमां रात्रिभोजनत्यागरूप छठुं व्रत आ प्रमाणे कह्युं छे, शिष्य गुरुनी समीपे प्रतिज्ञा करे छे-के हे भगवान्! हुं रात्रिभोजननो जीवन पर्य्यन्त सर्वथा त्याग करुं छु, हुं जीवन पर्य्यंत त्रण करण अने त्रण योगे करी अर्थात् मन-वचन अने काय द्वारा अन्न-पाणी-खाद्य स्वाद्य (मेवा विगेरे खोराक अने मुखवासादि) एम चारे प्रकारना आहार रात्रे करीश नहि, करावीश नहि, अने करनारने अनुमोदन पण आपीश नहि, पूर्वे जे रात्रि भोजन सम्बन्धी पाप कर्युं होय तेनाथी हु निवृत्त थाऊं छुं, आत्म साक्षीए ते पापने निंदु छुं, आपनी पासे ते पापने अवगणुं छुं, अने हवेथी ते पापकारी कर्मथी मारा आत्माने सर्वथा अलग करुं छु, इत्यादि।

अहिंसा महाव्रतनी रक्षाने माटे रात्रिभोजननो त्याग करवामा आवे छे, अने ते पण यावज्जीव सुधी त्याग करेलो छे,

तेने महाव्रत न कहता व्रत तरीकेज गणाव्युं छे, तेनुं कारण ए छे के महाव्रतोनी पेठे तेनु पालन बहु कठिन नथी, ते खातर तेने मूल गुणमा न गणता उत्तर गुणमा गणाव्युं छे,।

वळी महाव्रतोनी पाछळ तेने एटला माटे गणाव्युं के-प्रथम अने अन्तिम तीर्थंकरना समयना मनुष्योनो स्वभाव ऋजु जड वक्र जड अनुक्रमे होय छे, तेनो पाठ सुगम रीते समजाववाने माटे महाव्रत साथे तेने जोडी देवामां आव्युं छे, तेथी ए साबित थाय छे के महाव्रतोनी पेठे आ व्रतनुं पण पालन करवानुं छे।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावनी तेनज भिन्नभिन्न दृष्टिए तेना अनेक प्रकारो छे, जेमके द्रव्यथी अशनादि, क्षेत्रथी अढी द्वीपमां, कालथी रात्रे भावथी द्वेष रहित थईने तेनुं पालन करवु आवश्यक छे

ते उपरान्त बीजा पण प्रकारो छे, जेम के आहारादि रात्रे ग्रहण करवाने रात्रे खावा, रात्रे ग्रहण करवां ने दिवसे खावा, दिवसे ग्रहण करवा ने रात्रे खावां, दिवसे ग्रहण करवा ने दिवसे खावा, आ चार प्रकारमानां पहला त्रण साधुने माटे अशुद्ध अर्थात् अग्राह्य छे, ने छेवटनो प्रकार शुद्ध अने ग्राह्य छे ।

द्रव्य अने भावनी अपेक्षाए पण रात्रिभोजनना चार भांगा थाय छे, जेमके केवळ द्रव्यथी, केवळ भावथी, द्रव्य अने भाव बंनेथी, द्रव्य अने भावथी रहित, । सूर्योदय अथवा सूर्यास्तनो सन्देह पडवा छता पण भोजन करवामा आवे छे, ते केवळ द्रव्यथी रात्रिभोजन छे, भावथी नहि, । "हुं रात्रे भोजन करीश" एवो विचार थाय, ते केवळ भावथी रात्रिभोजन छे, भले पछी काइ खाधुं पीधुं न होय, जाणवा छतां पण रात्रे भोजन करवुं, ते द्रव्य अने भाव बंनेथी छे, अने रात्रे भोजन न करवुं तेमज इच्छा पण न करवी, ते द्रव्य भाव बंनेथी रहित प्रकार छे ।

बौद्ध मतमां रात्रिभोजन वर्जित–

बुद्धना आठ उपदेशोमा रात्रिभोजन वर्ज्य गण्युं छे, जेमके–

(१) कोई प्राणधारीनो प्राण नहि लेवानी हु प्रतिज्ञा करुं छुं.

(२) अदत्तादान (चोरी) नो त्याग करुं छु.

(३) सर्व प्रकारना स्त्रीसमागमना त्यागनी प्रतिज्ञा करुं छुं

(४) सर्व प्रकारना असत्य वचनथी विरमु छुं

(५) कोई पण प्रकारना मादक द्रव्य गाजो, भांग, मदिरादिकना न सेवननी प्रतिज्ञा करुं छुं.

(६) असमय–अर्थात् बपोर पछी भोजन करवाथी विरमुं छु, (बौद्धो बपोर पछी तेमज रात्रे पण काई खाता नथी.)

(७) नाच-गान-ताल आदि अनेक प्रकारना तमाशा जोवानी क्रियाथी तथा फूलमाळा-गन्ध विलेपन आदि लगाडवाथी तेमज शणगार पहेरवाथी विरमु छु ।

(८) ऊंचा तेमज मोटा आराम देनारा आसनो तेमज मोटी शय्याओ पर सुवानो त्याग करुं छु, वगेरे ।

आमाना छट्ठा नियममां रात्रिभोजननो पण त्याग आवी जाय छे । अने अंधारामा आंखोथी कइ देखातुं नथी ते वखते रात्रे उडनारा जीवडाओनुं भोजनमा पडवानुं संभवित छे, तेथी रात्रे कोण खाय पीए ?

रात्रिभोजनना प्रत्यक्ष दोष-

"भोजनमा कीडी खवाई जाय तो बुद्धिनो नाश थाय छे, जू खवाई जाय तो जळोदर थई जाय छे, माखीथी वमन थई जाय छे, करोळिओ आवी जाय तो कोढ थाय छे। कांटो तेमज लाकडानो टुकडो आवी जाय तो गळामा पीडा करे छे, शाक भाजीमा वींछी आवी जायतो तेना डंखथी बहु पीडा थाय छे, गळामा वाळ अटकी जाय तो स्वर भंग थई जाय छे, रात्रि भोजनथी आवा अनेक प्रत्यक्ष दोषो थाय छे," । "रात्रे वासणो साफ करती वखते कुंथुवा आदि घणा जीवडाओनो नाश थई जाय छे ।" "रात्रे प्राशुक वस्तुओ पण न खावी जोइए, कारणके मोदक, फळादिना जीवो रात्रे देखी शकाता नथी ।" वेदमा "वेदज्ञो कहे छे के-सूर्यना तेजमां ऋग्-यजु तथा साम एम त्रणे प्रकारना वेदोनु तेज छे। अने तेथी सूर्यनुं नाम त्रयीतनु पड्यु छे, तेना किरणो थी वस्तु पवित्र बनी जाय छे, एटले समस्त शुभ कर्म तेना प्रकाशमा करवां जोइए, तेना अभावमा नहि, ।" "वेदज्ञ कहे छे के आहूति-स्नान-श्राद्ध-देवार्चन दानादि रात्रिमा करवा योग्य नथी, रात्रिभोजन तो बिल्कुल त्याज्य छे," "दिवसना आठमा भागमां सूर्यनो प्रकाश मन्द थई जाय छे, तेथी बुद्धिमानो तेने पण रात्रि गणे छे, अने ते समये पण भोजन वर्ज्य छे ।" "देवता पहेले पहोरे जमी ले छे ऋषि मध्यान्ह समये जमे छे, त्रीजा प्रहरे पितृलोको भोजन पानथी निवर्ते छे, चौथा प्रहरमा दैत्य दानव जमी ले छे, सन्ध्यामा यक्षराक्षस खाय छे, हे युधिष्ठिर ! सर्वदेवताओनो समय अतिक्रमी जवाथी रात्रिभोजन अभोजन छे, ।

आयुर्वेदमां रात्रे खावा पीवानी मनाई छे-

"सूर्यास्त थता हृदय कमळ तेमज नाभि कमळ अतिशय संकोचाई जाय छे, तेथी रात्रे भोजन न करवु जोइए, अने रात्रिमा सूक्ष्म जीव खवाइ जाय छे रात्रे खाधेलु भोजन तन्दुरस्तीने नुकसान करे छे, तेमज तेनु पाचन बराबर थई शकतु नथी ।" "जे दिवसे ने रात्रे अमनचे खावा पीवामा मस्त रहे छे, ते शींग-पूछ वगरना पशु समान छे, तेथी मनुष्योए दिवसे

पण नियमितभोजी तेमज भोजन संयमी बनवुं जोइए ।" "सत्पुरुषो बे घडी दिवस रहे त्यारे वालु करे छे अने बे घडी दिवस चढ्या पहेला गमे ते जातनो आहार करे नहि, ते रात्रि भोजनना दोषथी बची जाय छे।" "जेणे दिवसे भोजन करी लेवानो रिवाज पाळ्यो होय पण प्रतिज्ञा न करी होय तेने तेनु निवृत्तिरूप पुण्य मळतुं नथी, कारण कोइए रकमतो आपी पण व्याजनु नाम पाड्युं नथी, तेथी ते वसुल करती वखते व्याजनो हकदार नथी, कारणके दुनियादारोमा पण बोलनुं मूल्य छे।" "जे माणस दिवसमा भोजन करवानुं मुकीने रातमाज खावु पसंद करे छे, ते अज्ञ माणस चळकता [illegible] छोडी दईने काचना टुकडाने पसंद करनार जेवो खरे [illegible] छे, ।" "दिवस होवा छता कल्याणप्राप्ति इच्छनार मनुष्य जे [illegible] भोजन करे छे, ते खरेखर एक सारी रीते खेडेला खेतरने छोडी दईने [illegible] भूमिमा धान्य वाववा चाहे छे, एम समजवुं।" "[illegible] भोजन करवाथी घुवड, कागडा, बिलाडा, गीध, राक्षस, सूवर, साप, [illegible] आदि योनिओ मनुष्यने प्राप्त थाय छे, ।" "जे व्यक्ति रात्रि [illegible] त्याग करे छे ते धन्यवादने पात्र छे, केमके ते पोतानी अर्धा [illegible] उपवासमा गाळे छे।" "रात्रि भोजनना त्यागमा जे जे गुण रहेला [illegible] विवेचन करवुं, सर्वज्ञ होय तेज आ बाबतमा बधुं [illegible]"

रात्रि भोजन करीले छे तेओ भूतप्रेतनी संगतिने छोडी शकता नथी।" "जेमणे यम नियम संयमनी क्रियाओनो त्याग करी दीधो छे अने रात दिवस खावा पीवामाज मस्त रहे छे, तेमने बुद्धिमानो शींगडा के पूछ वगरना जनावर तेमज खरी वगरना पशुओनी उपमा अर्पे छे।" "संस्कारी विद्वानो सुख मेळववा माटे दिवसे भोजन करे छे, रात्रे सुई जाय छे, ज्ञानी पुरुष समय विचारी बोले छे, तेमज आत्मानी शान्ति माटे गुरुजननी सत्समगति-सत्शास्त्र श्रवण-मनन-निदिध्यासन विगेरे समाचरीने सेवा चाकरी करे छे।" "गुणवान् तेमज उत्तम पुरुष हमेशा दिवसमा एकज वार भोजन करे छे, मध्यम पुरुष धोळा दिवसमा बे वखत आहार करे छे, अने जे दिवस अने रात हमेशा भोजन कर्या करे छे ते नराधम छे।" "जे पुरुष दिवसनी पहेली तेमज छेल्ली घडी छोडी वचेना दिवसना भागमा भोजन करे छे ते इन्द्रियोना दोषोने जीती संसार ना भारथी हलको थई जाय छे।" "जे पुरुष पोतानी पासे दीवो राखीने रात्रे भोजन करे छे, ते पुरुष कुदरती रीते नीचाण तरफ वहेनारी नदी ना नीरने जाणे वृक्षना शिखर सुधी पहोंचाडवा चाहतो होयनी? (अर्थात् नदीनु पाणी वहेतु वहेतुं कदी पण वृक्षना शिखरे पहोंची शकतु नथी तेम तेवा पुरुषनो आत्मा अधोगति सिवाय उच्चगतिने प्राप्त थई शकतो नथी)"। जे रात्रि भोजनने सुखदायक जीवन माने छे, ते आगथी बळेल वनने फळदायक माने छे, परन्तु तेम बनवु असंभवित छे।" "जे दिवस तेमज रात्रिना भोजनने समान गणे छे, तेओ सूर्य तेमज दुःखना देनार प्रकाश तेमज अन्धकारने समान गणे छे।" "जेओ रात्रिभोजनमाज धर्म माने छे तेओ खरेखर वृक्षोनी हारमाळा वधारवा माटे पत्र तेमज आग फेंकी रह्या छे, (वृक्षोनी हारमाळा वधारवा माटे जळ सिंचननी जरूर छे तेने बदले पत्र प्रहार या अग्नि कोई फेंके ते वृक्ष वधवाने बदले जेम नाश पामे छे, तेमज रात्रि भोजनथी धर्म वधवाने बदले नाश पामे) "जेओ पुण्यनी अभिलाषाथी आखो दिवस भूख्या रहे छे, अने रात्रे खावामाज मस्त रहे छे तेओ पहेला वृक्षोने तेमज लताओने बाळी नाखी पछीथी फळोनी वांछना करे छे एम समजवु। जे मनुष्यो बे घडी दिवस चढ्या सुधी नवकारशी तप करे छे, अने बे घडी दिवस बाकी होय त्यारे चौविहार करे छे तेओ साक्षा-

वे उपवासनुं फळ प्राप्त करे छे, एम समजवुं । "रात्रिभोजन करनारने नीचे लख्या मुजब सामग्री प्राप्त थाय छे, रोग शोक अने कलह करनारी, राक्षसी माफक भय उपजावे तेवी स्त्री मळे छे, तेमज महापापथी पेदा थयेल अन्त-राय दुःख देनारी कन्या प्राप्त थाय छे, व्यसनी तेमज काळा सापनी माफक बिहामणा पुत्र थाय छे, घरमा दरिद्रता तो सदा रह्याज करे छे ।" नीच जातिमा जन्म धरी नीच कर्मो करवा पडे छे, शील-निर्लोभपणु-समभाव-आदि गुणो नो अभाव रहे छे, बीजानुं अनिष्ट करनार दुर्जननी माफक ते केटलीए जातनी व्याधिथी घेराएलो रहे छे, सर्व दोषोना समूहथी पीडायेलो आप्रमाणे अनेक दोषोनी उत्पत्ति थई जाय छे ।

रात्रि भोजननो त्याग करनारने नीचे मुजब फळनी प्राप्ति थाय छे, कमळपत्रसमान आंखोवाळी, प्रियवचन बोलनारी, लक्ष्मीसमान सुन्दर स्त्री प्राप्त थाय, तेमज विद्या कलामा निपुण पुण्यनी पंक्ति माफक सुन्दर शरीर अने निर्मळ चरित्रवाली तेने कन्या प्राप्त थाय छे ।" कोई पण जातना व्यसनथी रहित तेमज चन्द्रमाना जेवा पवित्र कर्म वाळा पुत्र मळे छे, इन्द्रना भवनी माफक उजासवाळुं मणिरत्नोथी भरपूर सुशोभित मकान प्राप्त थाय छे, । स्थायी वैभव प्राप्त थाय छे, मनोवाछित फळ मळे छे, नीरोगी सुन्दर शरीरनी प्राप्ति थाय छे, ए प्रकारे बधी रीतथी सुख प्राप्त थाय छे ।" "ते उपरान्त ज्ञान-दर्शन-चरित्रनी पण सम्पत्तिने पामे छे, आखा विश्वनो पूजनीय पति बने छे, रात्रिभोजनथी दूर रहेनार तेमज त्यागीओने आ समृद्धि प्राप्त थाय छे ।" अने–"रात्रे आहार करवाथी भूंडणी-भीलडी-वादरी-माछली-गळामा रसोडी(गिल्लड)वाली-रोहिणी-कुत्तरी-शोक-क्लेशवाळा तेम ज खोड खापणवाळा पुत्र जणनारी विधवा धनहीना एवी एवी अनेक कष्टकर योनि प्राप्त थाय छे ।" "तेओ (रात्रि भोजननो त्याग करनारा) बन्धुगणमा पूजनीय मनाय छे, पुत्रो तेमनी सेवा करे छे, लज्जा अने सयमरूपी आभूषणथी युक्त रहे छे, शरीरे नीरोगी होय छे, लक्ष्मी जेवी अने बुद्धिमती तथा शरमाळ स्त्री मळे छे, तेमनो स्वभाव पण धर्मात्मा माफक होय छे, दिवसे भोजन कर-नारने आवा सुखनी प्राप्ति थाय छे ।"

आवा अनेक शास्त्रोना प्रमाण साभळीने रात्रिभोजननो त्याग करवो जोइए। प्रभुए पण रात्रिभोजननो त्याग कर्यो हतो। तपश्चरण नम्रता अने विनय साचवता हता, तेमा नम्रता तो अपार हती, तेमनी वाणी अनन्त नय युक्त, तेमज शुद्ध हती, ते वाणी थी ससार अने मोक्षनुं स्वरूप समजाव्युं हतुं, बधा आस्रवोथी पण रहित हता, बीजाओने पण आस्रव अने पापथी रोकता, केमके जे पोते अधर्मी अने अनीति वाळो होय तो ते बीजाओने धर्म अने नीतिमा केम स्थापन करी शके, अने जो पोते धार्मिक अने नैतिक जीवन व्यतीत करनार होय तेज बीजाने पापथी के आस्रवरूप खाडाथी बहार काढी शके छे, कारण के कोइए कह्युं पण छे के जे स्वयं तो न्यायनी वात करतो होय अने न्यायथी विरुद्ध आचरण करतो होय तो ते बीजाओ ऊपर पोतानी कांई पण छाप पाडी शकतो नथी, जे पोते अ-दान्त होय ते क्यारे इन्द्रिय निग्रह करी शके? परन्तु प्रभुतो पोते दान्त हता, उपधानवान् हता, तप वडे शरीर शुद्ध हतु, प्रभु आ लोक तेमज परलोकनु ज्ञान मेळवी पापमय प्रवृत्तिथी सदाने माटे दूर रह्या हता।

मूल—

सोच्चाय धम्मं अरिहंतभासियं,
समाहियं अट्ठपदोविसुद्धं।
तं सद्दहाणाय जिणा अणाऊ,
इंदा व देवाहिवा आगमिस्संति; त्ति बेमि॥२९॥

संस्कृतच्छाया—

श्रुत्वा च धर्ममर्हद्भाषितं, समाहितमर्थपदोपशुद्धम्।
तं श्रद्दधाना जना अनायुष, इन्द्रा वा देवाधिपा आगमिष्यन्ति॥२९॥
(इति ब्रवीमि)

सं० टीका—अधुना श्रीसुधर्म्मस्वामी तीर्थंकरगुणान् प्रख्याप जम्बू-स्वामिनमाह, श्रुत्वा च, दुर्गतिवारणाद्धर्म्मः, श्रुतचारित्ररूपमर्हद्भगवतिम-र्हत्कथित, सम्यगाख्यान=सुष्ठुप्रणिगदित, चार्थपदैः, अर्थैः प्रयोजनैः कारणैरभिधेयैर्वा "अर्थो विषयार्थनयोर्धनकारणवस्तुषु, अभिधेये च शब्दानां निवृत्तौ च प्रयोजने इतिमेदिनी ।" अथवा, "अत्थो पयो-जने सद्दाभिधेय्ये वुद्धिय्यं धने, इत्यभिधानप्पदीपिका ।" पदैर्वानेके शब्दैः, "पद शब्दे च वाक्ये च व्यवसायप्रदेशयोरिति । मेदिनी ।" निर्वाणैर्वा, "अप्पवग्गो-विरागो च पणीतं अच्चुत पदं इत्यभिधानप्प-दीपिका ।" अथवा निमित्तः, "निमित्तं कारण ठाण पद, इत्यभि-धानप्पदीपिका ।" वा परित्राणे. समारम्भपकर्मणो वा, "पद ठाने परित्ताणे निब्बाणम्हि च कारण इत्यभिधानप्पदीपिका ।" स्थैर्यैश्चिन्है स्थानैरुद्यमैः वार्णर्वाणसदृशैः शब्दैः सुतिङन्तरूपैः प्रदेशैः श्लोकपा-दैर्वाः "पदो चरण च वा इत्यभिधानप्पदीपिका ।" उपशुद्ध चोपसा-मीप्येन शुद्धं सितं वा पूतं निर्म्मल, "सुद्धो केवलपूतेसु" "सुचि शुद्धे सिते पूते इत्यभिधानप्पदीपिका ।" वा प्रयोजनैरान्तराशयैर्विवृ-त्तिभिर्वा हेतुभिरभिलापैः शुद्धं दोषराहित्यमित्यर्थः । धर्म्म श्रद्दधाना जनास्तथाऽनुतिष्ठन्तो नरा अनायुषोऽपगतायुकर्मता युक्ता इति शेषा कर्मरहिताः सन्तः सिद्धा मोक्षगता भवेयुरिति भाव । सायुषश्चेन्द्रा अहमिन्द्रा देवाधिपा आगमिष्यन्ति—त पद प्राप्स्यंतीति भाव । इति शब्दो ब्रवीमीति ॥ २९ ॥

नाना निबन्धेभ्यःसारमुद्धृत्य श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रगतवीरस्तुति-नामाषष्ठाध्यायस्यातिविस्तृतगभीरदुरूहतत्वपदार्थभक्तिभावावलेखाधति-

सरलतया बुबोधयिषया ज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घीया नाम्नी संस्कृतटीका-हैन्दवीटीका-गुर्जरभाषाटीका यथाशक्ति-मतिरचिताऽत्र प्रमादादिनाऽथवाऽल्पधिया च भाविनीं मदीयां स्खलना संशोधयन्तस्तत्त्वपदार्थनयनिक्षेपसम्बन्धिभावं प्रदर्शयन्तो धीरा मा चेदनुग्रहणीयुस्तर्हि बहुलजनोपकारोद्योगसन्तुष्टेन श्रीज्ञातृपुत्र-महावीरप्रभुशासनसङ्घेनानुग्रहतोऽहमिति सम्भावयेयमिति प्रार्थयते श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घानुयायिना लघुतमः पुष्पभिक्षुः ॥ इति श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घान्तर्गतमुनिफकीरचन्द्रशिष्येण पुष्पभिक्षुणा विरचिता वीरस्तुत्याः संस्कृत-भाषाटीका च समाप्तेति शम् ॥

अन्वयार्थ—[समाहित] सम्यक् प्रकारसे कहे हुए [य] और [अट्ठ-पदोवसुद्धं] अर्थ और पदोंसे निर्दोष [अरिहंतभासियं] अर्हन् प्रभुद्वारा उपदिष्ट [तं] उस [धम्मं] धर्मको [सोच्चा] सुनकर [सद्दहाणा] श्रद्धा प्रतीति करनेवाले [जणा] मनुष्य [देवाहिव] देवोंके स्वामी [इंदा] इन्द्र [य] और [अणाऊ] आयुरहित सिद्ध परमात्माके पदको [आगमिस्संति] प्राप्त होंगे ॥२८॥

भावार्थ—श्रीसुधर्माचार्य अपने अन्तेवासी शिष्यके प्रश्नोंका इसप्रकार उत्तर देते हुए यों उपसंहार करते हैं कि अर्हन् भगवान् द्वारा कहे गए धर्मका जो पूर्ण श्रद्धान करते हैं वे या तो आयुरहित और कर्म रहित होकर मुक्तिको प्राप्त करते हैं या इन्द्रादि पदको पाते हैं या पाएंगे ॥ २८ ॥

भाषाटीका—सुधर्माचार्य श्रीतीर्थंकर प्रभुके गुणोंका वर्णन करते हुए अपने जम्बूनामक अन्तेवासी शिष्यसे कहते हैं कि—जो भव्य दुर्गतिमें पड़नेसे बचानेवाले ज्ञान और चारित्ररूप धर्मको अर्हन्त भगवान्ने अर्थ एवं शब्द परिणामरूप [illegible] निरूपण करते हैं, वे आयुष्यादि सब कर्म बन्धनोंसे मुक्त होकर या तो अपुनरावृत्ति-निर्वाणधाम (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं या [illegible] स्थानमें [illegible] होनेवाले 'अहमिन्द्र' होते हैं, अथवा

असख्य सुरासुरोंका आधिपत्य भोगनेके लिए इन्द्रपदको प्राप्त करते हैं, यह मैंने अर्हन् भगवान्से जैसा सुना है, वैसा तुझे कहकर सुनाया है* ।

---

* इस गाथामे 'अरहंत' यह प्राकृत भाषाका शब्द है जिसका सस्कृत अनुवाद 'अर्हत्' होता है, कोई २ 'अरहोन्तर' 'अरथान्त' पद भी वताते हैं। यहां इन सबके अर्थोंपर यदि विचार किया जाय तो आशय वही निकलता है जो अर्थ 'अर्हत्' शब्दका होता है।

(१) 'अर्ह' धातुका अर्थ पूजा या योग्य अर्थ होता है, इस अर्थके अनुसार अतिशय वन्दनीय-सेवनीय-स्मरणीय होनेके कारण वे 'अर्हन्' (अरहंत) कहलाते हैं। क्योंकि इनके पाचो कल्याणकोंमे अनेक देवों और ६४ इन्द्रोंद्वारा अनेक विलक्षण सेवा सम्वन्धी घटनाएँ होती हैं, और वे मनुष्योंकी अपेक्षा अतिशययुक्त महापुरुष होते हैं, और अतिशायक होनेके कारण उनका यह 'अरहंत' नाम सार्थक तथा यथार्थ है। जैसा कि 'धवल' ग्रन्थमे भी कहाहै कि–

अतिशयभावपूजाऽर्हत्वादर्हन्तः, स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयादर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः ।

(धवलसिद्धान्त)

अरिहंति वंदणनमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं,
अरिहंति सिद्धिगमणं 'अरहंता' तेण उच्चंति ।

(मूलाचार)

भावार्थ—जो भाव पूजाके योग्य तथा अनुकरणीय महाआदर्शपुरुष हों उनको 'अर्हन्' कहते हैं । जिनके जीवनमें अनेक दिव्य घटनाएँ विलक्षण रूपसे परिघटित होती हैं, जैसेकि– स्वर्गसे अवतरण, जन्मोत्सव, परिनिष्क्रमण (दीक्षा ग्रहण), केवलज्ञानकी उत्पत्ति, मोक्षारोहण आदि घटनाओके होते समय देव-असुर-मानव इत्यादिके द्वारा महान् उत्सवका मनाना, या मनुष्योंको उनका अनुकरण करते हुए उनके समान आत्मज्ञ एवं सर्वज्ञ होना, इत्यादि महानताके योग्य होनेसे वे 'अर्हन्' कहलाते हैं ।

जो वन्दना और नमस्कारके योग्य हैं, पूजा और सत्कारके योग्य हैं, सिद्धि (मोक्ष) गमनके योग्य हैं, अत एव वे 'अरहंत' कहे जाते हैं।

(२) 'रहस्' का अर्थ एकान्त होता है, यानी समस्त पदार्थोंको-निकटवर्ता-दूरवर्ती-सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थोंके अनन्त समूहको प्रत्यक्षसे हथेलीपर रक्खे हुए आमलेकी तरह जो स्पष्ट जानते और देखते हैं। अर्थात् जिसे गुप्त या प्रगट एकान्त कुछ भी अप्रगट नहीं है। इसलिए 'अरहोऽन्तर' नाम यथार्थ है। जैसे कहा भी है कि—

"न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य, सकलसन्निहितव्यवहितस्थूलसूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वादित्यरहोऽन्तरः।" (स्थानाङ्गसूत्रम्)

भावार्थ—जिसके लिए एकान्त-गोपनीय पदार्थ कुछ भी न हो, संसारभरके छोटे बडे सब पदार्थोंका जो साक्षात्कार करनेवाला हो वह 'अरहोऽन्तर' कहलाता है।

"अथवा 'अविद्यमानं' रह एकान्तरूपो देशोऽन्तश्च मध्य गिरिगुहादीना सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां तेऽरहोन्तर." (भगवतीसूत्र)

भावार्थ—जिसे सर्वज्ञताके कारण सर्ववस्तु समूह गत सर्व प्रकारके पदार्थोंका एक बहुत बडा समूहगत प्रच्छन्नताका अभाव हो, इस प्रकारका रह (एकान्तरूप प्रदेश) नहीं है, अर्थात् उनके अनन्तज्ञानके सन्मुख कोई ऐसा प्रदेश और वस्तु समूह नहीं है, जिसके वे ज्ञाता और दृष्टा न हों, वे तो अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनके द्वारा संसारके पूर्ण रहस्य को जानते हैं, इसीसे पहाडोंकी गुफा आदिका अन्तर (मध्यभाग) तकका सम्यग् ज्ञान अपने सर्वज्ञत्व द्वारा जान लेते हैं, क्योंकि वे सर्वत्र तथा एकान्त और मध्यप्रदेशके जाननेवाले हैं, अतः 'अरहोऽन्तर' नाम सार्थक ही है।

"अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतः, अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते 'अरथान्ताः'

(भगवतीसूत्र)

भावार्थ—जिनका आत्मारूपी 'रथ' अप्रतिहत शक्तिवाला होनेसे कहीं रुक नहीं सकता, अर्थात् तीनलोक और अलोकको भी जानता है, अत. उसकी 'अरथान्त' सज्ञा इसी कारण सार्थक मानी गई है ।

(४) "अरहन्त" शब्दका यह अर्थभी निकलता है कि-"राग-द्वेषके कारणभूत-त्रिलोकवर्ती अनन्त पदार्थोंके ज्ञाता-दृष्टा होनेपर भी जो किसी पदार्थमे आसक्ति नहीं रखता, वीतराग स्वभावशील है, इससे 'अरहन्त' कहलाते हैं । जैसे-

"क्वचिदप्यासक्तिमगच्छत्सु वीतरागत्वात् प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञेतरविषयसम्पर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्व-स्वभावमत्यजन्तोऽर्हन्तः ।"

(भगवतीसूत्रम्)

इसके अतिरिक्त "अरिहत" पाठ भी प्रचलित है जिसके अनुसार यह अर्थ होता है कि अरि-कर्मशत्रुका नाश करनेसे अरिहत कहे जाते हैं, जैसे कहा है कि-

"अरिहननादरिहन्तृ (तः) नरकतिर्यङ्मानुषप्रेतावासगताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहस्तस्यारेर्हननादरिहन्तः ।"

(धवलसिद्धान्त)

"मोहरज-अंतराय-हणण गुणादो य णाम अरिहंतो"

(मूलाचार)

भावार्थ—"(कर्मरूप) शत्रुका हनन करनेसे 'अरिहंत' कहलाते हैं, क्योंकि—नरक-तिर्यंच-मनुष्य और देव इन चारों गतिओंकी समस्त दु:खप्राप्तिका निमित्त यह कर्मशत्रु ही है, जिसमे भी मोहशत्रु सबसे बलवान् है अत: उसको हनन करनेसे 'अरिहत' नाम सार्थक है ।"

"मोह रज और अन्तराय कर्मका हनन करनेसे 'अरिहंत' नाम सार्थक है।"

राग दोस कसाये य, इंदियाणि य पंच य।
परिसहे उवसग्गे, णासयंतो णमोरिहा॥

(मूलाचार)

भावार्थ—राग-द्वेष और चारों कषाय तथा पाच इन्द्रियोंके २३ विषयोंका और २२ परिषह एवं उपसर्गके विनाश करनेसे भी 'अरिहंत' कहे जाते हैं।

राग दोस कसाए य, इंदियाणि य पंच वि परिसहे।
उवसग्गे नासयंता, नमोरिहा तेण वुच्चति॥ ९९८॥

(विशेषावश्यक भाष्य)

इंदिय-विसय-कसाए-परिसहे वेयणा-उवसग्गे।
ए ए अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चति॥ ९१९॥
अट्ठविहंपि य कम्मं, अरिभूय होइ सव्व जीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण वुच्चति॥ ९२०॥

(आवश्यकभाष्य)

"रज या आवरणका नाश करनेसे भी 'अरिहंत' कहलाते हैं। क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म रजके समान बाह्य और अन्तरंग त्रिकालके समस्त विषयभूत अनन्त अर्थ पर्याय और व्यंजन-पर्याययुक्त वस्तुओंको विषय करनेवाले ज्ञान और दर्शनको आवृत करनेसे 'रज' कहते हैं, इसी प्रकार मोह भी रज है, क्योंकि जैसे धूलसे भरे हुए मुखवाले लोगोंमें कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोहसे जिनका आत्मा रुका हुआ है, उनमें भी जिह्मभावोपलब्धता या कुटिलता पाई जाती है। इस लिए रजरूप ज्ञानावरणादि कर्मोंके नाशसे 'अरिहंत' कहलाते हैं। यथा—

"रजो हननाद्वा अरिहन्ता। ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानु-

भवप्रतिबन्धकत्वाद्रजांसि, पुनर्मोहोऽपि रजः । भस्मरजसाऽऽपूरिताननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जह्मभावोपलंभत्वात् ।

(धवलसिद्धान्त)

अथवा 'रहस्य' अन्तराय कर्मका नाम भी है, जिसके क्षय करनेसे भी 'अरिहंत' कहे जाते हैं, अन्तराय कर्मका नाश तीन घातिया कर्मोंके नाशके साथही नियमसे होता है । अत· अविनाभावी सम्बन्धसे यह अर्थ निकलता है कि–जिसने चारों घातिया कर्मोंका नाश करके अघातिया कर्मोंको भी निश्शक्त बनादिया हो वे 'अरिहंत' कहलाते हैं । यथा–

"रहस्यमन्तरायस्तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो हि प्रणष्ट-बीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्म्मणो-हननादरिहन्तः ।"

(धवलसिद्धान्त)

(५) एक पाठ 'अरुहंत' भी बनता है, क्योंकि 'रुह' धातुका अर्थ 'अकुर उगना' है, अर्थात् जिसका भवरूप अंकुर नष्ट होगया है वे 'अरुहंत' कहलाते हैं, यानी कर्म्मरूपी बीजके जल जाने पर पुन· समाररूप अकुरकी उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि–

"न रोहति भूयः संसारे न समुत्पद्यत इत्यरुहः, ससारकारणानां कर्म्मणां निर्मूलकत्वात् ।"

भगवती-प्रवचनसारोद्धार—

तथा च प्रज्ञापनासूत्रस्य कारिकायामप्येवं, पुनः "दग्धे बीजे यथात्यन्त प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाकुरः ॥" इति भाषाटीका समाप्ता ॥

गुजराती अनुवाद—सुधर्माचार्यजी श्रीतीर्थंकर प्रभुना गुणोना वर्णन करता पोताना जम्बूनामा (समीपमा रहेनार) शिष्यने कही रह्या छे के जे भव्य प्राणी आत्माने दुर्गतिमा पडता बचाववावाला ज्ञान अने चरित्ररूप धर्मनुं, 'अर्हन्' भगवान् पासेथी भावपूर्ण तेमज परिणाम युक्त अभिप्राय श्रद्धा अने

भक्तिपूर्वक चरित्रवान् थईने श्रवण करे छे, अने त्यार पछी तेनुं मनन करी निदिध्यासन करे छे, ते आयुष्यादि सर्व कर्म बधनोथी मुक्त थई अपुनरावृत्ति याने निर्व्वाण पद प्राप्त करे छे, अथवा दीर्घायुष्य वाळा स्थानमा अनुकूल सुख भोगवनार 'अहमिन्द्र' बने छे, अथवा देव दानवोना अधिपति एवा इन्द्रपदने पामे छे, आ में 'अर्हन्' भगवान् ज्ञातपुत्र-महावीर प्रभु पासेथी जेवी रीते साभळ्यु छे तेज प्रमाणे तने कही सभळावुं छुं* ।

---

* 'अरहंत' आ प्राकृत भाषानुं शब्द छे, जेनी सस्कृतच्छाया 'अर्हन्' थाय छे, कोई कोई एना अरहोन्तर-अरथान्त-अरुहन्त-वाचक शब्दो थाय छे, एम तेओनुं मन्तव्य छे, अहीं आ चारे अर्थ ऊपर आ प्रमाणे विचार करी शकाय ।

(१) 'अर्ह' धातुनो अर्थ भाव पूजा एवो थाय छे, ते अर्थ अनुसार अतिशय वन्दनीय, सेवनीय होवाथी 'अर्हन्' (अरहत) कहेवाय छे, केमके तेमना पाचे कल्याणकोमा देवो तेमज चौसठ इन्द्रो द्वारा अनेक जातनी सेवा सम्वन्धी केटलीए विलक्षण घटनाओ वनी छे, तेमज तेमनो आत्मा मनुष्योनी अपेक्षाथी पर छे, जेथी तेमनामां विशेषपणु होवाथी 'अरहंत' नाम यथार्थ छे, 'धवल' ग्रंथमा पण कह्युं छे के–

"जे वंदन तेमज नमस्कारने योग्य छे, सेवा अने सत्कारने योग्य छे, सिद्धि गमनने माटे उपयुक्त छे, माटे 'अरहत' कहेवाय छे ।"

(२) "रहस्नो अर्थ एकान्त थाय छे, एटले जे समस्त पदार्थोनो निकटना चाहे दूरना, स्थूल चाहे सूक्ष्म पदार्थोना समूहने हथेळी पर राखेल आमळानी माफक देखी रह्या छे, जेमने माटे गुप्त के एकान्त एवी कोई वस्तु या स्थान नथी ।"

(३) "अरथान्त–" ए सस्कृतच्छाया-अनुसार एवो अर्थ नीकळे छे के रथ=अर्थात् वहिर तेमज अन्तर दृष्टिए समस्त परिग्रहनो जेनी पासे अभाव छे एवा वीतराग सर्वज्ञ देवने 'अरथान्त' कहे छे ।" "अथवा जेनो आत्मा रूपी रथ अप्रतिहत शक्तिवालो होवाथी क्याय पण रोकाई शकतो नथी, अर्थात् त्रणे लोक तेमज अलोक सुधी पण पहोंची वळे छे, याने जाणी शके छे, जेथी 'अरथान्त' आ नाम पण सार्थक मानेलु छे ।"

प्रशस्तिः ।

महावीरो देवो विदितभवकीर्तिर्जिनवरः, सदा भव्याऽऽधारो निजशरणगैर्वन्द्यचरणः । मुदाऽन्त्यो यस्तीर्थंकर इति पदाढ्योऽस्ति नितरां, वचस्तत्वे तस्य प्रतिदिवसमेवार्पितमनाः ॥ १ ॥ फकीरेन्दुर्भिक्षुर्गुरुरिति तमःस्तोमतरणि', सुपुष्पस्तच्छिष्यो विनययुतभिक्षुर्विधिरभूत् । द्विपञ्चाङ्केन्द्वब्दे [१९५२] जननमभवद्यस्य कुतले, गृहीता सद्दीक्षा भवभयहराऽस्मिंश्च व्रतितः ॥ २ ॥ रसाष्टाङ्केन्द्वब्दे [१९६८] सकलमुनिवृन्देऽतिविशदा, स चेदानीं नाम्ना कुसुममुनिदासो शिवरुचिः । 'हिमागारे देशे' गिरिषु बहुशीतेषु विहरन्, गतो यो यत्रास्ते विविधतरुवृन्दोऽस्ति विमल ॥ ३ ॥ प्रसिद्धे राज्ये च जिनमतधराढ्येन सहिते, समेतो 'नादोने' गुरुभिरतिपूते निवसता । कृतं चातुर्मास्यं कलिकलुषतापौघशमनं, समाचीर्णं यत्राऽखिलजिनपथाऽऽराधनपरम् ॥ ४ ॥ 'सुमित्र'-स्यादौ हि हितकरसुदीक्षाऽपि नितरां, सदैवं पुष्पेन्दुर्विचरति सुमित्रेण सहितः । जिनाज्ञासंसक्त' परहितकरः साधुनिरत. ॥ स एवाऽयं भिक्षुः *सकलदलदोषेन रहितः ॥ ५ ॥ हिमाच्छादिते सुप्रदेशे च भ्राम्यन्, शिमाला (शिमला) †कुलुक्कादिदेशान्तरस्थ । दृगाङ्कानवचन्द्रकाब्दे [१९९२] प्रकाशः । मुहुर्दृष्टवान् भूरिशोभां नगस्थाम् ॥ ६ ॥ सहस्रक्रोशान्तं पदगमनशीलो मुनिवरः, सुपुष्पेन्दुर्भिक्षुः प्रथमगमनं यत्र कृतवान् । सुमित्रेण स्वेन गुरुचरणभृङ्गेन सहित, सुशिष्येणागम्यं नगरमभिगम्य प्रविततम् ॥ ७ ॥ 'कराची' सुस्थानं निखिलपशुरक्षा च विदधन्, दयागारं कृत्वा सकलजनश्राद्धैः सह मुदा । निहालेन्दुर्यत्राधिपतिरपि

---

* सम्प्रदाय-पक्षवादादिना रहित । † कुल्लु इति भाषायाम्—

जातोऽत्र विषये, भुवि ख्याते सिन्धोर्विषमविषये कोऽपि न मुनिः ॥ ८ ॥ जिनाज्ञासक्तानामपि च न गतः कोऽपि *सुमुनिः, सहस्राब्देनापि विहरणमभूद्यत्र न यतेः । मुनेः पुष्पेन्दोश्च गमनमभवद्यत्र प्रथमं, ततः पूर्वनीत्वा दिशमपि सुडोल्यां च गुरुणा ॥ ९ ॥
विहारप्रदेशेऽपि गत्वा च पूर्व, कृता धर्मशिक्षा विशेषेण तत्र ।
अयं चातिरम्यो विहारप्रदेशो, महावीरदेवस्य जन्मास्ति यत्र ॥ १० ॥
अयं सुप्रदेशोऽधुना ह्रासयुक्तः, सदा राक्षसप्रायजातश्च यस्मात् ।
महाकालिकामंदिरे यत्र हिसा, सदा जायते प्राणिनां कोटिशश्च ॥ ११ ॥
शरांकांकचन्द्रे [१९९५] मिते वत्सरेऽस्मिन्महावीरतीर्थंकरस्य जयन्त्याम् ।
नदीदीर्घदामोदराख्या तटे च, समागत्य पुष्पेन्दुसंज्ञो हि भिक्षु· ॥ १२ ॥
अहिसोपदेशं †चलाकारिग्रामे, प्रदत्वा पशूनां त्रयं यूपमुग्रम्, वधस्थानमुत्पाट्य यः क्षिप्तवांश्च, सदा वा प्रचारः प्रशस्योऽस्ति यस्य सदैवं बहून्यन्यकार्यं विधाय, प्रदेशं भ्रमन्नन्ततो याति नूनम् ॥ १३ ॥
यश्चात्र प्रथम सुरेतरमये देशे शुभे वत्सरे, वन्ह्यंकाकविधौ [१९९३] मिते च झरियाग्रामे कृतं भिक्षुणा । चातुरमास्यकृत ततश्च प्रथम 'वंगे' गुरो· सेवक·, वेदाकांकविधौ [१९९४] समे च गुरुणा साकं गतः पुष्पकः ॥ १४ ॥
सर्वानन्दमये शुभे च नगरे 'कालीयकत्ता'ऽभिधे, यत्राष्टादशसंख्यकाश्च शतका जैना मताः श्रावकाः । चातुरमास्यकृत महच्च सुखतो श्राद्धा मुने सेवकाः, यत्रास्ते कलिकत्तपत्तनवरा वीथी सु 'पोलोक' की ॥ १५ ॥ सन्ति स्थानकवासिनश्च बहवः श्वेताम्बराः श्रावकाः, कुर्वंति समाजकार्यमथवा यस्याधिपाः प्रेमिणः । सङ्केत मुनिनेत्र-

* शिक्षा कर्तुमिति शेष· । † 'चलकरी' इति भाषा ।

समिततरं श्रेष्ठा महान्तो मुहुर्जैनाराध्यमुनिष्वपि व्रतधरेष्वेवं गुणाः सन्ति च ॥ १६ ॥ जैनाः संघसुकार्यकारिणी सभा यत्रास्ति नित्यं मुहुः । सभ्याःश्रावककेऽपि सन्ति सततं नेत्रेन्दुसख्या गुणाः ॥ अत्रैवं मुनयः त्रयो नव मिते मासे निवासोऽभवत् । एवं चेन्मनुजो नवैव वितते गर्भे मुहुर्जायते ॥ १७ ॥ सम्प्रदायस्य वादस्य पक्षपातस्य बन्धनम् । त्रोटयित्वा स्वयं जातः, स्वतन्त्रश्च सदा मुनिः ॥ १८ ॥ ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसघे व्यवस्थितः । नीरक्षीरविभागार्हः, स्वयं तन्मयतां ययौ ॥ १९ ॥ महावीरस्य च प्रभोः, स्तुतेष्टीका कृता वरा । दिवसे दीपमालायां, याता पूर्णा च सवति ॥ २० ॥ कलिकाताख्यनगरे, वेदांकनवचन्द्रके । श्रीपुष्पचन्द्रमुनिना, शिवाक्षिरसांगुष्ठतः ॥ २१ ॥ मुनिभि प्रार्थ्यते शश्वन्महावीरस्य शासने । स्वयं तन्मुनिचर्याया, मौनमाश्रित्य तिष्ठति । भवान् परिग्रहत्यागी, यद्यस्ति कथमीदृशः ॥ २२ ॥ सम्प्रदायप्रवादस्य, परिग्रहरतः कथम् । सम्प्रदायप्रवादस्य, पक्षं कृत्वा पुनः पुनः ॥ २३ ॥ भवन्तः स्वसमाजेन सह यान्ति रसातलम् । भवन्तोऽनन्तससारपापसृष्टि कृता कथम्? वर्धयित्वा च स्वस्यैव पतनं कथमिच्छतः ॥ २४ ॥

भुजङ्गप्रयातच्छन्दः ।

यदा जीवहिंसापरित्यागिनश्चेद्भवन्तस्तदा सम्प्रदायस्य जाले ।
जनान् सर्वतश्चात्र घोरे निबध्य, कथ कुर्वते ज्ञानचारित्रनाशम् ॥२५॥
अनेनाथ देहेष्वनन्तानुबन्धि-कषायस्य बन्ध कृत तत्र नूनम् ।
दृढ श्रृंखलाबद्धजीवा भवन्तः, पतिष्यन्ति चैवं द्रुत शर्करादौ ॥२६॥
विपक्षानुरोधे महामोह एव, समानः स्त्रिया सर्वथा त्यागयोग्यः ।
सदा सेवनेनास्य नाशं व्रजन्ति, भवद्ब्रह्मचर्यादिकं शश्वदत्र ॥ २७ ॥

विपक्षाख्यवेश्याऽनुरागोऽपहेयः, सदा ब्रह्मचर्यानुरक्तैर्भवद्भिः ।
महावीरदेवस्य नाम्ना स्वकीयं, मुदा जैनसघ सृजन्त्वत्र जैनाः ॥ २८ ॥
यतो बन्धनान्मुक्तभावं व्रजन्तु, भवाद्दुस्तराज्जन्मतो वापि दुःखात् ।
यदास्य प्रसगं भवन्तश्च जैना, न जातु त्यजन्ति ब्रुवन्ति भवस्थाः ॥२९॥
जनो ब्रह्मचारी न कोऽप्यस्ति लोके, नितान्तं व्यभिचारवन्त न रम्यं ।
महावीरतत्वोपदेशस्य सारमनेकान्तवाद बुधाश्चानमन्ति ॥ ३० ॥
भवन्तः सदैकान्तवादे प्रवृत्ता., स्वतश्चेतरेपा न द्वात्रिंशदाख्यम् ।
स्वकं सम्प्रदाय विशुद्धं गदन्ति, तथाऽन्य च निदा हि कुर्वन्ति नित्यम् ॥
यतो वर्धमानस्य वाचो भवन्तो, विलुपन्ति मिथ्यैव कि सत्यमेतत् ? ।
तदैवं भवन्त हि जानन्ति सिद्धा, महाऽसत्यपापानुरागेऽनुरक्तम् ॥३२॥
ब्रुवन्तीह पक्षानुरागं विशेपमहं चामुके सम्प्रदाये प्रवृत्तम् ।
सदा चेदृश भावरोग त्यजन्तु, न हि स्याच्च कल्याणभावं कदापि ॥३३॥
परित्यज्य भेदात्मकीं बुद्धिमुग्रा, तदा वर्धमानस्य सिद्धान्तमानम् ।
विजानन्तु श्राद्धाश्च वीरं भजन्तु, सदाक्षेपवन्तो भवन्तो भवन्तु ॥३४॥

गुरुर्वो दीक्षायां ग्रहणसमये स्तेयकरणं, परित्याज्यं चेत्थं कथयति भवत्क्षेममनिशम् । परिशश्चयूयं प्रतिपदविवादं च कुरुथ, तदेवास्तेयाख्यं व्रतमपि प्रणष्ट प्रतिदिनम् ॥ ३५ ॥ ततो धर्मे नाशं व्रजति भवतां वृत्तिरखिला, अतस्त्वत्तश्चौरो न हि सुभुवि कश्चिन्मुनिवर ! अतोऽनित्यं साधो ! परिहर मतालम्बनमहो ! न हि स्यात्कल्याणं क्वचिदपि विशेषं व्रतधर ! ॥ ३६ ॥ राग-द्वेषवियुक्तानां, समताभावमागताः । वीतरागा. प्रवर्तन्ते, साधवो न हि चेतरे ॥३७॥ त्वय्यस्ति यदि रागश्च, द्वेषभावस्तथापरः । देहभावोऽप्यहंभावो- हम [illegible] च ॥ ३८ ॥ नो गतो यदि वो देहान्मुधैव वेषधा-

रणम् । तथोज्वलतरो वेषो, धूर्तत्वं प्रतिभावयेत् ॥ ३९ ॥ कैतवं समनुप्राप्य, पापकृन्मुनिराडयम् । वीतरागा न केऽपीह, प्रवदन्तीति योगिनः ॥ ४० ॥ अद्यप्रभृतिमुनिभिर्हीयितां पदवी मुहुः । मानापमानयोर्बुद्धिस्तुल्यैव परिधार्यताम् ॥ ४१ ॥ सर्वदा भिक्षुवर्य्यैश्च, समदर्शिभिरेव च । शासनं जिनराजस्य, वर्धनीयं विशेषतः ॥ ४२ ॥ ज्ञातव्यं मुनिभिस्तत्वं, मानवधर्ममाचर ! वीरशासनसेवाया, प्रवृत्ताश्चेतसा यदि ॥ ४३ ॥ पदवीधारणं मिथ्या, प्रवृत्तिस्तत्र निष्फला । नाग्रहस्तत्र कर्तव्य, इति चित्ते समाश्रय ॥ ४४ ॥ जगति *बहुलेशस्य, मान्यता च सनातने (धर्मे) । तथैव जैनधर्मेषु, (मुनिवर्य्येषु) वह्वाचार्यस्य मान्यता । इति रोगसमृद्धिः स्याद्विपरीतं कथं भवेत् ॥ ४५ ॥ स्वयं वैद्यश्च रोगार्तो, नान्येषां दुःखहो भवेत् । आचार्य्याणां बहुत्वस्य, प्रथा हेया मनीषिभिः ॥ ४६ ॥ अखिलजैनसंघस्य ह्येकश्चाचार्य एव च । कर्तव्यः सर्वथा विद्वन् ! न पुनस्तं विलोपयेत् ॥ ४७ ॥ समाजं कुष्ठवन्नित्यं, क्रियतीति विभावय । कथनेन च किं तद्वच्छ्रवणेन च किं बहु ॥ ४८ ॥ समाजोऽद्य प्रयागस्य तीर्थवत्क्रियतां मुदा । धारात्रयं मिलित्वैव स्वच्छा स्याद्वादरूपिणी ॥४९॥ गगेवेय च ज्ञातव्यं, मुनिभिः सुधिभिः सदा । इत्येवं प्रार्थना शश्वत्पुष्पेन्दोर्भिक्षुकस्य च ॥ ५० ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

* वहुला· ईशस्येति पदच्छेद· ।
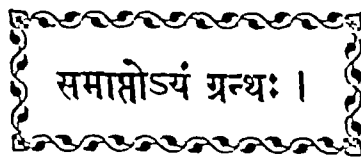
परिशिष्ट नं० १ वीरस्तुति—गुर्जरगायन

कडखाकी—चाल

तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भणी,
जगत्‌मां एटलुं सुजश लीजे ।
दास अवगुण भर्यो जाणी पोता तणो,
दयानिधि दीनपर दया कीजे ॥ १ ॥

भावार्थ—किसी समय श्रीजिनागमके अभ्यास द्वारा संसार भ्रमण करते हुए, ज्ञानावरणादि आवरणोंसे ढके जानेपर भी अपनी अनन्त शक्तिको जान कर अनादि परभावानुपंगताके दोषसे उद्विग्न आत्मा अपनी साधक शक्तिको न देखकर परम निर्यामकके समान २४ वें तीर्थंकर श्रीज्ञातृपुत्र-महावीर भगवान्‌के नामका शरण निर्धारित करता है, और श्रीवीरपरमात्माको अन्तरमें अनुभूत करके प्रार्थना सहित विनति करता है और अपनेको प्रभुका दास निश्चित रूपमें समझकर मानो पुकार पुकार कर कहता है कि—हे नाथ! हे दीनदयालो! हे प्रभो! मुझसा निर्वल तत्वसाधक आपकी आज्ञाओंके पालन करनेमें कहा समर्थ है, मुझे तो मात्र नामका सेवक समझ कर तार? तार? इस गुण-रोधकरूप दु खसे निस्तार! ओह प्रभो! तुझ से प्रभुको छोडकर और किसे कहूं? यह इतनासा सुयश आपही लीजिए और मुझे भवजलधिसे पार कीजिए! भग-वन्! मुझे यह भी ज्ञात है कि—प्रभुको तो सुयशकी कुछ भी अभिलाषा नहीं है। परन्तु उपचारसे भक्तिवश आपके नाममें आतुर होकर यह सव कुछ कहकर में ही अपनी अज्ञानताका परिचय दे रहा हूं; यद्यपि में अपनेको आपका दास समझता हू, मगर यह दास तो रागद्वेष-असयम-अनुष्ठानाशंसादि दोष-एकान्ततादोष-अनादर आदि दोषरूप अवगुणसे भरा हुआ है। तौ भी में तेरा ही कहलाता हूं। अत एव हे दयानिधे! भावकरुणासमुद्र! मे दीन-रक-अशरण-दुःखित-तत्वशून्य-सम्यग्ज्ञानादिसे-शून्य भावदरिद्र, तत्वमार्गका विरा-धक-असंयमचारी-महाविकारशील-आपकी आज्ञासे विमुख-अनादिकालका उद्धत, आदि २ अनेक दुर्गुणोंसे पूर्ण हूं। इसी लिए मुझ दीन-हीन पर दया कीजिए। तेरी कृपा ही त्राण-शरणके योग्य हो जायगी। यद्यपि 'अर्हन्' प्रभु सदा कृपावान्

ही होते हैं तब उन्हें और नवीन कृपा क्या करनी है? तथापि अर्थीको घर-गांठका विचार नहीं होता, इसलिए यह वचन मुझसे 'अर्थी' का ही है, और जो दयावान् होता है उसकी विशेषता इसी प्रकार वर्णन की जाती है। अत. देव! तुम कृपाके भंडार हो, तुम्हारा अवलम्बन लेकर ही पार हो सकूँगा, यह सत्य और निस्संदेह है।

राग-द्वेषे भर्यो मोह-वैरी नड्यो,
लोकनी रीतमां घणुंए रातो।
क्रोध वश धमधम्यो, शुद्धगुण नवि रम्यो,
भम्यो भवमांहे हुं विषय मातो॥ २॥

भावार्थ—हां तो भगवन्! यह दास कैसा है? सुनिए, यह राग-द्वेषके कीचडमें फँसा हुआ है, जगत्-सागरमें डूबा पडा है, गुणी जनोंसे ईर्ष्या करता है, मोहके नशेमें बेसुध है, तत्वकी बातोंमें बिल्कुल अज्ञात है, विपर्यासका कुछ ठिकाना ही नहीं है। मोह वैरीने भारी झपट मारी है जिसके कारण अपने उस मोहभावसे स्वयं उसके नीचे दब गया है। तथा लोककी रीतिभाति, चाल-ढाल, अन्धश्रद्धा, उलटी टेढी रूढी आदिमें खूब ही मस्त है, लोकोंकी गतानुगतिकता भेडचालमें ही सदा मग्न है, अपनी गाठकी अकलसे कुछ भी नहीं विचारता, लोकोंको प्रसन्न करनेकी बडी चाह लगी रहती है। लोकोंसे डरता भी खूब है इसी कारण गुप्त अनाचार सेवन करता है, तब लोकोंने भी बुगला-भक्तकी ही उपाधि दी है। क्रोधसे पारा गर्म हो जाता है, चंडपरिणाममें धमधमाय-मान है। जिस प्रकार धौंकनीकी प्रेरणासे अग्नि तप उठता है इसी तरह क्या बल्के इससे भी अधिक क्रोधके द्वारा तप जाता हूं। शुद्ध गुण जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-परमशुद्ध चरित्र-क्षमा-मार्दव-आर्जव आदि आत्मगुण हैं, उनमें कभी रमण नहीं करता, न कभी में उनमें तन्मय ही होता हूं, अपने स्वरूपका ग्रहण भी कभी नहीं किया, सदैव तुसके समान निस्सार परभाव या विभावको ही स्वीकार किया है, नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देव आदि चार गति रूप संसारचक्रमें इसी कारण मारा मारा फिरता हूं। तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप ससृतिमें, पांच इन्द्रियोंके विषय-स्वादमें उन्मत्त और उन्मग्न हो रहा हूं। विषयग्रस्त हो कर इस भाति विश्वचक्रका कडुवा अनुभव ले रहा हूं, मैं वही अधमदास हूं,

अतः मुझे तार, तार! हे नाथ! दीनबन्धो! निष्कारण दयालो! मुझे तार भव दुःखसे बचा, बचा ॥ २ ॥

आदर्यों आचरण लोक उपचारथी,
शास्त्र-अभ्यास पण कोई कीधो ।
शुद्ध श्रद्धान वळी आत्म-अवलम्ब विन,
तेह्वो कार्य तेणे को न सीधो ॥ ३ ॥

भावार्थ—शायद कभी कोई यह कहे कि–आवश्यक करणादि आचरण बहुतबार स्वीकार किया है, मगर उस चरित्रको तो लोकोपचारसे ही किया था जिससे फिर वह आत्मामें विष तथा गरलके समान परिणत हुआ, क्योंकि अन्यान्य अनुष्ठानसे क्या हो सकता है, यदि भावधर्म नही हो तो उसके विना सब कुछ वृथा है, और उसे उपचार-गतानुगतिकतासे अंगीकृत किया समझा जाता है। इसके उपरान्त कोई यह भी कहेगा कि–उच्चगोत्र-यशोनामकर्म आदिके विपाकसे ज्ञानावरणीयके क्षयोपशमके योगसे शास्त्रोका पूर्ण अभ्यास भी तो किया है, शास्त्रोका पठन-पाठन किया है, शास्त्रके गर्भमेसे यथार्थ अर्थको निकाल कर जगत्में उसका दिव्य प्रसार किया है। तथा अध्यात्म-भावनासे स्पर्शज्ञानानुभावके विना उस श्रुतका अभ्यास किया गया परन्तु शुद्ध और यथार्थ स्याद्वादउपेत-भावधर्मके विना शेष भावधर्मकी रुचिसे दान दयादिक जो पुरुषार्थ किया गया है उन सबको कारण समझना चाहिए परन्तु मूल धर्म नहीं। धर्म तो वस्तुकी सत्ता है, और वह आत्माके अन्तर्गत-स्वरूपतासे पारिणामिकताकी दशामे स्थित है। उसमे से जो धर्म प्रकट होता है, वह शुद्ध-श्रद्धान, शुद्धप्रतीति, तथा पुन आत्माके स्वरूपको प्रकट करानेवाली रुचि तथा आत्माके स्वगुण-सम्बन्धी अवलम्बनके विना जो आचरण किया जाता है तथा ज्ञानाभ्याससे यदि वह कार्य किया जाता है, जिस कार्यसे आत्माका सम्यक् साधन होता है, उसे किसीने निर्मित नहीं किया प्रगट नही किया। जिसके कारण जो आत्मगुण प्रकट हो सकता था वह नहीं हुआ। अत. हे परमेश्वर! इस अधमाधम [illegible] तेरी ही कृपा पार कर सकती है इसलिए तार, तार, दास समझकर तार, अपना दास समझकर तार ॥ ३ ॥

स्वामी दर्शन समो निमित लही निर्मलो,
जो उपादान ए शुचि न थासे ।
दोषको वस्तुनो अहवा उद्यम तणो,
स्वामी सेवा सही निकट लाशे ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्वामी श्रीवीतराग हैं, जो अन्यके कार्यके अकर्ता हैं, परभावादिके अभोक्ता हैं, इच्छा लीला चपलता कौतुहल आदिसे सर्वथा रहित हैं, क्योंकि इच्छा तो ऊनतावान् अर्थात् न्यूनतावालेमें होती है, और परमेश्वरतो पूर्ण आनन्दी सहजानन्दी है, इसीलिए स्वामी इच्छा रहित हैं, और लीला भी सुखकी लालसावालेको ही होती है, और लालचीपना सुखकी ऊनतासे होता है, इसीकारण प्रभुमें लालचीपना भी नहीं है । ऐसे निजानन्द-विहारी स्वामीके दर्शनके समान निर्मल निमित्तको प्राप्त करके, आत्माका उपादान–मूलपरिणति यदि शुद्ध न होगी तो जानना चाहिए कि यातो वस्तुका दोष (जीव अवगुणावृत) है, या शायद जीवका दल ही अयोग्य है, कहना न होगा कि इस जीवकी सत्ता किस ढंगकी है ? अथवा क्या अपने उद्यममें कुछ कमी है ? क्योंकि कठोर प्रयत्न और सतत उद्यम करनेपर तो आत्माका सुधार अवश्य होना ही चाहिए था मगर अवतक कुछ न हुआ । इससे स्पष्टसिद्ध है कि–यह जीव अपनी ऊनताके कारण अपने आत्मीय गुणोंका स्मरण नहीं करता, इसलिए अव क्या करना चाहिए ? और कोई उपाय भी तो नहीं सूझता । यही समझ कर श्रीअर्हन् भगवान् महावीर प्रभुकी सेवाको ही मैंने आत्म स्मरणके लिए अमोघ शस्त्र (साधन) समझा है । प्रभुसेवा ही प्रभुकी समीपताको दिलायगी । क्योंकि वहिरात्मभाव तो इस अवस्थामें अत्यन्त दुष्ट है । परन्तु जिनराजकी सेवनासे यह दुष्टता छूटजायगी ॥ ४ ॥

स्वामी गुण ओळखी स्वामीने जे भजे,
दर्शन शुद्धता तेह पामे ।
ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लासथी,
कर्म जीपी वसे मुक्ति धामे ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्वामी अर्थात् शासनपति, अर्हन् प्रभु, श्रीमहावीर भगवान्के गुणोंको पहचान कर जो प्राणी अरिहंतको भजता है उनकी सेवा करताहै, वह दर्शन अर्थात् सावरण केवलज्ञान सम्यक्त्व स्वस्वरूपकी झाकी अवश्य प्राप्त करता है। उसे दर्शनकी निर्मलता होती है, यथार्थ आत्म ज्ञान भासता है, चरित्र स्वस्वरूपमे रमण करता है, तप तत्वकी एकाग्रताको प्राप्त करता है, वीर्य आत्मसामर्थ्यका उद्भव करता है, उसके उल्लाससे ज्ञानावरणादि कर्मोंको जीत (क्षय कर) ता हुआ मोक्ष—निरावरण रूप सम्पूर्णसिद्धतारूप अपुनरावृत्ति धाममें जाकर निवास करता है ॥ ५ ॥

जगद् वत्सल महावीर जिनवर सुणी,
चित्त प्रभु चरणने शरण वास्यो।
तारजो बापजी! विरुद निज राखवा,
दासनी सेवना रखे जोशो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जगत् त्रय वत्सल (हितकारी) चौवीसवें महावीर जिनवरके गुणोको सुनकर मेरा मन प्रभुके चरण (चरित्र) रूपी शरण (मनन) मे वस गया है, अत. हे प्रभो! भो परमेश्वर! मेरा आत्मा पलटा खाकर आत्मका समस्तसाधन करे, ऐसी शक्तिका उद्भव तो मुझमे नहीं दीख पडता, इसीलिए सरल भक्तिका आश्रय लेकर कहता हू कि वापू! मुझ दासको आप ही पारकरना, और आप अपनी तारकताका विरुद सुरक्षित रखनेके लिए इस दासकी सेवना (भक्ति) के सामने मत देखना, जो आपकी आज्ञानुसार भक्ति करता है वह निस्सन्देह पार होता है, परन्तु जगत्तारक! मेरे लिए यह सब कुछ होना दुर्लभ है, लेकिन जिसप्रकार काठकी सङ्गतिसे लोह और पत्थरभी पार हो जाते हैं इसी प्रकार आपके संयोगसे पार हो जाऊंगा, और मुझे अब नियमरूपसे यही एक अन्तिम आधार प्रगटरूपमे दीख रहा है ॥६॥

विनति मानजो शक्ति ए आपजो,
भाव स्याद्वादता शुद्ध भासे।
साधि साधकदशा सिद्धता अनुभवी,
"देवचन्द्र" विमल प्रभुता प्रकाशे ॥ ७ ॥

भावार्थ—प्रभो! मेरी इतनी विनय तो अवश्य मानलेना, और मेरा यह वचन भी सरल भक्तिकी प्रेरणासे निकला है। हां वह वात मानना कि मुझे एक वार आत्मसामर्थ्य अर्पण करना, और ऐसा भाव भी प्रदान करना कि–जिसभावसे वस्तुधर्म यानी स्याद्वादकी कसौटीसे नित्य-एक-अनेक-अस्ति-नास्ति-मेद-अमेदद्वारा छहों द्रव्योंके अनन्तशुद्ध धर्म, शंकादि दूषण रहित भासने लगें। साधकदशाकी साधना करके वे भेदरत्नत्रयी, सिद्धता, निष्पन्नता, वास्तविकताका अनुभव करके उसे भोगने लगें। समस्त देवोमें चन्द्रमा के समान सिद्ध भगवान्की विमल-निर्मल प्रभुताको प्रगट करे, अर्थात् स्याद्वाद ज्ञानके द्वारा साधकता प्रगट होती है, और उस साधकतासे सिद्धता प्रगट होती है, यही एक विलक्षण सार पद्धति है ॥ ७ ॥

गुजराती भावार्थ—कोइक अवसरे श्रीजिनागमना अभ्यासे करीने संसार भ्रमण निमित्त जे ज्ञानावरणादि आवरणे आवृत पोतानी अनन्त आत्म शक्ति जाणीने अनादि परभावानुषंगता दोषने दुःखे उद्विग्न आत्मा ते पोतानी साधकता शक्ति अणदेखतो परमनिर्यामक समान चौवीशमा श्रीवीरभगवान्नां चरण शरण निर्धारीने, श्रीमहावीरप्रभुनी आगल प्रार्थना सहित विनति करे छे जे–हे नाथ! हे दीनदयाळ! हे प्रभुजी! मुझ सरीखो जे तत्वसाधक तथा आज्ञानिर्वाह मा असमर्थ, तेने मात्र नामथी सेवक जाणी तार, तार। ए गुण-रोधक रूप दुःखथी निस्तार, तुज सरीखा प्रभु विना बीजा कोने कहुं? जगत्मां एटलुं सुजश लीजे, यद्यपि प्रभु तो सुजशना कामी नथी, परन्तु उपचारे भक्ति आतुरताए कहे छे जे मुज सरीखो दास ते यद्यपि राग द्वेष असयम अनुष्ठानाशंसादिदोष, एकतादोष अनादरादिदोषरूप अवगुणे करी भर्यो छे, तो पण ताहरो कहेवाय छे। ते माटे हे दयानिधि! भाव करुणाना निधान! दीन जे हुं रंक, अशरण-दुःखित-तत्वशून्य-ज्ञानादिसम्पदारहित-भावदरिद्री-मार्गनो विराधक-असयमसंचारी-महाविकारी-तमारी आज्ञाथी विमुख-अनादिनो उद्धत एहवा मुज ऊपर कृपा करीजे, ताहरी कृपा तेहीज त्राण (शरण) थशे। यद्यपि अरिहंत तो कृपावंतज छे तो नवी कृपा शी करवी छे, तो पण अर्थी विचारे नहीं, माटे अर्थीनुं ए वचन छे, जे दयावतनेज एम कहेवाय छे, जे हे देव! तमे दयाना भंडार छो, तमनेज अवलंबे तरीश। ए सत्य ज छे॥ १॥

दास केहवो छे, राग द्वेषे भर्यो, जगत्मा पड्यो, गुणथी ईर्ष्या करे छे, मोह जे मुंजितपणु ते तत्वनी अजाणता–विपर्यासता, हेतुये मोहवेरी नड्यो, तेथी दवाणो छे, तथा लोकनी जे रीत केता चाल ते माहे घणोज मातो छे, लोकनी चाल (गतानुगतिकता) माहे मग्न छे, लोकरजननो अर्थी छे, क्रोध जे ताता चण्डपरिणाम तेहने विषे धमधमी रह्यो छे, जेम धमण धमता अग्नि तपे, तेम तपी रह्यो छे, शुद्धगुण जे सम्यग्दर्शन-सम्यक्ज्ञान-शुद्धचरित्र-क्षमा-दया-मार्दव आर्यवादि आत्मगुण, तेने विषे रम्यो नहीं, तन्मयी न थयो । ते रूप न ग्रह्युं, वळी भम्यो=चतुर्गतिरूप भवचक्रमाहे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप ससार तेने विषे हुं विषय=जे पाच इन्द्रियना स्वाद, ते माहे मातो=केता मग्न थयो थको एम ससारचक्र अनुभव्युं ते हवे प्रभु मुझने तार, तार, हे नाथ! दीनबन्धु! निष्कारण दयाल! मुजने तार, भव दु खथी उगार ॥ २ ॥

कदाचित् कोई कहेशे जे आवश्यककरणादिक आचरण आदर्युं=अगीकार कर्यु, परन्तु ते सर्व लोकोपचारथी एटले विष तथा गरल तथा अन्यान्यानुष्ठानथी भावना धर्म विना उपचारे अगीकार कर्यु, तथा कोई कहेशे के उच्चगोत्र यशोनाम कर्मादिकना विपाके ज्ञानावरणीय क्षयोपशमना योगे शास्त्राभ्यास पण कीधो, शास्त्र भण्या, शास्त्रना यथार्थ अर्थ पण जाण्या, तथा अध्यात्मनी भावनाए स्पर्शज्ञानानुभावविना श्रुताभ्यास कीधो, परन्तु शुद्ध अने यथार्थ स्याद्वादोपेत भावधर्म विना शेष भावधर्मनी रुचिये जे दान-दयादिक प्रवर्तन करे छे ते सर्व कारण समजवां, परन्तु मूलधर्म नथी, धर्म ते वस्तुनी सत्ता, आत्माने विषे स्व-स्वरूपपणे परिणामकताए रह्यो छे । ते माहे जे प्रगट्यो ते धर्म, परन्तु शुद्ध श्रद्धान शुद्धप्रतीति-तथा वळी आत्मानी स्वरूप प्रगट करवारूप रुचि तथा आत्माना स्वगुणने आलंबन विना जे आचरण तेणे आचरणे तथा श्रुताभ्यासे तेहवु कार्य–जे कार्यथी आत्मानु साधन थाय, ते कोई नीपन्युं नहि, जे थकी आत्मगुण कोई प्रगटे ते थयु नहि, ते माटे अहो परमेश्वर! तादृशीज कृपा पार उतारशो, निस्तारशो, ते माटे तार! तार! ॥ ३ ॥

स्वामी श्रीवीतराग जे परकार्यना अकर्ता, परभावादिना अभोक्ता, इच्छा-कीडा-चपलता रहित, एटले जे इच्छा होय छे ते तो ऊणतावतने छे, ते माटे इच्छारहित छे, वळी लीला पण सुखनु लालच करनारने होय छे, अने लालचीपणु ते सुखनी ऊनताए थाय छे । ते माटे प्रभुमा लालचीपणु नथी, एहवा स्वामीना दर्शन (मत) समान निर्मल निमित्त लहीने जो ए आत्मानुं उपा-

दान=मूल परिणति पवित्र नहि थशे तो जाणवुं जोईये जे वस्तु=जीवनो ज दोष=अवगुण छे, एटले रखे ए जीवनो दल अयोग्य होय! ए जीवनी सत्ता केवी रीतनी छे? अथवा पोताना उद्यमनी खामी छे? केमके आकरे प्रयत्ने=उद्यम करीने तो आत्माने समरवो जोइये, तो ए जीव पोतानी ऊणाशने लीधे आत्मा समरतो नथी। ते माटे हवे शुं करवु? जे बीजो उपाय कोई नथी, तो श्रीअरिहंतनी सेवा तेहीज निश्चे निकट केता नजीकता लाशे, केता पमाडशे, एटले आ आत्मा तो हवे दुष्ट जेवो थइ रह्यो छे, परन्तु श्रीजिनराजनी सेवनाथी दुष्टता तजी देशे ॥ ४ ॥

स्वामी जे श्रीअरिहंत तेहना गुणने ओळखीने जे प्राणी श्रीअरिहंतने भजे=सेवे छे, ते दर्शन=सम्यक्त्वरूप गुणने पामे छे, दर्शननी निर्मलता पाम्या पछी, ज्ञान=यथार्थ भासन, चरित्र=स्व-स्वरूपमा रमण तप=तत्वमा एकाग्रता-वीर्य=आत्म-सामर्थ्य, तेहना उल्लासथी ज्ञानावरणादि कर्मोने जीपीने मुक्ति=निरावरणरूप सम्पूर्ण सिद्धतारूप धाम=स्थानकमा जइने ते वसे छे ॥ ५ ॥

जगत्रयवत्सल=त्रण जगत्ना हितकारी, एहवा महावीर भगवान् चोवीशमा जिनवर, तेहना गुण साभळीने मारो मन प्रभुने चरणने शरणे वसाव्यो छे। ते माटे हे प्रभो! परमेश्वर! माहरो आत्मा तो पलटीने सर्वसाधन करे, एहवी शक्ति देखाती नथी, माटे भद्रक भक्तिए कहुं छुं जे हे तात! हे दीनबन्धो! मुज दासने तमे तारजो, तमारुं तारकतानुं विरुद राखवा माटे दासनी सेवना भक्ति सामु जोशो मा, जे ए आज्ञा प्रमाणे भक्ति करे तो तरे, ए वात तो स्वामिन्! माहरामा थवी दुर्लभ छे, पण तमारे सयोगे तरीये, एहीज नियमा आधार छे ॥ ६ ॥"

"माहरी एटली विनति मानजो, ए पण भद्रिकपणाथी भक्तिनुं वचन छे, जे शक्ति=एवी सामर्थ्य आपजो, ते कहे छे, जे भाव=वस्तुधर्म, ते स्याद्वादरीते नित्य-एक-अनेक-अस्ति-नास्ति-भेद-अभेदपणे छ द्रव्यना अनंताधर्म शुद्ध, शकादि दूषणरहित भासे,=जाणपणामा आवे, ते साधि=निपजावीने साधकदशा ते भेद रत्नत्रयी-सिद्धता-निष्पन्नता-अनुभवे=भोगवे, सर्वदेवमाहे चन्द्रमा समान, सिद्धभगवान् तेहनी विमल=निर्मळ जे प्रभुता, ते प्रकाशे=प्रगट करे, एटलेस्याद्वाद ज्ञाने साधकता प्रगटे, साधकताथी सिद्धता प्रगटे छे, एहीज सार पद्धति छे ॥७॥

देवचन्द्र—

वीरस्तुति—

वीर जिनेश्वर चरणे लागुं, वीरपणुं ते मागुं रे ।
मिथ्यामोह तिमिर भय भागुं, जीत नगारुं वाग्युं रे ॥ १ ॥

शब्दार्थ—वीर जिनेश्वर=चौवीसवें वीर प्रभुको, चरणे लागुं=नमस्कार करताहूं, (और) वीरपणुं ते=उनके समान, वीरपणुं=शूरवीर भाव, मागुं रे=मे उनके पाससे यांचा द्वारा मांग लेता हूं; (उनका वीरत्व ऐसाहै कि-जिसके सन्मुख) मिथ्यामोह=मिथ्यात्व मोहनीय रूप, तिमिर भय=अन्धकारका भय, भागुं=दूर भाग खडा हुआ है, और-जीत नगारुं,=जयका नगारा, वाग्युं= रे=बज रहा है ।

भावार्थ—मे चौवीसवे जिनेश्वर श्रीमहावीरस्वामीकी भाव वन्दना करता हू, और कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेके लिए उनमें जो योद्धापन अथवा जेसा श्रीवीर भगवान्मे वीरत्व है, में भी अपनेलिए वैसाही चाहता हूं, और जिनमें मिथ्यात्व मोहनीय कर्मरूप अधकारका भय नष्ट होगयाहै, और फिर जीतका डंका बजगया है ।

परमार्थ—में श्रीवीरभगवान्की भावोंसे वन्दना करके अपने लिए वीरत्व पानेकी माग पेश करता हूं, श्रीवीरभगवान् कैसे हैं, ? जिनका कि-मिथ्यात्वादि मोह दूर होगया है, तथा कर्मरूपी शत्रुओंको पराजय करनेसे जिनका जयपटह बजने लगा है, ऐसे श्रीभगवान्को नमस्कार करके मे वीरता मागता हू ॥ १ ॥

छउमस्थ वीरज लेश्या संगे, अभिसधिज मति अगे रे,
सूक्ष्म थूल क्रियाने रंगे, योगी थयो उमंगे रे, वी० ॥ २ ॥

शब्दार्थ—छउमस्थ=छद्मस्थ अवस्थाकी, वीरज लेश्या=क्षायोपशमिक वीर्यवार्य, लेश्या-आत्म परिणामकी एक दशा, (उसके) सगे=सयोगके द्वारा (तथा) अभिसधिज=अभिसधि जनित-योगाभिमन्धिजनित-योगको ग्रहण-करनेकी-अपने आप ही होनेवाली इच्छामे उत्पन्न-मति=बुद्धि, (उसके) अंगे=उसकी छायाके कारण (तथा) सूक्ष्म=आत्मिक, (और) थूल=व्याव-हारिक, क्रियाने रंगे=क्रियाका समाचरण करनेके उत्साहसे (वीरभगवान्) योगी थयो=योगी बनगए, उमगेरे=उमंगके साथ-न कि जबरदस्तीसे,

भावार्थ—छद्मस्थ अवस्थाकी क्षायोपशमिक वीर्यवाली आत्मपरिणतिके योगसे, और योगको ग्रहण करनेकी अपनी निजी इच्छासे उत्पन्न होनेवाली बुद्धिसे, आत्मिक और व्यावहारिक क्रिया करनेके उत्साह द्वारा श्रीवीर भगवान् वडी भारी उमंगके साथ योगी हुए हैं ।

परमार्थ—इस गाथाका भावार्थ भलि प्रकार समझमें नहीं आता, अतः गुरुगम्यतासे इसका अर्थ समझना चाहिए । तथापि यथा मति लिखा गया है, छद्मस्थ अवस्थामें आत्माको क्षायोपशमिक वीर्यका उद्गम जब प्राप्त होता है और उस समय उसके साथ वैसी ही शुभ लेश्या मिलजाती है, अतः फिर अन्वयरूप वीर्यकेद्वारा कर्मग्रहण करता है, इस कर्मग्रहण करने की दशाको अभिसधिज कहते हैं, और तब फिर मति उपर्युक्त वीर्यको ग्रहण करती है ।

देहकम्पनरूप सूक्ष्म-क्रिया, और शरीरसंकुचनरूप, एवं उसका प्रसरण करणरूप, प्रसारणकी क्रियाको स्थूल क्रिया कहते हैं, इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म क्रियाके रगसे सब आत्मा वडी उमंगसे योगी होते हैं । अर्थात् वे मन-वचन- और कायके योगको प्राप्त होते है ॥ २ ॥

असंख्य प्रदेशे वीर्य असंखो, योग असंखित कंखेरे,
पुद्गल गण तेणे लेशु विशेषे, यथाशक्ति मति लेखेरे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—असख्य प्रदेशे=आत्माके असख्य प्रदेश हैं, (अतः उन उन प्रदेशोंका वीर्य एकत्र करने पर) वीर्य असंखो=असख्य—जो गिना न जाय इतना आत्म-बल है, (इसीसे आत्मा) योग असखित=असंख्य योग-मन-वचन-काय के व्यापार, (उनकी) कंखेरे=अभिलपित अर्थको पूर्ण करनेमें समर्थ होता है, [और] पुद्गल गण=पुद्गलकी विविध वर्गणाओंको, तेणे=इसी कारण, लेशु विशेषे=लेश्या विपेशसे-भिन्न भिन्न लेश्याओंसे, यथाशक्ति=शक्तिके अनुसार, मति=बुद्धि, अनुभवाकित रहती है, एकके पश्चात् एक को ग्रहण करके माप करती रहती है ।

परमार्थ—आत्माके असख्य प्रदेश हैं, और उन एक एक प्रदेशमें असख्य वीर्य-शक्ति है, इससे असख्य योगकी आकाक्षा उत्पन्न होती है, और योग सामर्थ्यके अनुसार आत्मा कर्म-वर्गणाके पुद्गलोंको यथाशक्ति ग्रहण करता है ॥ ३ ॥

उत्कृष्टे वीरजने वेसे, योग क्रिया नवी पेसे रे,
योग तणी ध्रुवताने लेसे, आतमशक्ति न खेसे रे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—(लेकिन) उत्कृष्टे वीरजने वेसे=उत्कृष्ट कार्यके आवेशमे-जव कि सवसे अधिक वीर्य-उल्लास होता है तव, योगक्रिया=मन-वचन-कायरूपी योगका व्यापार, नवी पेसेरे=प्रवेश ही नहीं करता, होता ही नहीं, (क्योकि उस समय) योगतणी=योगकी, ध्रुवताको=अचलताको, लेशे=लवलेशमात्र भी, आतमशक्ति=आत्मवल, न खेसेरे=डिगाता नहीं,–योग स्थिर हो जानेके कारण ।

भावार्थ—जव आत्मामे सवसे अधिक वीर्य प्रगट होता है तव मन-वचन और कायका कर्म वंधनरूप कार्य प्रवेश ही नहीं करता, कारण यह है कि–उस समय आत्मवल है, उस योगके अचलत्वको लवलेश मात्र भी डिगा नहीं सकता, ॥ ५ ॥

परमार्थ—उपरोक्त कथनानुसार आत्मा योगकी शक्तिके अनुसार कर्म पुद्गलको ग्रहण करता है, परन्तु यदि आत्मामे उत्कृष्ट वीर्य प्रगट होगया हो तो फिर मन-वचन-कायके योग लगभग वंद हो जाते हैं, और कर्मवन्धन-रूप क्रियासे फिर आत्मामे कर्म-वंध नहीं होता ।

योगकी ध्रुवताका लेश सव आत्माओमे होता है, और उस लेशमात्रसे भी आत्माके आठ रुचक प्रदेश कर्मवन्धसे विरक्त (अलग) रहते हैं । यह दृष्टान्त है । अत एव ज्यो ज्यों आत्मामे उत्कृष्ट वीर्य प्रगट होता रहता है, त्यो त्यों कर्मवन्ध भी कम हो जाते है, और अन्तमें सम्पूर्ण वीर्यत्व प्रगट होने पर वीरभगवान्‌की तरह समस्त कर्मवधका नाश हो जाता है और शुद्ध चैतन्यत्व प्राप्त होता है, अत हे भगवान्! मुझे वीरता अर्पण करो ! ॥ ४ ॥

काम वीर्य वशे जेम भोगी, तेम आत्मा थयो भोगीरे,
सूरपणे आतम उपयोगी, थाय तेह अयोगी रे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कामवीर्य वशे=स्त्री सगकी इच्छा होने पर, वीर्य वलसे, =जिस प्रकार भोगी=भोग कर्ता होता है, तेम=इसी तरह, आतम थयो ।[illegible]रे=आत्मा, (अपने वीर्योल्लास द्वारा अपने गुणोंका) भोगी वनता है,

(और) शूर पणे=शौर्य गुणके वलसे, आतम उपयोगी=अपने भावमें उपयोगवान् रहकर, थाय तेह अयोगीरे=वह आत्मा उसी समय अयोगी गुणस्थान पर आरूढ होता है।

भावार्थ—स्त्रीसगकी इच्छा होने पर वीर्य अर्थात् धातुके उल्लाससे जिस प्रकार जीव भोगकर्ता सिद्ध होता है, इसीप्रकार आत्मा अपने वीर्य उल्लाससे अपने गुणोंका भोगी वनता है, और शौर्यगुणके वलसे निजभावमें उपयोगवान् रहकर वह आत्मा तुरत अयोगी-गुणस्थानारूढ होता है।

परमार्थ—जिसप्रकार कामी पुरुषमें वीर्यकी अधिकता होनेके कारण उसे प्रवल कामेच्छा होती है, इसीकारण पुरुष स्त्री की, और स्त्री पुरुष की इच्छा करती है, अथवा काम अर्थात् इच्छा, वह द्रव्यादिककी इच्छावाला जिस प्रकार द्रव्यकी इच्छा करता है, और पर-भावकी वाञ्छा करता है, इसी तरह आत्मा भी स्व-स्वरूपको न जाननेके कारण पर-पौद्गलादिक भोगोंकी वाञ्छा करता है।

परन्तु जव आत्मामें शूरवीरताका सचार होनेपर वीरभाव प्रगट होता है, तव कर्मोका क्षय होने पर अपने स्वरूपको जानता है। इससे उसे पर वस्तुओंपर अभाव-(अप्रीति) होता है, आत्मा निजगुणमे रमण करता है, मन-वचन और कायके योगको स्थिर करता हुआ नवीन कर्मोको नहीं वाधता। और अन्तमे अयोगी हो जाता है। इस लिए वीरत्व प्राप्त होने पर आत्माका कार्य सिद्ध होने वाला समझ कर भगवान्के पास वीरता ही मागी है॥ ५॥

वीरपणु ते आतम ठाणे, जाण्युं तुमची वाणे रे,
ध्यान विनाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुव पद पहिचाणे रे, वी० ॥६॥

शब्दार्थ—वीरपणु=शूरवीरता, (उसे,) ते आतम ठाणे=वह आत्मगुणस्थानपर चढता हुआ, [परिपूर्ण होना चाहिए इस प्रकार] जाण्यु=मे जान सकाहू, [किसके द्वारा जान सकाहू?] तुमची=आपकी, वाणे रे=वाणी द्वारा-आपके प्रतिपादन किए हुए आगम द्वारा, (तथा) ध्यान विनाणे शक्ति

प्रमाणे=अपनी शक्तिके प्रमाणसे ध्यान और विज्ञानसे, निज=अपना, ध्रुवपद=(परिणामकी स्थिरताको पाकर) शांतिरूप अचल पद, पहिचाणे=पहचानने से ।

भावार्थ—आत्मगुणस्थानपर चढतेसमय परिपूर्ण शूरवीरता होनी चाहिए जिसे मे अव जान सका हूं, किसलिए ? आपकी वाणी द्वारा, अर्थात् आपके उपदेशसे, पुनः मेरी निजी शक्ति के अनुसार ध्यान और विज्ञानके साहाय्यसे भी कुछ जाना है, यानी ध्यान और विज्ञानका जितना बल होता है, उतना ही, अथवा उसी प्रमाणमें अपनी वीरताका स्थिरपद जीव इन निमित्तोंसे पहचान लेता है ।

परमार्थ—भगवान्के पाससे वीरताकी याचा का विचार करते समय भगवान्के प्रतिपादन किए हुए उपदेशका स्मरण हुआ, इससे स्वयं ही प्रसन्न होकर कहता है कि प्रभो ! मेरी जो जो भूल हुई हैं उनका मुझे भान हुआ, अव तक मे आपसे यही विनति करता रहा था कि–मुझे वीरता अर्पण करें, परन्तु मागसे पहिले आपने फर्माया है कि–समस्तआत्माएँ मेरे समान हैं । अत· जो वीरतामे पहले आपसे माग रहा था, वही वीरता मुझमें भी है। परन्तु खेद है कि इस वातकी मुझे जरासी भी खवर न थी, परन्तु आपकी वाणीसे–आपके तत्वपूर्ण उपदेशसे मुझे विश्वास हुआ है कि वह वीरता मुझमे भी पर्य्याप्त और अखंड है ।

तव यह प्रश्न होता है कि–जब आपके समान वीरता अपनेमे भी है तव तुम उसे क्यों नहीं जानते थे? और भगवान्ने कहा है कि–इसके अतिरिक्त वीरता अपने आत्मामे है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, इसी प्रकार गुरु परम्परासे यदि विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ हो तो उससे भी अनुभव हो सकता है, जिस प्रकार ध्यान और ज्ञानकी विशेषता है, इसी प्रकार आत्मानुभवकी भी विशेषता जाननी चाहिए । मुमुक्षुओंको ज्ञान और ध्यान को गुरुगमतासे जान कर आत्मानुभव करनेमे प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि इस स्तवनका आशय यही है, और हमारी धारणा भी यही है ॥ ६ ॥

आलम्बन साधन जे त्यागे, पर परिणतिने भागे रे,
अक्षय दर्शन ज्ञान वैरागे, 'आनन्दघन' प्रभु जागे रे, ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—[पूर्ण वीर्योल्लाससे शूरवीर बन कर] आलंबन=असमर्थ दशामें लियाहुआ आश्रय, (तथा) साधन=समस्त साधन-उपकारण, (उनको) जो=जो महात्मा, त्यागे=छोड देते हैं, पर परिणति=आत्मासे अन्य-पुद्गलादिका स्वभाव (उससे), भागेरे=दूर होजाता है, (वह) अक्षय=जिसका क्षय न हो, ऐसे शाश्वत, दर्शनज्ञान वैरागे=ज्ञान-दर्शन और चरित्रके द्वारा, आनन्दघन=आनन्दसे भरपूर, प्रभु=परम समर्थ-परमात्मा-ईश्वर, (होकर) जागेरे=(सदैव) ज्ञानसे जागृत रहता है ।

भावार्थ-सम्पूर्ण वीर्योल्लाससे शूर वीर होकर जो पुरुष असमर्थ दशामें पहले लिए हुए आलंबनों को और समस्त (अत्यावश्यक) उपकरणोंको भी छोड देताहै, उस आत्मासे पर जो पुद्गलादिका विभाव है वह दूर होजाता है, पुन वह महात्मा पुरुष जिसका कभी क्षय न होने पावे, ऐसे शाश्वत ज्ञान-दर्शन और चरित्रसे, आनन्दपदसे भरपूर परमात्मारूप होकर सदैव ज्ञानपूर्वक जागता रहता है, अथवा 'आनन्दघन' कवि कहते हैं, कि-प्रभु-आत्मा जाग जाता है, यानी अनादिकी ऊघमेंसे आत्मा जागृत हो जाता है अर्थात् विभावदशाको त्याग कर स्वयं परमानन्दरूपमें मग्न हो जाता है ।

परमार्थ—आत्मा अनादिकालके पुद्गल सम्बन्धी आधारसे अपना कार्यकरना त्यागदेता है, तब आत्माका अखंड-शुद्ध-चैतन्यत्व सम्यग् ज्ञान-दर्शन और चरित्रद्वारा प्राप्त करता है । और अनादि-कालसे आत्मा जिस पुद्गलके सगमे पडा ऊंघ रहा है, उसीसमय जग कर स्वयं अपने स्वरूपको प्राप्त करता है अथवा 'आनन्दघन' कवि कहते हैं कि-यह आत्मा पर वस्तुका सग छोडदे और अपना निजी अवलम्ब रक्खे, तथा परानुयायीपन छोडदे तो उस रत्नत्रय के आराधनसे यह आत्मा तुरन्त मोक्षको प्राप्त होता है, ॥ ७ ॥

गुजराती भावार्थ—चोवीसमा जिनेश्वर श्री महावीर स्वामीना चरणोमा हु वन्दन करुं छु अने कर्मरूपी शत्रुओने हणवामा जे योद्धापणुं, अथवा जेवु श्रीवीर भगवान्नुं वीरपणुं छे, तेवुं वीरपणु हुं मागु छुं, वळी जे प्रभुनो मोहनीय कर्मरूपी अन्धकार-भय नष्ट थयो छे, अने कर्मरूप शत्रुओनो पराजय करवाथी जेमनो जयपटह वाग्यो छे, एवा श्रीवीरभगवान्ने पगे लागीने हुं वीरपणु मागुं छुं, ॥ १ ॥

आ गाथानो भावार्थ मने बराबर समजायो नथी, माटे गुरुगमथी धारवो, तो पण यथामति लख्यो छे, छद्मस्थावस्थामा आत्मानुं क्षायोपशमिक वीर्य होय छे, अने तेनी साथे तेवीज लेश्या मळे छे, एटले जोडायेला वीर्ये कर्म-ग्रहण करे छे, आ कर्म ग्रहण करवानी दशाने अभिसविज कहे छे, अने मति उपर्युक्त वीर्यने ग्रहण करे छे ।

देहकम्पनरूप सूक्ष्म क्रिया अने शरीर सकोचवा रूप तेमज तेनो प्रसार करवारूप प्रसारणनी क्रियाने स्थूल क्रिया कहे छे, एटले ते मन-वचन अने कायना योगने पामे छे । ॥ २ ॥

जेनी सख्या न आवे ते असख्य कहेवाय आत्माना अथवा बीजा द्रव्योना सूक्ष्ममा सूक्ष्म आकाशना विभागमा रहेलो जे भाग ते प्रदेश कहेवाय छे। आत्माना आवा असख्य प्रदेशो छे, अने ते एके एक प्रदेशमा असख्य वीर्य छे, तेथीज आत्मा मन-वचन-अने कायना असख्य योगनी काक्षा-अभिलाषा थाय छे, अर्थात् ते योगो साध्य-प्रगट करवाने समर्थ छे, अने ते हेतुथी पुद्गलनी जुदी जुदी वर्गणाओने विविध प्रकारनी लेश्याओथी शक्तिमुजब बुद्धिलेखी रहे छे, अर्थात् एक पछी एक ग्रहण करीने मापती रहे छे ॥ ३ ॥

आत्मा योगनी शक्तिने अनुसारे कर्मपुद्गल ग्रहण करे छे। पण जो आत्मामा उत्कृष्ट वीर्य प्रगट थयुं होय तो पछी मन-वचन-कायना योग लग भग बंध थाय छे, अने कर्मबाधवा रूप क्रिया थी आत्मामा कर्मबंध थतो नथी।

योगनी ध्रुवतानो लेश बधा आत्मामा होय छे, अने ते लेशमात्रथी पण आत्माना आठ रुचक प्रदेश कर्म बंधथी विरक्त रहे छे, ए दृष्टान्त छे। माटे जेम जेम आत्मामा उत्कृष्ट वीर्य प्रगट थाय, तेम तेम कर्मबंध कमती थाय, अने छेवटे सम्पूर्ण वीर्यपणुं प्रगट थता वीर भगवान्नी पेठे समस्त कर्मवन्धनो नाश थाय, अने शुद्ध चैतन्यपणुं प्रगट थाय तेवुं छे । माटे हे भगवान्! मने वीरपणुं आपो! ॥ ४ ॥

जेम कामी पुरुषमा वीर्यनो वधारो थतां तेने प्रबल कामेच्छा थाय छे, तेथी पुरुष स्त्रीनी अने स्त्री पुरुषनी इच्छा करे छे। अथवा काम एटले इच्छा, ते द्रव्यादिकनी इच्छावालो जेम द्रव्यनी इच्छा करे छे, अने परभावने वाछे

छे, तेम आत्मा पण स्व-स्वरूपना अजाणपणाथी पर जे पुद्गलादिक तेना भोगनी वाञ्छा करे छे ।

पण ज्यारे आत्मामा शूरापणुं अथवा वीरपणुं प्रगट थाय छे, त्यारे कर्मोनो क्षय थतां ते पोतानुं स्वरूप जाणे छे, तेथी पर वस्तुपरथी तेने अभाव थाय छे, आत्मा पोतामा रमण करे छे, मन वचन अने कायना योगने स्थिर करी नवा कर्मों वाधतो नथी, अने छेवटे अयोगी पण थाय छे । तेथी वीर्यपणुं प्राप्त थता आत्मानु कार्य थवानुं जाणी प्रभु पासे वीरपणु माग्युं छे । ॥ ५ ॥

भगवान् पासे वीरपणु मागवानुं विचार करता भगवाने करेला उपदेशनुं स्मरण थयुं । तेथी पोतेज खुशीथईने कहे छे के हे प्रभो ! मारी जे भूल छे, ते मने जणाई,अत्यार सुधी में आपने विनंति करी के मने वीरपणु आपो, पण मारी मागणी पहला आपे कहेलुं छे के तमाम आत्मा मारा जेवा छे, एटले जे 'वीर-पणुं हुं आपनी पासे मागु छुं, ते वीरपणु मारामाज छे, पण ते वातनी मने खवर न होती, परन्तु आपनी वाणी थी एटले आपना उपदेशथी मारी खात्री थइ छे के ते वीरपणुं मारामा छे ।

त्यारे प्रश्न थाय छे के ज्यारे वीरपणुं तमारामा छे तो तमे केम न होता जाणता ? अने भगवाने कह्युं छे के ते शिवाय वीरपणुं पोताना आत्मामा छे । ते जाणवाने बीजुं साधन छे के केम ? तेनो उत्तर कहे छे के ध्यान करवाथी वीरपणुं पोतामा उद्भव थाय छे, अने तेनो प्रत्यक्ष अनुभव थई शके छे तेमज गुरुपरम्पराथी विशेष ज्ञान प्राप्त थयुं होय तो तेथी पण अनुभव थई शके छे, ज्ञान अने ध्याननी जेम विशेषता थाय छे तेम आत्म अनुभवनी पण विशेषता जाणवी, मुमुक्षुओए ज्ञान अने ध्यानने गुरुगमथी जाणी आत्मअनुभव करवामां प्रवृत्ति करवी ए आ स्तवननुं रहस्य छे एम हुं धारु छुं ।

आत्मा पुद्गलना आधारथी पोतानुं कार्य करवानुं त्यागे, अने पुद्गलनुं आलम्बन जो छोडी दे तो अखड शुद्ध चैतन्यपणुं सम्यग्ज्ञान-दर्शन अने चारित्रवडे प्राप्त करे, अने अनादिकाळथी आत्मा जे पुद्गलना सगमा ऊंघलेतो पडेलो छे, ते जागीने पोतानुं स्वरूप प्राप्त करे छे, अथवा आनन्दघन कवि कहे छे के आत्मा पर-वस्तुनो सग छोडे, पोतानु अवलम्बन राखे, अने परानु-यायी पण तजे तो रत्नत्रयीना आराधनथी मोक्ष पामे ।

[आनन्दघन]

वीरस्तुति–

धन धन जनक 'सिद्धारथ' राजा, धन त्रिशला देवी मात रे प्राणी ।
ज्यां सुत जायो गोद खिलायो, वर्धमान विख्यात रे प्राणी,
श्रीमहावीर नमो 'वर णाणी,' शासन जेहनो जाण रे प्राणी,
प्रवचन सार विचार हिए में, कीजे अर्थ प्रमाण रे प्राणी, २
सूत्र–विनय–आचार–तपस्या–चार प्रकार समाधि रे प्राणी,
ते करिये भवसागर तरिये, आतम भाव आराधि रे प्राणी, ३
ज्यों कंचन तिहुं काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी,
त्यों जगजीव चराचर योनि, है चेतन गुण एक रे प्राणी, ४
अपणो आप विषे थिर आतम, सोऽहं हंस कहाय रे प्राणी,
केवल ब्रह्म पदारथ परिचय, पुद्गल भरम मिटाय रे प्राणी, ५
शब्द-रूप-रस गंध-न जामे, नहीं स्पर्श-तप-छांह रे प्राणी,
तिमिर-उद्योत-प्रभा-कछु नाहीं, आतम अनुभव मांहि रे प्राणी, ६
सुख-दुःख जीवन मरण अवस्था, ए दशप्राण संगात रे प्राणी,
इणथी भिन्न विनयचंद रहिये, ज्यों जलमें जलजात रे प्राणी, ७

भावार्थ—'सिद्धार्थ' राजा और 'त्रिशला' देवी राणीको धन्यवाद है, जहां 'वर्धमान जैसे पुत्र उत्पन्न हुए, उन्होंने अपने अंकमें उसको खिला रमा कर अपनी हौंस पूरी की, और वर्धमान नामसे तो तीनो लोकमे विख्यात हुए, अपर नाम महावीर भगवन्! जो श्रेष्ठ और निर्मल केवलज्ञान युक्त हैं, जिनका इस समय शासन काल प्रचलित हो रहा है, और भावी कालमे भी १८५०० वर्ष तक चलेगा, उन्हें मेरा योग और करणकी शुद्धिसे नमस्कार है, जिनके प्रवचनका सार आत्मभान और परमात्म विचार है। यदि उसका मनन और निदिध्यासन किया जाय तो यह आत्मा मोक्षकी पूर्ति शीघ्र ही कर सकता है।

ज्ञात-नन्दन महावीरप्रभुने 'सूत्र' 'विनय' 'आचार' और 'तपस्या' ये चार प्रकारकी समाधि भव्य प्राणिओके कल्याणके अर्थ प्रतिपादन की हैं,

जो जितेन्द्रिय संयमी सदैव अपने आत्माका विनयसमाधि-श्रुतसमाधि-तपः समाधि और आचारसमाधिमें रमण करते हैं वास्तवमें वे सच्चे पण्डित होते हैं.

विनय समाधिके चार प्रकार—विनय समाधिके चार भेद इस प्रकार हैं जिस गुरुके पाससे शिक्षण प्राप्त किया है, उस गुरुको महा उपकारी समझकर उसकी सेवा करे, उसके समीपमें रहकर विनयका समाचरण करे। गुरुके वचनका यथार्थ रूपमें पालन करे। और विनयी होनेपर अहंकारी न बने। मोक्षार्थी साधक सदा हितशिक्षाकी इच्छा रखता है, उपकारी गुरुकी सेवा करताहै, गुरुके समीपमें रह कर उनके वचनका पालन करता है, और अभिमानमें मदसे गर्विष्ठ नहीं बनता। वही विनय समाधिका आराधक समझा जाता है।

श्रुत समाधिके चार प्रकार—"अभ्यास करनेसे मुझे सूत्र सिद्धान्तका परिपक्व ज्ञान होगा" यह समझ कर अभ्यास करता है, "अभ्यास करनेसे मेरे मनकी एकाग्रता होगी" यह जानकर श्रुतका अभ्यास करता है। "अपने आत्माको उत्तम और सद्धर्ममें परिपूर्णतया स्थिर करूंगा" यह मान कर अभ्यास करता है, यदि में समता पूर्वक धर्ममें स्थिर रहूंगा तो औरोंको भी धर्ममें स्थापन करसकूंगा। श्रुतसमाधिमें अनुरक्त रहनेवाला साधु सूत्रोंको पढकर ज्ञानकी, एकाग्र चित्तकी, धर्मस्थिरताकी तथा औरोंको धर्ममें स्थिर करनेकी शक्तिका सम्पादन करता है, अतः साधकको श्रुतसमाधिमें तल्लीन रहना चाहिए।

तपः समाधिके चार प्रकार—सच्चा साधक इस लोकके स्वार्थ-सुखके लिए तप नहीं करता, परलोक स्वर्ग सुखके लिए तप नहीं करता, कीर्ति, वर्णन (श्लाघा) के लिए भी तप नहीं करता, और पाप कर्मको बखेरने-वाली निर्जराके अतिरिक्त किसी भी अन्यकारणसे तप नहीं करता, वही तपस-माधिके योग्य होता है। तपसमाधिमें सदैव लगारहनेवाला साधक भिन्न-भिन्न प्रकारके सद्गुणोंके भण्डाररूप तपमें सदैव तन्मय होता है। किसी भी प्रकारकी आशा रक्खे बिना कर्मक्षीण करानेवाली निर्जरा भावनाके लिए प्रयत्न करे तो तपकेद्वारा वह पुराने पापकर्मोंको दूर कर सकता है।

आचार समाधिके चार प्रकार—कोई भी साधक इस लोकके स्वार्थकी पूर्तिके अर्थ श्रमणके सदाचारोंका सेवन नहीं करता, पारलौकिक

स्वार्थके लिए भी सदाचारों का सेवन नहीं करता। कीर्ति-वर्ण-शब्दके लिए भी साधुके आचारोंका पालन नहीं करता। (अर्थात्) अर्हन्देवके फर्मानके मुजब निर्जराके हेतुको छोड कर किसी भी स्वार्थके लिए आचारका पालन न करके मात्र निर्जरार्थ ही आचार पालन करता है। जो साधक दमितेन्द्रिय है, सच्चरित्रसे आत्मसमाधिका अनुभव करता है, महावीरके वचनोंमे अपनेको अर्पण कर चुका है, वाद-विवादसे विरत और सम्पूर्ण क्षायिकभावको पाकर जिसका आत्मा मुक्तिके निकट हो जाता है। वह साधक इन चार समाधिओंसे आत्माका आराधक होकर-सुविशुद्ध होकर चित्तकी सुसमाधिकी साधमे लगकर परमहितकारी और अपना एकान्त सुखकारक कल्याणस्थान खुद ही प्राप्त करता है। समाधिसे जन्म और मरणके चक्रसे मुक्त होकर शाश्वत सिद्ध होता है। यदि थोडे बहुत कर्म बाकी रहगए हों तो महान् ऋद्धियुक्त उच्च और सर्वोत्तम् कोटिका 'देव' होता है ॥ ३ ॥

आत्मा सुवर्णकी तरह है, आभूषणोंकी तरह वह पर्यायी है, चराचर जगत् और चौरासीलाख जीवयोनि चारगति इसके पर्याय हैं। परन्तु चेतना गुण सबका एक है, समान है, किसीका किसीप्रकारसे अन्तर नही है।"

'अपने आत्माको निजस्वभावमे स्थापन कर, तब सोहं का भास होगा, इस अनुभवके पश्चात् (हंस) परमात्मरूप (स्वच्छ) हो जायगा, परभावको छुडाने वाला केवळ-ब्रह्मपदार्थका परिचय पुद्गलपरिणतिका भरम मिटा देगा। इसीका अभ्यास चरित्र-आत्म रमणता है, जो कर्मरजको छानकर आत्मद्रव्यको पृथक् प्रगट करदेता है।"

"इस आत्मामे शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श-आतप-छाया-अन्धकार-उद्योत-प्रभा-आदि कुछ भी नहीं है, और आत्म-अनुभव होनेपर बाह्य पदार्थोंका मोह और ये दश जड वस्तुएँ आत्माके पास कभी फटक ही नही सकती।"

"तथा सुख-दु ख जीवन-मरण-सम्बन्धी अवस्थाएँ इन १० बाह्य प्राणोंके साथ हैं, इनका पवित्र और स्थायी-प्राणोके साथ कोई सबन्ध नही, विनयधर्मकी साधनामें चन्द्रमाके समान उच्च और पवित्र महावीर प्रभु उनसें इस प्रकार भिन्न हैं जिस प्रकार प्रखर कीचड और गंभीर जलसे उतपन्न होकर '२९' पानी और कीचडसे अलग रहता है। ७

विनयचंद (कुंभट)

महावीर थुई नो गुजराती काव्यानुवाद

आज सुधर्मा कहेता प्यारा जंबुने, वीरप्रभुना पंचम गणधर धीरजो,
संयमसागर शिष्य वडा ते जंबुजी, पूछे गुरुने अम भांगो गंभीर जो।
कहो गुरु आ भवसिंधु उतारवा, कोणे आप्यो उत्तम अमने धर्म जो,
साधु संघने अन्य पंथना सज्जनो, पूछे आवी धर्म तणो सौ मर्म जो।
अनन्य मंगल धर्म दीधो जे व्यक्तिए, ते समजावो टळवा सौ अनर्थ जो,
गुरु ज्ञानी छो आप महा आ विश्वमां, तेथी पूछुं प्रश्न तणो हुं अर्थ जो १
कहो स्वामी ते ज्ञान धरे कइ जातना, कइ पंक्तिना तेना दर्शन शील जो,
श्रवण कर्युं के जोयुं जे आपे प्रभु, बोलो! खोली दिलना द्वार अखिल जो २
मधुर वाणी आ सुणी सुधर्मा बोलीया, जाणे चाली सुधा शब्दनी धारजो,
विश्वसकळनो दुःख जाणतो नाथ जे, वीरप्रभु ते आव्या आ संसार जो।
कर्मरिपु सहार करी ते पामीआ, अनन्त दर्शन-ज्ञान तणो भंडार जो;
सूक्ष्म विषये दृष्टि तेनी स्थिर छे, कुशल प्रभु ते दीप्या जग मोझार जो ३
सर्व दिशामां वसता जे त्रस स्थावरो, मान्या तेने 'नित्य' अने 'अनित्य' जो
द्रव्य थकी तो मानी तेनी नित्यता, पर्याये तो मान्या छे अनित्य जो।
घोर तिमिर जे विश्व मही व्यापी रह्युं, अनन्य दीपक तेहना छे भगवान् जो
सर्व जीवोपर राखीने समभावने, अर्पण कर्ता धर्म तणुं तो पान जो ४
सर्वदर्शी सर्व विषयने जाणता, जीत्या चारे मति-श्रुत आदि ज्ञान जो,
केवळज्ञानी निज आत्मामा स्थिरते, शुद्धचरितना गातां जन गुणगान जो
सर्वपुरुषमां पुरुषोत्तम ते ज्ञानी छे, परिग्रह केरो सग नहीं तलभार जो,
लोक तणा तो भय तेने नहि पामता, जन्ममर्णनो स्पर्श नहीं लगार जो ५
प्रज्ञा तो बहु तीव्र हती भगवान्नी, बन्धन विण ते करता सदा विहार जो,
भवसिन्धुनी पार गया छे स्वामी ते, पाम्या ते श्री अनन्त ज्ञान भंडार जो।

महातपस्वी तपस्या करता घोरने, सूर्य समुं दीपे छे तेनुं ज्ञान जो,
वैरोचनने सूर्यसमा ते बाळता, जगत् महिं जे व्याप्या सहु अज्ञान जो ६
स्वर्ग महींतो सहस्र देवो शोभता, रूपगुणमां सौथी शोभे इन्द्र जो;
सर्वलोकनी शोभा मही ते शोभता, अतिप्रभावी ज्ञातृपुत्र मुनीन्द्र जो।
ऋषभ आदि चौवीस तीर्थंकर थया, जेथी प्रसर्यो सर्व श्रेष्ठ जैन धर्मजो,
जैनधर्मनो नेता ते महावीर छे, काश्यप कुळमां थइने मांग्यो मर्म जो ७
महेरामणनो पार कदी नहीं आवतो, तेम प्रभुनी बुद्धिनो नही पार जो,
द्रव्यक्षेत्रने काल-भावना मापथी, अक्षयसागर वीर ज्ञान अपार जो।
निर्मल जळ तो महेरामणनुं दीपतुं, तेम प्रभुनी ज्ञानज्योत झळकाय जो,
कषायकापी कर्मसुक्त पाम्या थकी, देवाधिप ते इन्द्र समा लेखाय जो। ८
वीर्यवानमां अनन्त वीर्ये शोभता, जे वीर्यनी जगमां छे नहि जोड जो,
गिरि वृन्दमां गिरि नहीं मेरु समो, मेरु सम जे शोभे जगमां श्रेष्ठ जो।
देव सकळतो मोज माणता मेरु थी, तेम प्रभुथी पामे सौ आनन्द जो,
रंग चंदने गुणो रम्य छे मेरुना, गुणो प्रभुना आपे परमानन्द जो ९
गिरिराज ते ऊंचो योजन लाख छे, पृथ्वी परथी सहस्र नवाणुं थाय जो,
पृथ्वी तलमां सहस्र योजन एक छे, अति मनोहर कंडक जेने होय जो।
ऊपर कंडके पंडकवन विराजतुं, ते तो जाणे ध्वजा गिरिनी थाय जो,
गिरिराज ए व्यापक छे मध्यलोकमां, ज्ञान प्रभुना एवा व्यापक होयजो १०
गिरिराज ते गगन टोचने पहोंचतो, नीचे तो ते करे भूमिमां वास जो,
ऊर्ध्व अधोने तिर्यक् लोके व्याप्त छे, विमान ज्योतिष्क फरतुं तेनी पासजो
गिरिराजनी ख्याति छे त्रिलोकमा, नन्दनवन तो आव्यां तेमा चार जो
अनेक वनना क्रीडास्थल त्यां शोभतां, इन्द्रदेवनी क्रीडानो नहिं पारजो ११
देव रमे त्यां सुखविलसे विधविधना, सुंदरध्वनिओ आनंदनी संभळायजो,

प्रतिध्वनि तो 'तेज' थकी पण तीव्र छे, कंचनवर्णी पृथ्वीसम सोहायजो
गिरिराजमां प्रतिध्वनि जे थाय छे, एवी प्रभुनी ध्वनि दिव्य संभळाय जो,
गिरिराज तो दुर्घट छे सौं प्राणीथी, कंचन रंगी दुर्घट वीर गणाय जो १२
पृथ्वी मध्ये गिरिराज उभो रह्यो, सूर्यकांति सम सोहे पृथ्वी मांय जो,
विध विध रत्ने रंग चित्र विचित्र छे, सूर्यसमां ते शोभे दशदिश मांय जो।
गिरिराज सम ऋषिवर्गमां महावीर, उज्वल मेरुसम शोभे ते अग जो,
मेरु सम ते अष्टलक्ष्मी उपेत छे, स्वयं प्रकाशी वीजो सूर्य निशंक जो १३
उपमा प्रभुनी मेरु विण ना थइ शके, तेथी गायां मेरुना गुणगानजो,
ए उपमाए वीरप्रभुना गुण तुं, समजी लेजे दर्शन शीलने ज्ञान जो,
जेवी छे आ जाति-कीर्त्ति मेरुनी, तेवी जाति-कीर्ति प्रभुनी मान जो,
गिरिराज तो व्यापक छे मध्यलोकमां, लोकालोके प्रभुनां दर्शन ज्ञानजो,
गिरिवृन्दमां निषधसम लावो नहि, गोळाकारे 'रुचक' विण नव होय जो,
गौतम तेवी प्रज्ञा प्रभुनी धारवी, मुनिवर्गमां श्रेष्ठ वीर गणाय जो १५
विश्वधर्ममा जैनधर्म प्रधान छे, दीधु रुडु धर्म तणुं ए दान जो;
सर्वध्यानमा शुक्लध्यान अति श्रेष्ठ छे, धरता एवुं उत्तम शुक्ल ध्यान जो,
शुक्लध्यान वळी फीणसमुं छे श्वेत ते, जेवो धोळो शख बहु सोहाय जो,
चन्द्रसमुं ते उज्वळ निर्मळ मानवु, श्वेत रंगथी वीर शुभ्र गणाय जो १६
वीर महर्षि मुक्तिदशाने पामिआ, परम स्थान ए लोक महिं लेखाय जो,
भस्म कर्या छे कर्मरिपुना शोषने, कर्मयोगमा कर्मवीर मनाय जो;
क्षायिक दर्शनने क्षायिक चारित्रथी, क्षायिक ज्ञाने सिद्धि पाम्या नाथ जो
॥ सिद्धि तो आदि-अनन्ती जाणवी, विजय कर्यो छे राग-द्वेषनो साथजो;
विजय कर्याथी मोक्ष आदिने पामीआ, वाल्यां जेणे सघळां पाप स्थानजो,
पापस्थानो फरी सजीवन थाय नहि, तेथी सिद्धि जम्बू अनन्ती मानजो १७

वृक्ष महि तो शाल्मलीने जाणवुं, काननमां नहिं नन्दनवननी जोडजो,
शाल्मलीने नन्दनवनना आशरे, सुपर्ण सरखा देव करे प्रमोद जो
शाल्मलीने नन्दनवन तो क्यां मळे, अद्वितीय स्थानो लोक महिं पंकायजो,
शाल्मलीने नदनजेवा जंबूजी, वीर बुद्धिने ज्ञान चरित अंकाय जो १८
शब्दमहीं तो मेघशब्द क्यांथी मळे? मेघतणुं तो गंभीरगर्जन होय जो,
ग्रहोमहीं तो चद्र सम छे ग्रह नहि, मनहर जेनी शीतळता प्रसराय जो;
सुगन्धिओमां मळयजसम छे वासक्यां? लोकमहीं ए चंदन श्रेष्ठ गणायजो,
मेघ चंद्रने मलयज जेवा जाणवा, मुनिवर्गमां वीरना विरक्त भाव जो १९
सिंधु महीं तो स्वयभू रमण जाणवो, क्रीडा करता देवो ज्यां सहर्ष जो,
भवनवासीमां भव्य नागकुमार छे, भव्यरूपथी मनपामे उत्कर्ष जो,
मां रसोमां ईक्षुरसने जाणवो, मधुरताथी मनडुं शीतल थाय जो,
सिंधु-स्वयंभू-देवनाग सम वीरला, वीरप्रभुना प्रधान तप जप होय जो २०
हस्ती महि ऐरावत राम छे हस्ती नहि, पशु महीं तो सिंहकेसरी एक जो,
निर्मळ जळमां गंगाजळने जाणवु. विहगोमां गरुड एक निशंक जो:

ब्रह्मचर्यथी उत्तमवळ तो आवतुं, लोक महीं एम उत्तम वीर मनाय जो २३
सुरपदोमां सर्वार्थसिद्धि श्रेष्ठ छे, सुधर्म केरी सभा अनुपम थाय जो,
सर्वधर्म तो श्रेष्ठ मुक्तिने मानता, जीव मात्रनो परम हेतु ते होय जो;
सर्वार्थसिद्धिना सुखनी तो वातशी, सौधर्म केरी सभा अनेरी होय जो,
रतिमुक्तिनी वाणी तो नहिं कहीशके,प्रभुसमा उत्तमज्ञानी नवकोयजो२४
परिषहो तो धरे पृथ्वी सम नाथ ते, पृथ्वीवत् ते सौनो छे आधार जो,
अष्ट कर्मने नष्ट कर्या ते स्वामी ए, कर्यो गृद्धीने अभिलाष संहार जो,
पाम्या छे ते ज्ञान महा उपयोगनुं, प्रयास विण ते जाणे वस्तु रूप जो,
अनन्तभवने तरी गया छे वीर ते, अनन्तचक्षु नित्य अभयस्वरूप जो २५
महारिपुजे आत्मदोष संसारना, क्रोध मानने मोह लोभ पर्याय जो,
दूर करीने अर्हत् पदने पामीआ, करे करावे पाप नहीं ऋपिराय जो २६
विध विध पंथो लोक महीं चाली रह्या, क्रियावादीके अक्रियवादी कोय जो
रमे कोई अज्ञानवाद के विनय मां सर्व पंथना ज्ञान वीरने होय जो;
क्रियावादीनी मुक्ति क्रिया मां रही, अक्रियवादी समजे मुक्ति ज्ञान जो
विनयवादितो विनय एज मुक्ति गणे, अज्ञानी तो मुक्ति गणे अज्ञान जो:
सर्व पथने समजीने आ स्वामीए, विकसाव्यो छे लोक महीं जैन धर्म जो,
ज्ञानक्रियामा मोक्ष मानता वीर ते, लीधोसंयम समजाववा मर्मम जो २७
मोक्ष तणो मार्ग कर्यो आरीति थी, करी बताव्यो जगने देवा बोध जो,
सकल पापने भस्म करीने स्वामीए, रोक्यो वहेतो कर्मरिपुनो धोध जो;
मनुष्य केरा के नरकादिक लोकना. वीरप्रभुए जाण्या पूर्ण स्वरूप जो,
स्वरूपजाणी लोक अने परलोकना सर्वलोकने छोड्या छे तद्रुप जो २८
धर्म परूप्यो अर्हते आ प्रेमथी, अर्थ पदोमा केवळ जे निर्दोष जो,
सुणी तत्व आ श्रद्धार्थी जन पामता.इन्द्र सुखके मोक्ष लक्ष्मी सतोष जो२९

परिशिष्ट नं० २–प्राकृतस्तोत्रविभागे

(षड्भाषामयं वीरस्तोत्रम्)

विद्यानां जन्मकन्दस्त्रिभुवनभवनालोकनप्रत्यलोऽपि,
प्राप्तो दाक्षिण्यसिन्धुः पितृवचनवशात्सोत्सवं लेखशालाम् ।
जैनेन्द्री शब्दविद्यां पुरत उपदिशन् स्वामिनो देवतानां,
शब्दब्रह्मण्यमोघं स दिशतु भगवान् कौशलं त्रैशलेयः ॥१॥ (संस्कृतम्)

जो जोईसरपुंगवेहिं हियए निच्चंपि ज्झाइज्जए,
जो सव्वेसु पुराणवेयपमिइग्गंथेसु गीइज्जए ।
जो हत्थट्ठियआमलं व सयलं लोकत्तयं जाणए,
तं वंदे तिजयग्गुरुं जिणवरं सिद्धत्थरायंगयं ॥ २ ॥ (प्राकृतम्)

देविंदाणवि वंदणिज्जचलणा सव्वेवि सव्वन्नुणो,
संजादा किर गोतमा अवि तया जस्सप्पसादा दुते ।
सो सिद्धत्थभिहाणभूवदिसदो जोगिंदचूडामणी,
भव्वाणं भवदुक्खलक्खदलणो दिज्जा सुहं सासदं ॥३॥ (शौरसेनी)

दुस्टे संगमके शुले भयकले घोलोवसग्गावलिं,
कुव्वंतेवि न लोशपोशकलुशं येणं कदं माणसं;
इंदे भत्तिपले ण णेह वहुलं योगीशलग्गामणी,
शे वीले पलमेशले दिशतु मे नेडन्तपुन्नत्तणं ॥ ४ ॥ (मागधी)

कंपंतक्खितिमंडलं खडहडप्फुट्टंतबंभंडयं,
उच्छल्लंतमहन्नवं कडयडतुट्टंतसेलगयं ।
पातग्गेन सुमेरुकंपनकरं बालत्तलीलाबलं,
वीरस्स पहुणो जिनान जयतु क्खोनीतले पायडं ॥५॥ (पैशाची)

इंहो वेदणरेसि जासु महया हल्लोहलेणागओ,
जज्झाई मुणिहंसओ हियडए अक्खे निरुंभेविणु,
साहु ओप्पिणु जासु कोइ महिमा नो तीरए माणवो,
पाए वीरजिणेसरस्सु नमहुं सीसल्लडे अम्हहे ॥ ६ ॥ (अपभ्रंशः)

आसाढे धवलाइ छट्ठि चवणं चित्तस्स तेरस्सिए,
सुद्धाए जणणं सुकिण्हदशमी दिक्खायमग्गरस्सिरे ।
जस्सासी वइसाहसुद्धदसमी नाणं जणाणंदणं,
मुक्खो कत्ति अमावसाइ तमहं वंदामि वीरं जिणं ॥

कणयसमसरीरं मोहमल्लेगवीरं, दुरियरयसमीरं पावदावग्गिनीरं;
सुगहियभवतीरं लोअलंकारहीरं, पणमह सिरिवीरं, मेरुसेलेसधीरं ॥

जय जय जय जणवच्छल ! नवजलहरपवणवणयसमणयण नयणमणपमयवद्धण ! धणकणयलक्खणयसमण ! ॥ १ ॥ समणमणभसलजलरुय ! सयत्थसत्थत्थपयडणसमत्थ ! मत्थयनमंतनर वर ! वरवरयवरंग गयसग ! ॥ २ ॥ सगरगररससयगय ! गयमच्छर ! रयणमयणदढजलण जलणजलसप्पभयहर ! हरहसधवलयरजसपसर ! ॥३॥ सरणपवण्णसरण्णय नयसयगमरम्मसम्ममयसमय ! मयमयगलनहपहरण ! रणरणयभयब्भमसवत्त ! ॥ ४ ॥ वत्तसयवत्तगहवर ! वरकरसलसतसम्वचक्क ! कंकपत्तसरलनयण ! नयपमय असत्तअपमत्त ! ॥ ५ ॥ मत्तगयगमण ! गयमण मणगयसंसयसहस्सतमतवण तवणयप्पहपहवर ! हयतमपरमपयनयरस्स ॥६॥ इय पढमक्खरनिबद्धं घणक्खरं गरिय गुणपयक्कं भत्तीए संथवणं रइय मुणिचंदमुणिणा ॥७॥

(वीरस्य चतुस्त्रिंशदतिशयस्तवनम्)

थोस्सामि जिणवरिंदे, अब्भुअमूएहिं अइसयगुणेहिं, ते तिविहा साहाविय, कम्मक्खइआ सुरकया य ॥ १ ॥ देहे विमलसुगंधं, आमसपासेहिं वज्जिअं अरअं, रुहिरं गोक्खीराभं, निब्बिस्सं पंडुरं मंसं ॥ २ ॥ आहारा नीहारा, अद्दिस्सा मंसचक्खुणो, सययं नीसासो अ सुगंधो, जम्मप्पभिई गुणा एए ॥ ३ ॥ खित्ते जोयणमित्ते, जं जियकोडीसहस्साओ माणं, सव्वसमासाणुगयं, वयणं धम्मावबोहकरं ॥ ४ ॥ पुव्वुप्पन्ना रोगा, पसमंती ईयवयरमारीओ, अइवुट्ठी-अणावुट्ठी, न होइ दुब्भिक्खडमरं वा ॥ ५ ॥ देहाणुमग्गलग्गं दीसइ, भामंडलं दिणयराभं, एए कम्मक्खइया, सुरभत्तिकया इमे अन्ने ॥ ६ ॥ चक्कं छत्तं रयणज्झओ अ, सेयवरचामरा पउमा, चउमुहपायारतियं सीहासण दुंदुही असोगो ॥ ७ ॥ कंटय हिट्ठा हुत्ता, ठायंति अवट्ठियं च नहरोमं, पंचेव इंदियत्था, मणोरमा हुंति छप्पिरिऊ ॥ ८ ॥ गंधोदगं च वास, वास कुसुमाण पंचवण्णाणं, सउणा पयाहिणगई, पवणणुकूलो नमंति दुमा ॥ ९ ॥ भवणवइ-वाणमंतर-जोइसवासी-विमाणवासी-अ, चिट्ठंति समोसरणे, जहण्णयं कोडिमित्तं तु ॥ १० ॥ इंतेहि जंतेहि, बोहिनिमित्तं संसयत्थीहि, अविरहियं देवेहि जिणपयमूलं सयाकालं ॥ ११ ॥ चउहा जम्मप्पभिइ, इक्कारस कम्मसंखए जाए, नव दस य देव जणिए चउतिस अइएस वंदे ॥ १२ ॥ चउतीसजिणाइसया एए मे वण्णिआ समासेणं, दितु मम जिणवसभा सुअनाणं बोहिलाभं च ॥ १३ ॥

(पञ्चत्रिंशज्जिनवाणीगुणस्तवनम्)

जोअणगमद्धमागह सव्वभासाणुवाइणिं वाणिं, पणतीसपवरगुणकित्तणेण थुणिमो जिणंदाणं ॥ १ ॥ मेहमणोहरसुगुहिरनिग्घोस १ वस-

धंससोहिल्लं, २ मुहुमुहुरमालओसियपमुहरायरायं भवविरायं ३ ॥ २ ॥ सक्कयपमुहसलक्खण, सक्कारजुअप्पुडक्खरपयाई, गामाण......चउ-वचारपरं ४ उदात्तसरं ५ ॥ ३ ॥ पडिरवपूरिअगयणंइ ६ सरलणु-कूलत्तओ सुदक्खिवण्णं ७ इअ सत्त सद्दअइसय.......सामि जिण-वयणं ॥ ४ ॥ तह अत्थासय अडवीसअइसयं अप्पगंथसुमहत्थं १ अवाहयाभिधेयं पुव्वावरचक्क अविरोहा ॥ ५ ॥ सिद्धत्थसूइसिट्ठ सिट्ठं व..........उत्तमाविक्खं ३ परदूसणाविसयओ अवहरिन्नुत्तराइसया ४ ॥ ६ ॥ ससय असभवेणा सदिद्धं ५ सोअजणमणाइहरं ६ देस-द्धाइ पत्थावुचिअ ७ उदिअत्थतत्तपरं ८ ॥ ७ ॥ अविकिण्णपसरि-अमसदिद्ध थिकारातिवित्थरविओगा वरसंवंधपसरणा ९ मिहपइवक्काइ सकंखं १० ॥ ८ ॥ अइमिद्धमहुरिमगुणं सुहियं सव्वेसिं घयगुडाइव्व ११ नियविसए कयसोआरलोअवितिथिणअच्छरिअ ॥ ९ ॥ जमगा-इगुणविसेसो अतुच्छ अभिधेअओ वुदारत्थं अप्पयपरभूमि अणुसारि देसणाइहिं अभिजायं ॥ १० ॥ तिहुअणपरससणिज्ज परममावेहय च अविलंबं, १७ सथुइपरनिंदरहिअ १८ धम्मत्थब्भासपडिवद्धं ॥११॥ लिंगवयणकालतिए परुक्खपच्चक्खवकारगाज्झत्थो, उवणयवयणचउक्के अविपरीअत्थ अतुरिअं च ॥१२॥ पत्थिअवत्थिसरूवा वण्णणाणेगजाइ सुविचितं २२ चत्तपयवण्णवक्क २३ वयणतरओ विसेसजुअ ॥१३॥ अभिधेएनणभंती पविब्भमोणादरो अविक्खेवो, किलिकिंचिय मिच्छा-भय रोसायसुजुगवमसइ्करणं च ॥ १४ ॥ इअ विब्भामाइमण-दोसविरहिअ सयसाहसोविअं आ अत्थसिद्धिमच्छिन्नरे उमायासरहिअं २६ च ॥ १५ ॥ इअ सव्ववयणपणतीसइसयसारिअवओ जिणो थुणिओ. सद्धम्मकिंचिविज्जाणदयरं.......... हेउगिरं ॥ १६ ॥

(वीरस्य चतुस्त्रिंशदतिशयस्तवनम्)

थोस्सामि जिणवरिंदे, अब्भुअभूएहिं अइसयगुणेहिं, ते तिविहा साहाविय, कम्मक्खइआ सुरकया य ॥ १ ॥ देहे विमलसुगंधं, आमयपासेहिं वज्जिअं अरअं, रुहिरं गोक्खीराभं, निव्विस्सं पंडुरं मंसं ॥ २ ॥ आहारा नीहारा, अद्दिस्सा मंसचक्खुणो, सययं नीसासो अ सुगंधो, जम्मप्पभिई गुणा एए ॥ ३ ॥ खित्ते जोयणमित्ते, जं जियकोडीसहस्साओ माणं, सव्वसमासाणुगयं, वयणं धम्मावबोहकरं ॥ ४ ॥ पुव्वुप्पन्ना रोगा, पसमंती ईयवयरमारीओ, अइवुट्ठी-अणावुट्ठी, न होइ दुब्भिक्खडमरं वा ॥ ५ ॥ देहाणुमग्गलग्गं दीसइ, भामंडलं दिणयराभं, एए कम्मक्खइया, सुरभत्तिकया इमे अन्ने ॥ ६ ॥ चक्कं छत्तं रयणज्झओ अ, सेयवरचामरा पउमा, चउमुहपायारतियं सीहासण दुंदुही असोगो ॥ ७ ॥ कंटय हिट्ठा हुत्ता, ठायंति अवट्ठियं च नहरोमं, पंचेव इंदियत्था, मणोरमा हुंति छप्पिरिऊ ॥ ८ ॥ गंधोदगं च वासं, वासं कुसुमाण पंचवण्णाणं, सउणा पयाहिणगई, पवणणुकूलो नमंति दुमा ॥ ९ ॥ भवणवइ-वाणमंतर-जोइसवासी-विमाणवासी-अ, चिट्ठंति समोसरणे, जहण्णयं कोडिमित्तं तु ॥ १० ॥ इंतेहिं जंतेहि, बोहिनिमित्तं संसयत्थीहिं, अविरहियं देवेहि जिणपयमूलं सयाकालं ॥ ११ ॥ चउद्दा जम्मप्पभिइ, इक्कारस कम्मसंखए जाए, नव दस य देव जणिए चउतिस अइएस वंदे ॥ १२ ॥ चउतीसजिणाइसया एए मे वण्णिआ समासेणं, दिंतु मम जिणवसभा सुअनाणं बोहिलाभ च ॥ १३ ॥

(पञ्चत्रिंशज्जिनवाणीगुणस्तवनम्)

जोअणगमद्धमागह सव्वभासाणुवाइणिं वाणि, पणतीसपवरगुणकित्तणेण थुणिमो जिणंदाणं ॥ १ ॥ मेहमणोहरसुगुहिरनिग्घोस १ वंस-

धंससोहिल्लं, २ मुहुमुहुरमालओसियपमुहरायरायं भवविरायं ३ ॥ २ ॥ सक्कयपमुहसलक्खण, सक्कारजुअप्पुडक्खरपयाई, गामाण......चउवचारपरं ४ उदात्तसरं ५ ॥ ३ ॥ पडिरवपूरिअगयणंइ ६ सरलणुकूलत्तओ सुदक्खिवण्णं ७ इअ सत्त सद्दअइसय.......सामि जिणवयण ॥ ४ ॥ तह अत्थासय अडवीसअइसयं अप्पगंथसुमहत्थं १ अवाहयाभिधेयं पुव्वावरचक्क अविरोहा ॥ ५ ॥ सिद्धत्थसूइसिद्ध सिद्धं व..........उत्तमाविक्खं ३ परदूसणाविसयओ अवहरिन्नुत्तराइसया ४ ॥ ६ ॥ ससय असंभवेणा सदिद्धं ५ सोअजणमणाइहरं ६ देसद्धाइ पत्थावुच्चिअ ७ उदिअत्थतत्तपरं ८ ॥ ७ ॥ अविकिण्णपसारिअमसदिद्ध धिकारातिवित्थरविओगा वरसंवंधपसरणा ९ मिहपइवकाइ सकख १० ॥ ८ ॥ अइमिद्धमहुरिमगुण सुहियं सव्वेसिं घयगुडाइव ११ नियविसए कयसोआरलोअवित्थिण्णअच्छरिअं ॥ ९ ॥ जमगाइगुणविसेसो अतुच्छ अभिधेअओ वुदारत्थं अप्पयपरभूमि अणुसारि देसणाइहिं अभिजायं ॥ १० ॥ तिहुअणपरससणिज्जं परममावेहय च अविलंव, १७ सथुइपरनिंदरहिअ १८ धम्मत्थब्भासपडिवद्धं ॥११॥ लिंगवयणकालतिए परुक्खपच्चक्खवकारगाज्झत्थो, उवणयवयणचउक्के अविपरीअत्थ अतुरिअ च ॥१२॥ पत्थिअवत्थिसरूवा वण्णणाणेगजाइ सुविचित २२ चत्तपयवण्णवक्क २३ वयणतरओ विसेसजुअ ॥१३॥ अभिधेएमणभती अविब्भमोणादरो अविक्खेवो, किलिकिंचिय मिच्छाभय रोसायसुजुगवमसदकरणं च ॥ १४ ॥ इअ विब्भामाइमणदोसविरहिअ मत्तसाहसोवेअ आ अत्थसिद्धिमच्छिन्नहेउमायासरहिअं २६ च ॥ १५ ॥ इअ मधवयणपणतीसइसयसाहिअवओ जिणो थुणिओ. सद्दम्मकित्तिविज्जाणंदयरं.......... हेउगिरं ॥ १६ ॥

जियमोहमहावीरो चरमो 'तित्थंकरो' 'महावीरो' ।
असमसमो असमसमो निरंतरं कुणउ कल्लाणं ॥ १ ॥

श्रीवीरसप्तविंशतिभवस्तोत्रम्

तिसलासिद्धत्थसुअंसीहंकं सत्तहत्थ कणयनिहं, भवसत्तावीसकहणेणं, वद्धमाणं थुणामि जिणं ॥ नयसारो सुग्गामे पढमे १ वीए भवे पहु ! सुहम्मे २ । तइए मरिइ तिदंडी ३, विणिआइ चउत्थए वंभे ४ ॥ कुल्लागि कोसिअदिओ, पंचमि ५ संसारचउरछट्ठभवे ६ । थूणाइ पूसमित्तो सत्तमि ७ सोहम्मि अट्ठमए ८ ॥ नवमे अग्गिज्जोओ, चेइअगामम्मि ९ दसमि ईसाणे १० । इगदसमि अग्गिभूइ, मंदिरि ११ बारसमि सणकुमारो १२ ॥ तेरसमे १३ सेअविआ, भारद्दाओ महिंद चउदसमे १४ ॥ रायगिहि थावरदिओ, पनरसमे १५, सोलसे वंभे १६ ॥ रायगिहि विस्सभूई, सत्तरसि १७ अट्ठारसे महासुक्को १८ । गुणवीसे पोअणपुरि, तिविट्ठु १९ वीसे तमतमाए २० ॥ पहु ! इगवीसे सीहो, २१ पंकाइ दुवीसमम्मि २२ तेवीसे । मूआपुरि पिअमित्तो चक्की २३, सोहम्मि चउवीसे २४ ॥ मणवीसे छत्तगाइ, नंदणो २५ पाणयम्मि छवीसे २६ । खत्तियकुंडग्गामे, सत्तावीसे महावीरो २७ ॥ मगसिरवइदसमि वयं कत्तिअमावसि सिवं सिआसाढे, छट्ठि चुइ विसाहदसमी नाणु भवो चित्ततेरसिए । इअसिरिवीरजिणंदो थुणिओ भत्तिब्भरनमिरदेविंदो, वरधम्मकितिविद्धिं विज्जाणं देउ मह सिद्धिं ॥

श्रीमहावीरस्तोत्रम्

जइज्जा समणो भयवं, महावीरे जिणुत्तमे । लोगनाथे सयंबुद्धे, ॥ १ ॥ वच्छरं दिण्णदाणोहे संपूरियजिणासए । नाणत्तयसमाउत्ते, पुत्ते सिद्धत्थराइणो ॥ २ ॥ चिच्चा रज्जं च रट्ठंच,

पुरं अंतेउरं तहा । निक्खमित्ता अगाराओ, पव्वइए अणगारियं ॥३॥ परीसहाण नो भीए, भेरवाण खमाखमे । पंचहा समिए गुत्ते, बंभयारी अकिंचणे ॥ ४ ॥ निम्ममे निरहंकारे, अकोहे माणवज्जिए । अमाए लोभनिम्मुक्को, पसते छिन्नबंधणे ॥ ५ ॥ पुक्खरं व अलेवे अ, सखो इव निरंजणे । जीवे वा अप्पडिग्घाए, गयणं व निरासए ॥ ६ ॥ वाएवा अपडिबद्धे, कुम्मो वा गुत्तइंदिए । विप्पमुक्को विहंगुव, खग्गिसिंगव्वएगगे ॥ ७ ॥ भारंडे वाऽपमत्ते य, वसहेवा जायथामए । कुंजरो इव सोंडीरे, सिंहो वा दुद्धरिस्सए ॥ ८ ॥ सागरो इव गंभीरे, चंदो वा सोमलेसए । सूरो वा दित्ततेउल्ले, हेमं वा जायरूवए ॥ ९ ॥ सव्वंसहे धरित्ति व, सायरिंदुव सच्छहे । सुट्ठु हुअहुआसव, जलमाणे य तेयसा ॥ १० ॥ वासी चंदणकप्पे य, समाणे लेट्ठुकंचणे । समे पूयावमाणेसु, समे मुक्खे भवे तहा ॥ ११ ॥ नाणेण दंसणेणं च, चरित्तेणयणुत्तरे । आलएण विहारेणं, मद्दवेणज्जवेण य ॥ १२ ॥ लाघवेणं च खंतीए, गुत्तीमुत्ती अणुत्तरे । संजमेण तवेण च, संवरेण मणुत्तरे ॥ १३ ॥ अणेगगुणमयाइण्णे, धम्मसुक्काण झायए । घाइकम्मखएण संजाए, अणंतवरकेवली ॥ १४ ॥ वीयराए य निग्गंथे, सव्वन्नू सव्वदंसणे । देविंददाणविंदेहिं, निव्वत्तियमहामहे ॥ १५ ॥ सव्वभासाणुगाए य, भासाए सव्वसंसए । जुगवं सव्वजीवाणं, छिंदिंते भिन्नगोयरे ॥ १६ ॥ ठिए सुरे अ निस्सेसकारए, पावपाणिणं । महव्वयाणि पंचेव, पण्णविज्जा सभावणे ॥ १७ ॥ संसारसायरे वुड्डजंतुसंताणतारए । भावओ देसियं तित्थं, संपत्ते पंचमिं गइं ॥ १८ ॥ से सिवे अयले निच्चे, अरुए अजरामरे । कम्मप्पवंचनिम्मुक्के, जए वीरे जए जिणे ॥ १९ ॥ से जिणे वद्धमाणे य, महावीरे महायसे । अनन्तदुक्ख-

खिण्णाणं, अम्हाणं देउ निव्वुइं ॥ २० ॥ इअ परमपमोआ संथुओ वीरनाहो, परमपसमदाणा देउ तुल्लत्तणं मे । असमसुहदुहेसुं सग्गसिद्धिभवेसुं, कणयकयवरेसुं सत्तुमित्तेसु वा वि ॥ २१ ॥

पयडीव सइ पहाणं, सीसेहिं जिणेसराण सुगुरूणं ।
वीरजिणथुयं एवं, पढउ कयं अभयसूरीहि ॥ २२ ॥

परिशिष्ट नं० ३–वीरस्तुतिः–संस्कृतस्तोत्रविभागे

नमदमरशिरोरुहस्रस्तसामोदनिर्निद्रमन्दारमालारजोरञ्जिताङ्घ्रे धरित्रीकृतावन वरतम संगमो दारतारोदितानङ्गनार्यावलीलापदेहेक्षितामोहिताक्षो भवान् । मम वितरतु वीर निर्वाणशर्म्माणि जातावतारो धराधीशसिद्धार्थधाम्नि क्षमालंकृता,–वनवरतमसङ्गमोदारतारोदितानङ्गनार्य्यांव लीलापदे हे क्षितामो हिताक्षो भवान् ॥१॥ समवसरणमत्र यस्याः स्फुरत्केतुचक्रानकानेकपद्मेन्दुरुक्चामरोत्सर्पिसालत्रयी, सदवनमदशोकपृथ्वीक्षणप्रायशोभातपत्रप्रभागुर्वराराट् परेताहितारोचितम् । प्रवितरतु समीहितं सार्हतां सहतिर्भक्तिभाजां भवाम्भोधिसम्भ्रान्तभव्यावली सेविता–सदवनमदशोकपृथ्वीक्षणप्रा यशोभातपत्रप्रभागुर्वराराट्परेताहितारोचितम् ॥ २ ॥ परमततिमिरोग्रभानुप्रभा भूरिभंगैर्गभीरा भृशं विश्ववर्य्ये निकाय्ये वितीर्य्यात्तरा, महति मतिमते हि ते शस्यमानस्य वासं सदा तन्वतीतापदानन्दधानस्य सामानिनः । जननमृतितरङ्गनिष्पारसंसारनीराकरान्तर्निमज्जज्जनोत्तारनौर्भारतीतीर्थकृत्, महति मतिमतेहितेशस्यमानस्य वा संसदातन्वती तापदानं दधानस्य सा मानि नः ॥ ३ ॥ सरभसनतनाकिनारीजनोरोजपीठीलुठत्तारहारस्फुरद्रश्मिसारक्रमाम्भोत्रहे, परमवसुतरङ्गजा रावसन्नाशितारातिभाराजिते भासिनी हारतारा

वलक्षेमदा । क्षणरुचिरुचिरोरुचञ्चत्सटासंकटोत्कृष्टकण्ठोद्भटे संस्थिते भव्यलोकं त्वमम्बाम्बिके, परमव सुतरां गजारावसन्ना शितारातिभा राजिते भासिनीहारतारावलक्षेऽमदा ॥ ४ ॥

वीरस्तवः

त्रिजगदीक्षण ! केसरिलक्षण ! क्षणमपि प्रभुवीर ! मनोगिरौ ।
गुणगणान्मम मास विरज्यतामुदयिता दयितादयि तावकात् ॥१॥

भृशमदभ्रमदभ्रमदभ्रमप्रथमनः सुमनः सुमनः स्तुतः,
असुमतः सुमतः सुमतोऽवदातपरमः परमश्वरमो जिनः ॥ १ ॥

चरणकोटिविघट्टनचञ्चलीकृतसुराचल ! वीर ! जगद्गुरो !
त्रिभुवनाशिवनाशविधौ जिनप्रभवते भवते भगवन् ! नमः ॥ १ ॥

जयति यः सुरसद्मसमानहृत्, जगति वीरजिनो जगतीसुहृत् ।
भवतु भीतिहरो मम सर्वदा, स शरणं शरणं गुणसम्पदाम् ॥१॥
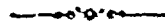
महानन्दशुद्धाश्रित देवदेव, महीनाथसिद्धार्थपुत्रं पवित्रम् ।
यथाकामित दत्तवार्षिक्यदान, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिनं वर्धमानम् ॥

चतुष्षष्ठीदेवेन्द्रयोगीन्द्रवन्द्य, सुधाशालिसशुद्धवाक्यं वरेण्यम् ।
दयासागरं शुद्धसन्मार्गयानं, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिनं वर्धमानम् ॥

अनन्तोरुज्ञानचारित्रलीनं, जरारोगसम्मोहसन्तापहीनम् ।
क्षणीकृतनिर्मूलमायावितानं, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिनं वर्धमानम् ॥

भवस्वापपाथोधिनिर्मग्नसक्तं, सदा कर्मसंप्रपञ्चप्रमुक्तम् ।
प्रचण्डप्रतापेन भास्वत्समानं, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिनं वर्धमानम् ॥

मनोहारिकल्याणवर्ण जिनार, विदीर्णान्तरारिप्रणालि कृपालम् ।
गभीरं जिनार्हैर्गुणैर्वर्धमानं, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिनं वर्धमानम् ॥

जगज्जीवसन्दोहजीवादिभूतं, भवभ्रान्तिरिक्तं नमन्नाकिभूतम्।
लसत्स्वर्गिनिर्वाणलक्ष्मीनिदानं, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिनं वर्धमानम्॥

इत्थं भक्तिवशेन मुग्धमतिना श्रीवर्धमानः स्तुतः, प्रोद्यद्देहपवित्रकान्तिकलितः **श्रीज्ञातपुत्रो** जिनः। याचे नैव कलत्रपुत्रविभवं नो कामभोगश्रियं, किन्त्वेकं परमोत्तमं शिवपदं श्रीबालचन्द्रार्चितम्॥

(वीरजिनस्तवनम्)

विश्वश्रीद्ध ! रजश्छिदे गरिमदत्यादर्पनाशे क्षमं,
सद्वाचं स्तुवयाश्रवं परिहरन् क्ष्मासूर्य ! दुःखक्षमम्।
निस्तन्द्रं तपनद्युसुं दुरितसूदारिक्थ ! वीर ! स्थिरं,
रम्यश्रीविरसोऽसकामनिकृतिं मद्रालयं शङ्करम्॥ १॥

[चतुर्गुनमाङ्गलं चक्रम्]

तनुते यन्नुतिं जम्भजिद्राजी मुदिता द्रुतम्
तं स्तुवे वीततन्द्राजिभयं भावेन भास्वता॥ २॥ [मुशलम्]

ततयास्तनृणां मुक्त्यै, या नीरुक्तनवे नता।
तारभाभार तापास स पाताक्षर रक्ष ताः॥ ३॥ [शूलम्]

ततकष्टावलीलावलीलाढ्य श्रीवरा रताः।
तारराव श्रुतौ वीर रवीद्धाभ सुरास्तव॥ ४॥ [शङ्खः]

तज्ज्ञासदमलेक्ष्वाकुवंशजेयुः शमिस्तव।
वरेण्यानन विश्वेश, शरणं शुशुखेच्छवः॥ ५॥ [श्रीकरी]

तञ्शमीश विशस्त्वालमवदन्त घनारव।
वधवल्ल्यां वन्हिवद्यो, वरिवर्त्सि वशी वरः॥ ६॥ [चामरम्]

तरणे चिररूढामतमस्सु चरणादरः।
रसिकस्तव भूयासं, सेवनेऽनल्पमानसः॥ ७॥ [हलम्]

तत्यजेऽत्र तकाश्चण्डपार्श्वेमिन्द्रस्तुताहस ।
सर्वदोषैस्तत्क्षयाशां, शान्ताघ ददतो विशाम् ॥ ८ ॥ [भङ्गम्]

तरीवाचरसि ज्ञानोदारनिःशेषभूस्पृशाम् ।
शान्तितुष्टिकरापारभवाब्धौ विश्ववन्दित ॥ ९ ॥ [धनुः]

तम्यतिक्रम्यतेऽत्यन्तमोहदुःखमयीशितः ।
तवेन सेवयाऽवश्यं, भवैः स्थिरशिवस्थितः ॥ १० ॥ [शम्यां खड्गः]

तमहं विनमामीततन्द्र वीर सतां मत ।
तपो यस्त्वं व्यधा विश्वविचं वीतरिपोऽतमः ॥ ११ ॥ [शक्तिः]

तपः शमरमारामतर श गुणसत्तम ।
मम गुप्तश्रिताधीश ! मरणक्लेशहृद्दिश ॥ १२ ॥ [छत्रम्]

तविषे त्वसत्यमोहाशय चारुरुचायशः ।
शक्राली त्वन्नतेर्ज्ञानभासुराऽपपरा शुभीः ॥ १३ ॥ [रथपदम्]

तवीत्यवीतसाराज्ञा प्राणिनां प्रास्तभीः शुभा ।
भाराशेऽशेषभावारीन् शिवदा तव रंहसा ॥ १४ ॥ [पूर्णकलशा]

तत्यसार तरसा ना त्वयि राज्य दधीरसा ।
साराद्भुतेऽमोहधीरा रज्यते वीर मोदतः ॥ १५ ॥ [ऊर्ध्वभ्रमः]

तरसाऽसमोहत्वेत तत्वेद्द प्रशमान्वित ।
तन्निमान्यपनीनात ततानीशाम्यनारत ॥ १६ ॥ [मुसलम्]

तथादी यन्त्रते साऽनुकम्प य. साऽप भावतः ।
नम नानागुणसाऽन्यो, नन्यो नोदितैनसः ॥ १७ ॥ [हार.]

तत्पर सतत [illegible] त्वां दारितांहसम् ।
न[illegible]ऽपसंगर, स्तोऽनन्तमद मत ॥ १८ ॥ [त्रिशूलम्]

नमाऽनाश्रितशर्मासु, नेहमन्ददयान्वित ।
तथा त्वत्तः सुरेश त्वं, केतुबोधिधियं हितः ॥ १९ ॥ [वज्रम्]

यस्तेऽष्टादशचित्रचक्रविमलं वीर ! स्तवं संश्रियं,
भक्त्यैवं कुलमण्डनोऽतत महाज्ञानातनुश्रीशुभ !
मुक्तश्रीयुतचन्द्रशेखरगुरुप्राज्यप्रसादादमुं,
तं तातात वरः स शान्ततम शं भासा ततः सन्ततम् ॥ २० ॥
[परिधिकाव्यम्]

चक्राऽयोमुखशूलशंखसहिते सुश्रीकरीचामरे,
सीरं भल्लशरासने असिलता शक्त्यातपत्रे रथः ।
कुम्भार्धभ्रमपङ्कजानि च शरस्तस्मात् त्रिशूलाशनी,
चित्रैरेभिरभिष्टुतः शुभधियां वीर ! त्वमेधि श्रिये ॥ २१ ॥

इति वीरस्तवः

(अथ वीरस्तवनम्)

चित्रैः स्तोष्ये जिनं वीरं, चित्रकृत् चरितं मुदा ।
प्रतिलोमानुलोमाद्यैः, खड्गाद्यैश्चातिचारुभिः ॥ १ ॥

वन्देऽमन्ददमं देवं, यः शमाय यमाशयः ।
नायेनघ घना येनापाकृता ममताकृपा ॥ २ ॥
[प्रतिलोमानुलोमपादः]

दासतां तव भागारा, न चेयायमतामस ।
समतामययाचेन रागाभावलतां सदा ॥ ३ ॥ [अनुलोमप्रतिलोमः]

वरदानवगादिन्द्र न्वदिरावनदारव ।
याज्यदेव भयान्यास सन्याया भवदेज्यया ४॥[अर्धप्रतिलोमानुलोमः]

श्रीद वीर विरेभ त्वं दमिताक्ष गताऽशुभ ।
वीभाक्षमारम्भितारे रक्ष मां सदरं गवि ॥ ५ ॥ [अर्धभ्रमः]

गीरता जनता रन्हे ! धीरतास्थिरतारसा ।
सारतारश्रुताऽवन्ध्या, सुरताजनतावकी ॥ ६ ॥ [मुरजबन्धः]

ये पश्यन्ति तवेहास्यारविन्दं भक्तिबन्धुराः ।
न पतंति भवे शस्यास्ते विदो भगवन्नराः ॥ ७ ॥ [गोमूत्रिका]

नमासाररसामान मारिताक्षक्षतारिमा ।
सातामयायामतासारक्षया म महाक्षरः ॥ ८ ॥ [सर्वतोभद्रः]

तिर्यग्नृनरसुराकीर्णा भासतेननते समा ।
त्वन्माहात्म्यात्कृताश्चर्यं या श्रिता तनता श्रिया ॥ ९ ॥ [पद्मम्]

रेगौराङ्गोरुगीर्गङ्गगौरीगुरुररोगरुक् ।
गोरंगागाररागारिंरीरोरै गुरु गिरिम् ॥ १० ॥ [द्व्यक्षरः]

ललल्लोलल्लीलाल ततता तितिता तते ।
ममागमागमसुमाऽननानेनोननानन ॥ ११ ॥ [एकाक्षरपादः]

पफविफापफफौप. पेफाफोफफफेफिफम् ।
गफफागफफोफैफफफुः फौकफफाफफाम् ॥ १२ ॥ [एकाक्षरः]

गरभ्मौ तप [illegible]तादिय चारुमरोवरम् ।
पुनः सुरनरीनाना नुलभ नय शासनम् ॥ १३ ॥ पुन [असंयोगाक्षरः]

मारजि पुष्पवन्नाया [illegible]पसौक्तिकमुक्तिद (!)
पापमेकुर्नरचिता. योभोगानन्तमालना ॥ १४ ॥

स्मार [illegible]प्सी [illegible]तोऽङ्गना ।
[illegible] सुरदि पान्तैवाग्विनेन गरिँरना ॥ १५ ॥ [ह्राम्यां [illegible]]

श्रीसिद्धार्थकुलव्योमदिवाकर ! निरञ्जन !
न के क्षतैकान्तवादिमतं तीर्थं तव श्रिताः ॥ १६ ॥ [मुशलम्]
का या त्वयि भव्याली धन्या धत्तेस चेतसा ।
मता तामरसाकाममकासा गङ्गसागरम् ॥ १७ ॥ [त्रिशूलम्]
त्रिशलाकुक्षिपाथोजराजहंस ! जगद्विभो !
भोगास्तृणमिव त्यक्तास्त्वया मोक्षदिदृक्षया ॥ १८ ॥ [हलम्]
सुरासुरनरास्तुभ्यं, नमस्यन्ति जिनोत्तम !
मनःप्रसादसन्दर्भे (?) दलिताऽशुभवासनाः ॥ १९ ॥ (धनुः)
कथं कर्तुं जनो मोहव्यपोहमहह क्षमः ।
मनसा सादरं यस्त्वां, न स्तौति तिमिरापहम् ॥ २० ॥ (शरः)
बाल्ये मेरुशिरः कम्पसम्पत्प्रथितविक्रमः ।
मनोजाऽनोकहव्याल ! मम स्वामी भवाऽऽभवम् ॥२१॥ (शक्ति)
मानितायक्रमामार रमामाकन्दमाधव !
वधमार्गे ममाकास सकामा धीः प्रतानिमा ॥२२॥ [अष्टदलकमलम्]
वन्ययान ! घनस्वान ! ध्यानमौनकनद्धन !
ज्ञानस्थान ! जिन ! श्रीन ! घनमेनः'खनस्व'नः ॥ २३ ॥
[षोडशदलकमलम्]
जय हेमवपुः श्रीक ! जगन्मोहापहारक !
जराहिवीनसिंहाङ्क ! जन्मनीरधिनाविक ॥ २४ ॥
[स्तुत्यनामगर्भ बीजपूरम्]

तुभ्यं नमोऽतुलनयस्थितिकाय भीतिवन्यासु पावक ! सुरस्तुत ! वीर ! नेतः । विद्यालताविपुलमण्डप ! हेमरूप ! कल्याणधीकरणदक्ष नतेदमीन ॥ २५ ॥ [हारबन्धः]

भग्नाकृत्यपथो जिनेश्वरवरो भव्याब्जमित्रः क्रिया-
दिष्टं तत्वविगानदोषरहितैः सूक्तैः श्रवस्तर्पणः ।
जन्माचिन्त्यसुखप्रदः सुरचितारिष्टक्षयो वः सदा,
दाता शोभनवादिधीः कजदलायामेक्षणः संविदा ॥ २६ ॥

[कविनामगुप्तः]

श्रीमद्धामसमग्रविग्रह मया चित्रस्तवेनाऽमुना,
नूतस्त्व पुरुहूतपूजित! विभो! सद्य प्रसद्येधि माम् ।
ख्यातज्ञातकुलावतंस! सकलत्रैलोक्यकूपान्तर-
स्फारक्रूरतरज्वरसरतरत्संरब्धरक्षारत. ॥ २७ ॥

वीरस्तवः

मुक्तोमन्दोदयोर्धी शमद कल्कलाऽऽसातमोहारिदोऽश्री-
मुक्तोमन्दोदयोर्धीश मदकल्कलासाऽनमो हारिदोश्रीः ।
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयभयासामहीनः सुधीरा-
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयभया माम हीन सुधीर ॥

भवरकुण्डनराधिपनन्दनं, परमहामतपङ्कविकाशकम् ।
कृतसुराधिपमोक्षमहोत्सव, चरमतीर्थपतिं नुतगं नुवे ॥ १ ॥

कणयसमसरीरं मोहमोहेगवीरं, दुरियरयसमीरं पावदावग्गिनीरम् ।
सुगइसिवपसतीरं लोअलच्छीहारं, पणमह जिणवीरं मेरुसेलेन्दधीरम् ॥

तिजगजिणसमाणं सयललोगप्पमाणं, दलियमयणमाणं सद्गुणेहिं निहाणम् ।
अमरगणमाणं सोममलप्पमाणं, जिणवरमसमाणं संथुवे वद्धमाणम् ॥

भक्तितो मतिजुषो भजन्ति यं, वर्धमानमहमानमामि तम् ।
जन्तुजाततमसो निशातनं, वर्धमानमहमानमामितम् ॥

श्रीवर्धमान नतमानमशोध यन्ति, स्वैरं यशांसि भुवनं तव शोधयन्ति ।
बुध्या चकोरनिकरा शतशो धयन्ति, चन्द्र द्युतामपरदेवयशोधयन्ति ॥

मोहादतीतस्य तवेश! वीर! सुधीर! सौभाग्यमुदग्रमायात् ।
मुक्त्यंगनालोभन! यः स्तुते स, सुधीरसौ भाग्यमुदग्रमायात् ॥१॥

(वीरस्य सप्तविंशतिभवोत्कीर्तनस्तवनम्)

पूर्वं त्वं नयसारभूपति १ रभूः सौधर्मवृन्दारक २ श्च्युत्वा नाम मरीचि ३ रत्र सुमनाः स्वेपञ्चमे ४ कौशिकः । ५ देवः प्राग्दिवि ६ पुष्पमित्र ७ इति यः सौधर्म्मकल्पे सुरो ८ ऽग्निद्योत ९ स्त्रिदशो द्वितीयतविषे १० विप्रोऽग्निभूत्याव्हयः ॥ ११ गीर्वाणस्तु सनत्कुमारतविषे १२ विप्राग्रणीर्नामतो, भारद्वाजगृही १३ चतुर्थतविषे लेखो १४ द्विजःस्थावरः । १५ नाकी पंचमके सुरालयवरे १६ श्रीविश्वभूतिर्नृपः, १७ शुक्रे निर्जरकुंजरो १८ ऽत्र भरते विष्णुस्त्रिपृष्ठोऽभवः १९ ॥ सप्तम्यां भुवि नारको २० मृगपति २१ स्तुर्यावनौ नारकी, २२ चक्री च प्रियमित्रकः २३ सुरवरः शुक्रे २४ नृपो नन्दनः २५ । श्रीपुष्पोत्तरके विमानकवरे श्रीप्राणतस्वर्गगेनाकी २६ कीर्तितसप्तविंशतिभवो भूयाः स वीरः! श्रिये ॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

(शासनाधीशवर्द्धमानजिनस्तवनम्)

श्रीत्रैशल्य! श्रितशुद्धजापकलो भवन्तं जिन! यो जजाप । महामतिंरोपितसर्वपापलतो न चंकोऽपि नरः शशाप ॥ १ ॥ विलासकृद्दूयस्य

परबलरणजयभट ! जय परमपदसदन ! ॥८॥ इति भक्तिरचित-विमलाक्षरमालया महावीर ! शुभभावदेवसूरिस्तुत ! केवलमक्षरं देहि ॥९॥

त्वया जितान्यदेवर्द्धिर्वर्धमानप्रभावत. । त्वयि देवाधिदेवत्वं वर्द्धमान ! प्रभावतः ॥ १ ॥ जातलक्ष्मी तमो हर्तु, वर्द्धमान ! प्रभो ! दयाम् । देहिमद्य विधेहि त्व वर्द्धमानप्रमोदयाम् ॥ २ ॥ वीरो जिनपतिः पातु, तन्वानः काञ्चनश्रियम् । विभ्रन्नम्रेषु निस्सीमां तन्वा नः काञ्चन श्रियम् ॥ ३ ॥ वरिवस्यति यः श्रीमन्महावीरं महोदयम् । सोऽश्नुते जितसम्मोहमहावीरं महोदयम् ॥ ४ ॥

श्रीवीरजिनस्तवनम्

जय श्रीसर्वसिद्धार्थ ! श्रीवीर ज्ञातनन्दन ! सुमेरुधीर ! गम्भीर ! महावीर ! जिनेश्वरः । ॥ १ ॥ योऽप्रमेयप्रमाणोऽपि, सप्तहस्तप्रमोपितः; पूर्णेन्दुवर्ण्यवर्णोऽपि स्वर्णपर्णसवर्णकः । ॥ २ ॥ सदृशं कौशिके शक्रे, सर्पे च क्रमसंस्पृशि । पीयूषवृष्टिसृष्ट्या यं, दृष्ट्वा दिष्ट्या विदुर्बुधाः ॥ ३ ॥ विष्टपत्रितयोत्संगरङ्गदुत्तुङ्गकीर्तिना, सनाथं येन नाथेन, विश्वं विश्वम्भरातलम् ॥ ४ ॥ यस्मै चक्रे नमः सेवाहेवाकोत्सुकमानसैः । वीराय गतवैराय, मर्त्यामर्त्यासुरेश्वरैः ॥ ५ ॥ यस्माद्द्वेषादयो दोषाः, क्षिप्रं क्षीणाः क्षमाखनेः । दोषा पूषमयूखेभ्य, इव हर्यक्षलक्षणात् ॥ ६ ॥ यद्देहद्युतिसन्दोहसन्देहितवपुर्दधौ, रविः खद्योतपोतद्युत्याडम्बरविडम्बनाम् ॥ ७ ॥ भविनां यत्र चित्तस्थे, स्युर्धीवृद्धिसिद्धयः । तं वर्धमानमानौमि, वर्धमानसुभावन. ॥ ८ ॥ इति यस्ते वास्तवं पठति वीर ! जिनचन्द्र ! जातरोमाञ्चः । यात्यपवर्गं स द्रुतमखर्वगर्वारिवर्गजयी ॥९॥

॥ १ ॥ संयम लेकर समता कीधी, कर्मक्रिया छकछारा। केवलज्ञान प्रकाश भयो जव, लोकालोक निहारा, ॥ २ ॥ सुरनर आवें दर्शनपावें, वाणी अमृतधारा। श्रद्धा प्रतीति प्रकर्ष सुमेधा, नाशे भ्रमजगसारा ॥ ३ ॥ समवसरणमें साहिव वैठे, और है परिषद वारा। जिन वाणी शुभ अमृत सरखी, पीवत पीवन हारा ॥ ४ ॥ साधुसम्पदा सुरनर मोहे, क्षमावान् अणगारा। जिनकी करणी अधिक दीपती, जानत जानन हारा ॥ ५ ॥ कर्मउदयथी यहा प्रभु उपन्यो, पाम्यो कलियुगआरा। ज्ञान सुभट मेजो मुझ तारो, तू है तारणहारा ॥ ६ ॥ कर्म जंजीर पडी पग त्रेडी, चारो चौकीदारा। मोहमतवाल विषयविषफासी, जन्ममरणदु'खभारा ॥ ७ ॥ पर उपकारी विरुद तुम्हारा, आप तिख्या वहु ताख्या। केई अपराधी कर्म दूर कर, पहुंचे मुक्ति मंझारा ॥ ८ ॥ चंडकोशियो नाग उवाख्यो, और नन्दन मनहारा। नन्दीषेण प्रभो! आप अवधारे, और सिंहा अणगारा ॥ ९ ॥ अयवंतो जल रमतो ताख्यो, ताख्यो मेघकुमारा। गोशालो ने जयमाली तारे, तारे तीर्थ चारा ॥ १० ॥ चमंइन्द्र पर शक्रइन्द्र कोप्यो, शरणा लिया तुम्हारा। इत्यादिक प्रभु वहुत उभारे, मे भी सेवक थारा ॥ ११ ॥ हूं सेवक शरणागत थारे, थे छो साहिव म्हारा। ऋषिलालचन्द कर जोडी वंदे, आवागमन निवारा ॥ १२ ॥

(महावीर प्रभुकी तपश्चर्या का जोड)

गोतमस्वामी वुद्धि दें निर्मल, आपहि करो सहाय, श्री महावीरजी जेजे तप कियो, तेहनो करूं जी विचार। वली वली वंदु श्रीवीर सुहामणा ॥ १ ॥ श्रीजिनशासन राय, भव दुख भंजन सुख करे सदा, सेव्या सद्गति थाय, नाम लिया थी पावे सम्पदा, दुर्गति दूर पलाय। वली वली० ॥ २ ॥ वारा वरसे वीरजीने तप कियो, अने वली तेरे पाख। वे कर जोडी सेवक बीनवे, आगमदे साख ॥ ३ ॥ नव चौमासी वीरजीरा जाणिए, एक कियो छ मास। पाचे उणा वली छमास जाणिए, वारे एक-एक मास ॥ ३ ॥ वहत्तर मास क्षमण जग दीपता, छ दोय मासी जाण। तीन अढाईमास दोय २ किया, दोय दोढ मासी वखाण ॥ ४ ॥ भद्र-महाभद्र-शिवभद्र जाणिए, दोय-चउ-दस दिन होय। तिणमें पारणो वीरजीने कियो, इम सोले दिन जोय ॥ ५ ॥ तीन उपवासी प्रतिज्ञा वारमी, वुहा वारे जी वार, दोयसे वेला वीरजीरा गहगह्या,

आयंबिल उनतीस उदार ॥ ६ ॥ नित भोजन वीरजीए नहीं करयो, न लियो चोथो आहार । थोडो तप बेलो कियो, सगलो तप चौविहार ॥ ७ ॥ मनुष्य पशु देवे जे दिया, सह्या परिषह ते आप, दोय घडी उपरान नींद नवी करी, पट् दोय तेरे पाख ॥ ८ ॥ वीरजी कीधा तीनसे पारणा, अने वर्ष उनपचास, इण वले स्वामी केवल पामियो, विचर्या देश मंझार ॥ ९ ॥ बारा परिषद नर नारी सांभले, वीर तणो समाग, सर्वीरोए तप कियो, पद मनु मन हुलास ॥ १० ॥ गणधर ग्यारा जाणिए, चवदा सहस अणगार, सहस छतीस वीरजी रे साध्विया, ते प्रणमूं सुखकार ॥ ११ ॥ लाख श्रावक पडिमाधरे, ऊपर उनसठ हजार, तीन लाख तेहनी श्राविका, अठ्ठुनी सहस अढार ॥ १२ ॥ धन्य त्रिशलादेवी मातने, धन्य सिद्धार्थ राय, ज्ञातनन्दन धन्य जन्मिया, नाम लिया जाय पाप ॥ १३ ॥ गौतम आदिक सातसो केवली, अजिया चउदासौ सार, जिनवर दीक्षित एटला पहुंता मुक्ति मझार ॥ १४ ॥ (कलश) इम वीर जिनवर सकल सुखकर, एहा सुंदर तपस्वी । संयम पाली धर्म गाली ज्ञानी शिरमणी वरी । सेवक तूं जपे वीर जिनवर ! चरण सेऊं तुम तणा । सुणार सागर पदत रागो, टालो स्वामिन् ! दुखमना ॥ १५ ॥

(दीवाली)

मत शुद्ध पाली, वीर० ॥ ७ ॥ ऋषभदत्तने देवानन्दा माता, नयणां निरखी पावें साता, दोऊ मुक्तिगए दुःख दिया टाली, वीर० ॥ ८ ॥ सिद्धार्थराज त्रिशला राणी, साथे सथारो कियो समता आणी, १२ वे देवलोके उपज्या चाली, वीर० ॥ ९ ॥ जिण रातमें वीरे मुक्ति पामी, केवलज्ञान लियो गोतमस्वामी, ज्यारों जापजपो नवकरवाली, वीर० ॥ १० ॥ सुधर्मा स्वामी हुआ पाट धणी, जारी यशकीर्तिने महिमा घणी, जिनमार्ग दियो उजवाली, वीर० ॥ ११ ॥ ज्यारे पाटे जंबू वैरागी, आठराणी परणीने प्रभाते त्यागी। सोला वर्षांमे काटी कर्म जाली, वीर० ॥ १२ ॥ आठों भामिनी वैरागे भीनी, प्रातः पियासाथे दीक्षालीनी, माता पिताने सयम पण लियो झाली, वीर० ॥ १३ ॥ प्रभव पण राजानो वेटो, जिणरो जंबू कवँर से हुओ मेटो, पांचसे सुं वैराग्य पाया तत्काली, वीर० ॥ १४ ॥ वीश जिन सम्मेदशिखर सीझा, अष्टापद गिरनार दोय सीझा, वासुपूज्य सीझा चम्पा चाली, वीर० ॥ १५ ॥ महावीर गए मुक्ति पावापुरी, कार्तिक वदी अमावस्याने मुक्तिवरी, सुनता भणता मंगल माली, वीर० ॥ १६ ॥ दिन दिवालीरोपायो टाणो, रात्रि भोजन पण नहीं खाणो, ज्यारो जापजपो शीलव्रतपाली, वीर० ॥ १७ ॥ गुरुचेलारी जोडी सूर्यशशी, ऋषि रायचंद्र कहैं मारे मनमेवसी, युक्तिसे जोड जोडी टंकसाली, वीर० ॥ १८ ॥

(दिवालीका दिन वडा)

दोहा–भजन करो भगवान् का, गणधर गोतम स्वामी, जग प्रगटे तारन तरन, नित उठ करो प्रणामि ॥ १ ॥ दीवाली दिन आवियो, राखो धर्ममें सीर, गोतम केवल पामियो, मुक्ति गये महावीर ॥ २ ॥ दीवाली का दिन वडा, मत कर मोटे पाप, निन्दा विकथा परहरो, करो जिनजीरो जाप ॥ ३ ॥ दीवाली दिन आवियो ॥ **टेक** ॥ सामायिक पौषध करो, पडिकमणो दोकाल, इम आतम उजवालजो, झूठा मत करो ख्याल ॥ ४ ॥ नव मल्लीने नवलच्छी, देश अठाराना राय, वीर समीपे आविने, दीधा पौषध ठाय ॥ ५ ॥ कार्तिक वदी अमावस्या, टाल्या आतम दोष, भव जीवाने त्यारने, वीर पहुंता मोक्ष ॥ ६ ॥ देवदेवी घणा आविया, लागी जगमग ज्योति। अचरज एक थयो तिहां, रत्ना तणो उद्योत ॥ ७ ॥ मोह कर्मने टालने, ध्यायो शुक्लज ध्यान । अनित्य

पणो मायो हम्यो, पाम्यो केवल ज्ञान ॥ ८ ॥ मोक्ष नगर का दायका, भगवान् श्रीमहावीर, तेहना गुरु आगल हुआ, गौतम स्वामी वजीर ॥ ९ ॥ मोटा जिन शासन धनी, पहोंच्या शिवपुर ठाम । गौतम लब्धि तणा धणी, जगने राख्यो नाम ॥ १० ॥ तिन शरण मंगलीक दिन, नाम जपो महावीर । आरंभ समारंभ छोडिने, निर्मल पालो शील ॥ ११ ॥ वार २ मानुष देही, पामवी नहीं रे गमार, टोरा डोरा रासडी, मंत्र यंत्र निवार ॥ १२ ॥ झाड झपटा मत करो, मत करो पट काय घात, चार जाप जपो भला, मोटी दिवाली की रात ॥ १३ ॥ काया रूपी देहरो, ज्ञान रूप जिन देव, तप सज्झाय संवरकरी, कर सेवा नितमेव ॥ १४ ॥ दया रूपी दिवलो करो, उपर रूपी पात, समकित ज्योति उजाली ने, ज्यों मिथ्या तम नस जात ॥ १५ ॥ उपर रूप करो कोडीयो, ज्ञान रूपी करो तेल, आठ कर्म प्रज्वलित करो, घोर अंधेरो टेल ॥१६॥ घारा हाट गेह जाल्यो, ज्ञान करु नहिं मार, स्तवन रचो जिनराजनो लाधिजय पक्षपरार ॥

मंडणा, विनय विवेक घी घाल ॥ ३० ॥ क्षमारूपी खाजला करो, वैराग्य घृत भरपूर, उपशम मौण घालने, शुद्धमन मोतीचूर ॥ ३१ ॥ भाव दिवाली इम करो, उतरो भवजल पार, जप तप सेवा भावसुं, लाहो ल्यो तुमलार ॥ ३२ ॥ दीवाली दिन जाणिने, धन्य निजघर माही, धर्मध्यान मनआदरो, अजर अमर पद पाही ॥ ३३ ॥ पूजे दिवाली ने दिने, वही लेखनी मसीपात, एम ज्ञानने पिण पूजजो, वाधे पुण्यना ठाठ ॥ ३४ ॥ पर्व दिवाली जाणिने, उजलावे घर हाट, इम तुम व्रत उज्वालजो, दीपे अधिकी वात ॥ ३५ ॥ घर कुटुंब धन बालका, जिम वाल्हा लागे तोय, तैसो नेह करो धर्मसुं, ज्यों मुक्ति सुख होय ॥ ३६ ॥ जाग्या थका खुटका करे, तो वोलो मतिरात, जो असंयति जागसी, करसी छ कायानीघात ॥ ३७ ॥ ध्यान स्वाध्याय भली करो, गुणो वोल ने चाल, आजनो दिनछे मोटको, दीवालो मत घाल ॥ ३८ ॥ पर्व दिवाली जाणने, सार पाशा मत कूट, धर्मध्यान ध्याओ सदा, नफो वर्म नो लूट ॥ ३९ ॥ चैत्र सुदी तेरस दिने, जनम्या श्री वर्धमान, कार्तिक वदी अमावस्या, पाम्या मोक्ष निदान ॥ ४० ॥ मनुष्य जन्म छे दोहिलो, पाम्यो आरज खेत जोग मिल्यो साधां तणो, चेत सके तो चेत ॥ ४१ ॥ सेवाकरो सुगुरु तणी, गाओ ज्ञान घन घेर, दोय घडी शुद्ध भावसुं, नवकरवाली फेर ॥ ४२ ॥ अंग उपागने छेदमे, जीव दया व्रत पाल । तातें ऋषि जयमल कहे, इसी दिवालीने मान ॥ ४३ ॥

(महावीर स्तवन)

वीर जिनेन्द्र शासन धणी, जिन त्रिभुवनस्वामी । ज्यारे चरण कमल चित नित धरूं, प्रणमूं सिरनामी । सुर स्थिति नगरी पिता मात चिन्ह अवगाहना, वर्ण आयु पुनी कुमर पद तपका परमाना । चरित्र बल प्रभु गुण घणा है छउमत्थ केवल ज्ञान, तीर्थ गणधर केवली जिन शासन परमाण ॥ १ ॥ देवलोक दशवें वीस सागर पूर्णस्थिति पाए, कुन्डनपुर नगरी मे चवी श्री जिनवर आए । पिता सिद्धार्थ पुत्र, मात त्रिशलादेवी नन्दा, जननी कुक्षिमे अवतरे श्रीवीर जिनन्दा । ज्यारे चरण लक्षण सिंहनोए अवगाहना कर सात, तन कंचन करी शोभता, ते प्रणमूं जगनाथ, ॥ २ ॥ वहुतेर वर्षनो आऊषो पायों सुखकारी, तीसवर्षकेवलपदे रह्या अभिग्रह धारी । उपसर्ग परिषह सहन करत पुनी शमरस भीनो, अनन्तवली भगवन्त जान वीर नाम जु दीनो,

त्याग मातपिता स्वर्गति लघाए, पुनी लियो संयम भार। तपना कीधी आकरी, साढा बारह वर्ष मझार, ॥ ३ ॥ नव चौमासी तप कियो, इक कियो छमासी। पांच दिन ऊणा अभिग्रह। षट् मास विमासी। एक एक मासी तप कियो, प्रभु द्वादश विरिया। बहत्तर पक्ष दोय २ मास छविरिया करिया। दोय अढाई दिन दोय ए वली दोढमासी दोय। भद्र-महाभद्र शिवभद्र तप करी, दश सोलह दिन होय, ॥ ४ ॥ सितपुनी पडिमा अट भक्तिनी द्वादश कीनी। दोसौ ने गुणतीस छट्ठम तप जिननी गीनी। इग्यारह वर्ष छमाश पचिस दिन तपना केरा। इग्यारह मास उगणीस दिवस पारणा भलेरा। इन विधि स्वामी तप कियोए पछी उपजो केवलज्ञान। तीस वर्ष ऊणा विचारिया, ते प्रणमुं वर्धमान, ॥ ५ ॥ प्रथम 'अस्थि' बीजो 'चम्पा' दो कहिए, 'विशाला' ने 'वाणिज' ही मिल। द्वादश लहिए। चतुर्दश 'नालंदे' पाडे 'मिथिला' छ भणिया, 'भद्रपुरे' दोय, सर्वे मिल पटतिस निशिया।

चवदे राजु लोक भरे वालुदा कनियां, सर्व जींवनी रोमराय नहीं जावे गिणिया। एक वालु तप करे, गुण गण करे अत्यन्त, पूज्य प्रसाद ऋषि लालचंद कहे नहीं आवे अन्त। संवत् १८६२ ए-मास जु मृगसिर चंद। स्यामपुरे गुणगाविया, धन २ वीर जिणंद ॥ ११ ॥

वीरस्तुति–परिशिष्ट नं० ५
शान्तरसपूर्ण शान्तिप्रकाशः

प्रार्थनाङ्कम्–

प्रेमसहित वन्दौं प्रथम, जिनपद कमल अनूप।
ताके सुमरत अधमनर, होवत शांत स्वरूप ॥ १ ॥

पूर्व नमामि सस्नेहं, जिनाङ्घ्रिकमलं शुभम्।
यस्य स्मृत्वा नरा नीचा, जायन्ते शान्तिरूपका॰ ॥ १ ॥

तुम शरणे आयो प्रभु, राख लेऊ निज टेक।
निर्विकल्प मम सिद्धजी, देवो विमल विवेक ॥ २ ॥

शरण ते प्रभो! प्राप्त, सरक्ष्यो निजभावुक।
कल्पनातीतसिद्धेश! वोधं वितर निर्म्मलम् ॥ २ ॥

करूं वंदना भावयुत, त्रिविध योग थिर धार।
रतन! रतन सम देय मुझ, ज्ञान जवाहर सार ॥ ३ ॥

कृत्वा स्थैर्य्यं त्रियोगेण, सभाव प्रणमाम्यहम्।
देहि मे रत्न! विज्ञानं, रत्नतुल्यं शुभं परम् ॥ ३ ॥

उपाध्याय अध्ययन श्रुति, निशिदिन करत अभ्यास।
दीनवन्धु मुझ दीजिए, शम दम ज्ञानविलास ॥ ४ ॥

श्रुताध्ययनसनिष्ठा, नित्यमभ्यस्तिसरता॰।
उपाध्याया प्रदत्ताशु, ज्ञानं शान्ति दमं वरम् ॥ ४ ॥

सो साधु वाधा हरो, कर्मशत्रु रणजीत।
निपुण जौहरी ज्यौं लख्यो, आतम रतन पुनीत ॥ ५ ॥

कर्मशत्रुं रणे जित्वा, दत्तरात्रिकवत्नतु।
आत्मरत्न शुभं यैस्तु, वीक्षितं ज्ञानचक्षुपा ॥
साधव॰ कृपया ह्याशु, मम वाधा हरन्तु ते ॥ ५ ॥

विकलोऽतीव दु.खेन, सुखं प्राप्नोमि न क्षणम् ।
अधुनेक्ष्य. सुदृष्ट्याऽहं, सिद्धिर्नोऽपि क्षणे कृते ॥ १२ ॥

यह सम्बन्ध भलो वन्यो, हम तुमसौं सर्व्वज्ञ !
त्यागे ताहि न संग रखे, पिता पुत्र लखि अज्ञ ॥ १३ ॥

मया त्वया च सर्व्वज्ञ ! जात. सङ्ग. सुशोभनः ।
नो त्याज्यश्च सदा रक्ष्य , पित्रेवाऽज्ञोऽपि पुत्रकः ॥ १३ ॥

मेटहु कठिन कलेश तुम, परमातम परमेश ।
दीन जानिकर वकसिये, दिन दिन ज्ञान विशेष ॥ १४ ॥

परमात्मन् ! परेश ! त्व, क्लिष्टं क्लेश विनाशय ।
दीन ज्ञात्वा च देहि त्वं, नित्यं ज्ञान शुभं मम ॥ १४ ॥

कृपा करो निर्वुद्धि पै, लखुं जुं अनुभव रीति ।
अशुभ और शुभ देखके, करूं न कवहुं प्रीति ॥ १५ ॥

कुरु कृपां च निर्वुद्धौ, येनेक्षेऽनुभवक्रमम् ।
वीक्ष्याऽशुभं शुभं चैव, कुर्य्यां नो तत्र सरतिम् ॥ १५ ॥

सव प्रकार धनवन्त हो, सुनहु गरीव निवाज ।
आरत-रुद्र कुध्यानते, वकसि वकसि महाराज ॥ १६ ॥

शृणु त्व दीनवन्धोऽसि, सर्व्वैश्वर्य्यसयुत ।
आर्तार्द्रौद्रात्कुध्यानाच, सद्यो वारय मा प्रभो ! ॥ १६ ॥

धर्म शुक्ल ध्यावत रहूं, दोय ध्यान सुखकार ।
या जग ममता उदधि ते, दीजे पार उतार ॥ १७ ॥

ध्यायामि सुखदं ध्यानं, धर्म्मं शुक्लं च नित्यशः ।
निस्तारय विभो ! मा तु, लोकसम्मोहसागरात् ॥ १७ ॥

करुणा करिके मेटिये, विपय वासना रोग ।
में कुपथी वेदन प्रवल, लखि मत जोग अजोग ॥ १८ ॥

दया विधाय देव ! त्वं, विपयेच्छाभयं हर ।
ममोन्मार्गस्य सम्वाधो, योग्याऽयोग्य न पश्य भो ॥ १८ ॥

में गरजी अरजी करूं, सुनिहो जग प्रतिपाल ।
च्याह सतावे दास कों, यह दुःख दीजे टाल ॥ १९ ॥

॥ अथ रागनिवारणाङ्कम् ॥

अरे जीव भव वन विषे, तेरा कवण सहाय ।
जाके कारण पचि रह्यो, ते सव तेरे नाय ॥ २६ ॥

भवारण्येऽत्र रे जिव ! सहायः कोऽस्ति ते वद ।
यदर्थं खिद्यसे नित्यं, तव ते सन्ति नो भुवि ॥ २६ ॥

संसारी को देखले, सुखी न एक लिगार ।
अव तो पीछा छोडदे, मत धर सिर पर भार ॥ २७ ॥

पश्य ससारिणं जीवं, न कोऽपि सुखभाग्भुवि ।
अनुसृतिं त्यजेदानीं, शीर्षे मा धर भारकम् ॥ २७ ॥

झूंठे जगके कारणे, तू मत कर्म वंधाय ।
तू तो रीता ही रहे, धन पेला ही खाय ॥ २८ ॥

मिथ्यासंसारमुद्दिश्य, कर्म्मवन्धं तु मा कुरु ।
रिक्तो यास्यसि जीव ! त्वं, भोक्ष्यन्ते हीतरे धनम् ॥ २८ ॥

तन धन संपत् पायके, मगन न हो मन मांय ।
कैसे सुखिया होयगा, सोवत *लाय लगाय ॥ २९ ॥

तनुं वित्तं विभूतिं च, लब्ध्वा हृष्टस्तु मा भव ।
वन्हिं प्रज्वाल्य शेषे किं, स्थास्यसि त्वं कथं सुखी ॥ २९ ॥

ठाठ देख भूले मति, यह पुद्गल पर्याय ।
देखत देखत ताहरे, जासी थिर न रहाय ॥ ३० ॥

भूतिं दृष्ट्वा प्रमाद्य त्वं, मेयं जाता तु पुद्गलैः ।
नंक्ष्यति पश्यतस्ते वा, न स्थिरेयं कदापि च ॥ ३० ॥

लूटेंगे ज्ञानादि धन, ठगसम यह संसार ।
मीठे वचन उचारिके, †मोह फांसी गल डार ॥ ३१ ॥

प्रियं प्रोच्य गले मोहपाशं क्षिप्त्वा लिमे जना· ।
ज्ञानादिधनहार ते, करिष्यन्ति प्रवञ्चका· ॥ ३१ ॥

किधौं भूत तोकौं लग्यो, करे न तनक विचार ।
ना माने तो परखले, मतलवको संसार ॥ ३२ ॥

---

* पृष्ठतो गमनम् । † आग ।

कैसे गाफिल हो रहा, नेडा आत करार ।
निपजी खेती देय क्यों, वाटी सटे गवाँर ॥ ३९ ॥
प्रमत्तोऽसि कथं भ्रातरायात्याशुतमन्तिकम् ।
प्रतियच्छसि रौव्यर्थं *कथ सञ्जातशस्यकम् ॥ ३९ ॥
धर्मविहार कियो नहीं, कीन्हो विषय विहार ।
गांठ खाय रीते चले, आके जग हटवार ॥ ४० ॥
धर्म्माचारः कृतो नाऽत्र, विहारो विषये कृतः ।
लोकापणे समागत्य, मूलाशी †रिक्तको गतः ॥ ४० ॥
काज करत पर घरनके, अपनो काज विगार ।
सीत निवारे जगत्का, अपनी झौंपरी वार ॥ ४१ ॥
विनाश्य त्वं स्वकं कार्य्यं, कुरुषे परकृत्यकम् ।
कुटी निजा तु सञ्ज्वाल्य, लोकसीतं व्यपोहसि ॥ ४१ ॥
नहिं विचार तैंने किया, करना था क्या काज ।
उदय होयगा कर्मफल, तव उपजेगी लाज ॥ ४२ ॥
आसीत्किं तव कर्त्तव्यं, कृता नाऽस्य विचारणा ।
कर्मविपाककाले च, व्रीडा यास्यसि वै सखे ! ॥ ४२ ॥
झूँठी संसारीनकी, छूटेगी जव लाज ।
तव सुखिया तू होयगा, इनते अलगा भाज ॥ ४३ ॥
असत्ससारिभोगाना, यदा नंक्ष्यत्ति वै रुचिः ।
एतेभ्यस्तु पृथग्भूत्वा, तदा सौख्यमवाप्स्यसि ॥ ४३ ॥
अपनी पूंजी सौं करो, निश्चल कार विहार ।
वांध्या सोही भोगले, मत कर और उधार ॥ ४४ ॥
आत्मीयेनैव वित्तेन, कार्यमाचर निश्चलम् ।
वद्धमेव हि भुंक्षस्व, ऋणमन्यत्तु मा कुरु ॥ ४४ ॥
नया कर्म ऋण काढके, करसी कार विहार ।
देणा पडसी पारका, किम होसी छुटकार ॥ ४५ ॥
कर्मर्णं नूतनं कृत्वा, यदि कार्यं विधास्यसि ।
उद्धारस्तु कथं भावी, दातव्यं स्यात्परस्य यत् ॥ ४५ ॥

---

* करपञ्चिकार्थमिति भाव. ! † मूलद्रव्यं भुक्त्वा ।

कैसे गाफिल हो रहा, नेडा आत करार ।
निपजी खेती देय क्यों, वाटी सटे गवाँर ॥ ३९ ॥
प्रमत्तोऽसि कथं भ्रातरायात्याश्रुतमन्तिकम् ।
प्रतियच्छसि रौप्यार्थं *कथं सञ्जातशस्यकम् ॥ ३९ ॥
धर्मविहार कियो नहीं, कीन्हो विषय विहार ।
गांठ खाय रीते चले, आके जग हटवार ॥ ४० ॥
धर्म्माचार कृतो नाऽत्र, विहारो विषये कृतः ।
लोकापणे समागत्य, मूलाशी †रिक्तको गत ॥ ४० ॥
काज करत पर घरनके, अपनो काज विगार ।
सीत निवारे जगत्का, अपनी झोंपरी बार ॥ ४१ ॥
विनाश्य त्वं स्वकं कार्य्यं, कुरुषे परकृत्यकम् ।
कुटी निजा तु सञ्ज्वाल्य, लोकसीतं व्यपोहसि ॥ ४१ ॥
नहिं विचार तैंने किया, करना था क्या काज ।
उदय होयगा कर्मफल, तव उपजेगी लाज ॥ ४२ ॥
आसीत्किं तव कर्त्तव्यं, कृता नाऽस्य विचारणा ।
कर्मविपाककाले च, व्रीडा यास्यति वै सखे ! ॥ ४२ ॥
झूँठी संसारीनकी, छूटेगी जब लाज ।
तव सुखिया तू होयगा, इनते अलगा भाज ॥ ४३ ॥
असत्ससारिभोगाना, यदा नंक्ष्यत्ति वै रुचि ।
एतेभ्यस्तु पृथग्भूत्वा, तदा सौख्यमवाप्स्यसि ॥ ४३ ॥
अपनी पूंजी सौं करो, निश्चल कार विहार ।
वांध्या सोही भोगले, मत कर और उधार ॥ ४४ ॥
आत्मीयेनैव वित्तेन, कार्यमाचर निश्चलम् ।
वद्धमेव हि भुंक्षस्व, ऋणमन्यत्तु मा कुरु ॥ ४४ ॥
नया कर्म ऋण काढके, करसी कार विहार ।
देणा पडसी पारका, किम होसी छुटकार ॥ ४५ ॥
कर्मर्णं नूतनं कृत्वा, यदि कार्यं विधास्यसि ।
उद्धारस्तु कथं भावी, दातव्यं स्यात्परस्य यत् ॥ ४५ ॥

---

* करपट्टिकार्थमिति भावः ! † मूलद्रव्यं भुक्त्वा ।

विषय भोग किम्पाक सम, लखि दुःख फल परिणाम।
जव विरक्त तू होयगा, तव सुधरेगा काम॥ ४६॥
भोगः किम्पाकतुल्योऽस्ति, तदन्ते वीक्ष्य सङ्कटम्।
विरक्तस्तु यदा भावी, तदा कार्य्यं तु सेत्स्यति॥ ४६॥

एरे! मन मेरे पथिक, तू न जाव वहँ ठोर।
वटमारा पांचों जहां, करैं साहकौं चोर॥ ४७॥
मम पाथ मनस्त्वं रे! गच्छ मा तत्र कर्हिचित्।
दस्यवो यत्र पञ्चापि, साधुं चौरं प्रकुर्व्वते॥ ४७॥

आरम्भ विषय कषायकौं, कीनी वहुतिक वार।
कारज कछु सरिया नहीं, उलटा हूवा ख्वार॥ ४८॥
भोगारम्भकषायास्तु, वहुशो विहितास्त्वया।
कार्यसिद्धिस्तु नो जाता, जात प्रत्युत लज्जित॰॥ ४८॥

चारों संज्ञामें सदा, सुते निपुण चित्त लाग।
गुरु समझावैं कठिनसौं, उपजे तउ न विराग॥ ४९॥
प्रवोधयति सञ्ज्ञाभिर्गुरुश्चतसृभिर्ध्रुवम्।
ज्ञानाय चित्तवैराग्यं, जायते ते तथापि नो॥ ४९॥

खैर हुआ जो कुछ हुआ, अव करनो नहिं जोग।
विना विचारे तैं किया, ताका ही फल भोग॥ ५०॥
अस्तु जात तु यज्जातं, प्रमादं नाधुना कुरु।
असमीक्ष्य कृतं यत्तु, भुंक्ष्व तस्य फल ध्रुवम्॥ ५०॥

इति रागनिवारणाङ्गम्

अथ द्वेषनिवारणाङ्गं कथ्यते

वुरो कहै कोऊ तो भनीं, तो तू भला जु मान।
वूरा मीठा होतहै, सव वनिहै पकवान॥ ५१॥
अप्रिय *वक्ति यस्तुभ्यं, त्व तु जानीहि तत्प्रियम्।
†वूरा ‡मिष्ठ भवत्यत्र, पक्वान्नं तेन जायते॥ ५१॥

---

* 'वुरा' इति भाषायाम्। † 'भला इति भाषायाम्। ‡ 'वुरा'। इति शब्दस्य दीर्घोकारत्वेन प्रयोगस्तदा भाषायां शर्करापर्यायः।

कटु तीक्षण अति विषभरी, गाली शस्त्र समान।
अशुभकर्म गुम्मड भिद्यो, यों जिय सुलटी जान ॥ ५२ ।

कटुस्तीक्ष्णा विषोपेता, शस्त्रतुल्या हि गालिका।
श्रुत्वेति तां विजानीहि, स्फोटो भिन्नः कुकर्मजः ॥ ५२ ॥

कटुक वचन कोऊ कह दिया, लगे जु दिलमें तीर।
समदृष्टि यों समझले, मोय जान्यो अतिवीर ॥ ५३ ॥

कट्टक्तिः परसम्प्रोक्ता, वाणवद्भिनत्ति सा।
समदृष्टिर्विजानीयाज्ज्ञातोऽहं वीरमुख्यकः ॥ ५३ ॥

वैरी होता तो कबहु, नहीं कहता कटु बात।
सज्जन दीसत माहरो, रुज लखि कटुक खवात ॥ ५४ ॥

अभविष्यदयं शत्रुर्नावदिष्यत्तदा कटु॰ ।
सज्जनो दृश्यते मेऽयं, कट्वाशयति रोगदृक् ॥ ५४ ॥

अवगुण सुनिके आपणां, रे मन! सुलटी धार।
मो गरीवकों जानिकै, लीना वोझ उतार ॥ ५५ ॥

आत्मनो दोषमाकर्ण्य, सत्यं धारय हे मनः।
ज्ञात्वाऽनेन तु मा दीनं, शीर्षाद्भारोऽवतारितः ॥ ५५ ॥

में भूल्यो शुभ राहकौं, इननैं दई वताय।
दुर्जन जानि पेरे नहीं, सज्जन सो दर्शाय ॥ ५६ ॥

सुमार्गो विस्मृतो नूनं, मया चायं व्यवोधयत्।
ज्ञायते दुर्जनो नायं, सज्जनस्तु विलक्ष्यते ॥ ५६ ॥

ज्ञान अस्त सूरज हुआ, में भूल्यो निजलाह।
निन्दा रूप मसालले, इने दिखाइ राह ॥ ५७ ॥

अस्तं गते हि वोधार्के, जातोऽहं विस्मृताध्वक॰ ।
निन्दाप्रदीपमादाय, जातोऽयं मार्गदर्शक॰ ॥ ५७ ॥

सुनि निन्दकके वचनकों, चित मति करे उचाट।
यह दुर्गन्धित पवन अति, वहती कूं मति डाट ॥ ५८ ॥

निन्दकोक्तिं समाकर्ण्य, ग्लानिं मा कुरु मानसे।
रुन्धि मा त्वं सखे! पूतिगन्धं वातं समीरणम् ॥ ५८ ॥

कुवचन शर क्या कर सके, तू होजा पाषाण ।
तेरा कुछ विगरे नहीं, वाका ही अपमान ॥ ५९ ॥

सखे ! पाषाणवद्भूया कूक्तिषुः किं करिष्यति ।
न स्यात्ते कापि वा हानिर्ह्यपमानस्तु तस्य च ॥ ५९ ॥

कुवचन गोलीके लगे, जो ले मनको मार ।
आपही ठंढी होयगी, होजा शीतल गार ॥ ६० ॥

कूक्तिगोलीसमाघाते, मनः शान्तं करोति यः ।
भविता सा स्वयं शीता, शान्तस्त्व भव हे सखे ! ॥ ६० ॥

तैंने ऊपरसौं कही, मैंने समझी ठेठ ।
खटका सबही मिटगया, एक रह गयो पेट ॥ ६१ ॥

उपरिष्टात्त्वया प्रोक्तं, तत्त्वं बुद्धं मया किल ।
चिन्ता कृत्स्ना विनष्टा मेऽवशिष्टा समता खलु ॥ ६१ ॥

रे चेतन सुलटी समझ, तेरा सुधरा काज ।
कुवचन धर वर ताहरी, इणने सौंपी आज ॥ ६२ ॥

सम्यक् चेतन ! बुध्यस्व, सिद्धं कार्यं तवाद्य वै ।
तावक कूक्तिनिक्षेपोऽनेनेदानीं समर्पितः ॥ ६२ ॥

होगी सोई नीसरे, वस्तु भरी जिहि माहिं ।
याका गाहक मत बने, तेरे लायक नाहिं ॥ ६३ ॥

यस्मिन् वस्तु यदेवास्ति, निस्सरिष्यति तत्किल ।
नोचितं ते समस्त्येद्ग्राहकस्त्वस्य मा भव ॥ ६३ ॥

अपणा अवगुण सुणकरी, मत माने जिय रीस ।
मनमें तू यों समझले, मुझको देत असीस ॥ ६४ ॥

आत्मदोषं समाकर्ण्य, चित्ते खेद तु मा कृथा ।
आशिष मे ददात्येष, कार्या चैषा विचारणा ॥ ६४ ॥

क्रोध अगन दिल मत लगा, सुनि अयथारथ बोल ।
क्षमारूप जल छिडकिए, नेक न लागे मोल ॥ ६५ ॥

असदुक्तं वचः श्रुत्वा, क्रोधाग्नौ क्षिप मा मनः ।
सिञ्च वारि क्षमारूपं, भवेत्तापो न कश्चन ॥ ६५ ॥

दुर्जन चुप हो है नहीं, तू तो छिन चुप साध ।
तृण विन परिहे अगनि कहुं, आपहि होय समाध ॥६६॥
न तूष्णीं दुर्जन स्थाता, त्वं तु तूष्णीं भव क्षणम् ।
निस्तृणे पतितो वन्हिः स्वयमेवोपशाम्यति ॥ ६६ ॥

तू तृण सम कटु वचन सुन, क्रोध अगन मत दाझ ।
उपल नीर सम करहु मन, तव मिलिहै शिवराज ॥६७॥
श्रुत्वा तृणनिभा कूक्तिं, क्रुदग्निं मा प्रदीपय ।
कुरु नीरसमं स्वान्तं, मुक्तिराज्यं तदैष्यसि ॥ ६७ ॥

आई गई कर गालिकों, क्रोध चंडाल समान ।
न तर पिछानि चंडालिनी, पल्लो पकरे आन ॥ ६८ ॥
उपेक्षस्व सखे ! गालिं, त्यज कोपं श्वपाकवत् ।
श्वपाक्यनुगता नोचेद्गृहीता वस्त्रसन्दशाः ॥ ६८ ॥

प्रभु सहाय नहीं होयँगे, रे जिय सांची जान ।
क्रोध करी ज्युं होगयो, साधु रजक समान ॥ ६९ ॥
ईशोऽपि नो सहाय स्यात्सत्यं मन्यस्व चित्त ! हृ ।
पश्य कोपं विधायैवं, साधू रजकता गत. ॥ ६९ ॥

आतम वस्त्र मेला लखी, इणने दीना धोय ।
कटुक वचन सावुन करी, निवल जानिके मोय ॥ ७० ॥
निर्वलं वीक्ष्य मामेष, आतमवस्त्रं मलीमसम् ।
कटूक्तिसाधनेनाऽऽशु, तदधावद्दयाद्रक ॥ ७० ॥

जौहरी व्हैके मति करे, कुंजडी के संग रार ।
रतन विखरसी ताहरा, भाजी सटै गवाँर ॥ ७१ ॥
विवादं शाकविक्रेत्र्या, रात्निकस्त्वं हि मा चर ।
भविता रत्नविक्षेपो, शाकार्थं मूढ ! सत्वरम् ॥ ७१ ॥

सालाकी गाली दई, यह विचार चित ठार ।
भगिनी सम इनकी त्रिया, मोय समझ्यो व्रतधार ॥७२॥
श्रुत्वा शाल्यकगालिं तु, चित्ते चिन्तय तत्क्षणम् ।
भार्य्यास्वस्त्रवदस्येति, सम्यग्वुद्धं व्रतं मम ॥ ७२ ॥

किरतघनी वननो न ह्याँ, दइ गारि इण मोहि,
अस आतम शीतल करौं, मम उधार तव होहि ॥ ७३ ॥

दत्ता मम गालिरेतेन, कृतघ्नो भवितास्मि नो ।
एवं कुर्यां यदा शीतं *स्वं तदोद्धारमाप्नुयाम् ॥ ७३ ॥

गाली एक ही होत है, बोलत होत अनेक ।
रे जिय! तू बोले नहीं, तो वही एक की एक ॥ ७४ ॥

गालिरेका प्रतीवादेऽनैका सैव विजायते ।
विचार्य्यैवं तु मा ब्रूहि, सा स्यादेकैव चित्त! ह ॥ ७४ ॥

अनन्तकाल पहले प्रभु, देख रखे यह भाव ।
परिहैं कटु वच श्रवणमें, ते किम टाल्यो जाव ॥ ७५ ॥

प्रागेवानन्तकालाद्धै, जिनो भाव निरैक्षत ।
कटूक्तिपतन श्रोत्रे, शक्यं वारयितुं कथम् ॥ ७५ ॥

इति द्वेषनिवारणाङ्गम्

अथ धैर्य्यधारणाङ्गम्

अय दिल चाहे परमपद, उर धीरज गुण धार ।
निन्दा स्तुति रिपु प्रिय, एक हि दृष्टि निहार ॥ ७६ ॥

निर्व्वाणेच्छामनस्ते चेत्तदा धैर्य्य गुण धर ।
निन्दास्तुति रिपुप्रीतौ, समदृष्ट्या विलोकय ॥ ७६ ॥

धीरज धर भ्रमको तजो, एह पुद्गलको ख्याल ।
पर परछांही पर रही, तू तो चेतन लाल ॥ ७७ ॥

धैर्य्यं धृत्वा त्यज भ्रान्तिमेतत्पुद्गलनाट्यकम् ।
चेतनोऽसि प्रिय! त्व तु, त्वयि विम्वं पर गतम् ॥ ७७ ॥

चञ्चलताको छोडिदे, धीरजकी कर टाट ।
कर विहार गुण माल को, ज्यूं होवे बहु ठाट ॥ ७८ ॥

त्यचला स्थैर्य्य विधेहि त्वं, धैर्यदृढ सखे! मन ।
आद्रियस्व गुणग्राम, येन सर्व्वं सुख भवेत् ॥ ७८ ॥

---

* आत्मानम् ।

निजगुणमें जिय ठहर तू, परगुण पद मति धार।
पर रमणीसे राचि करि, मत कहलावे जार ॥ ७९ ॥
तिष्ठात्मनो गुणे जीव! मा धत्स्वान्यगुणे पदम् ।
परस्त्र्यामनुरक्तः सन्, भव मा जारशब्दभाक् ॥ ७९ ॥

तम रजनी नाशे नहीं, दीपककी कही बात।
पूरण ज्ञान उद्योत विन, हृदय भरम नहीं जात ॥ ८० ॥
प्रोक्ता वार्ता प्रदीपस्य, नश्यति किं निशातम॰ ।
पूर्णज्ञानविभासेन, विना नो याति सम्भ्रम ॥ ८० ॥

यथालाभ सन्तोष कर, चहे न कछु दिल वीच।
या विधि सुख अति अनुभवे, ज्यों न फँसे दुःख कीच ८१
यो यथालाभ सन्तुष्टो, वान्छा चित्ते न यस्य वै,
दुःखपङ्के न मग्नो यः, सोऽतिसौख्यं लभेद्ध्रुवम् ॥ ८१ ॥

मोह जनित दुःख विकल पन, अथवा सुखको रूप।
गिने दुहुं सम धीर धर, तौ न परे भवकूप ॥ ८२ ॥
मोहजदुःखवैकल्यं, यद्वा तज्जसुखं ह्यपि ।
मन्यते यः समं धीरो, भवकूपे न मज्जति ॥ ८२ ॥

अपने अपने गुणनमें, थिर हैं सव ही वस्तु।
तू पुनि थिर कर अपनकों, तो सुख लहे समस्त ॥ ८३ ॥
सर्व्वाण्येव हि वस्तूनि, स्थिराण्यात्मगुणेषु च ।
स्थिरं कुर्यास्त्वमात्मानं, लभेथाः सर्वसौख्यकम् ॥ ८३ ॥

सुखदुःख दोनों फिरत हैं, धूप छांह ज्यों मीत।
हर्ष शोक क्यों करहिं मन! धीरज धार नचीत ॥ ८४ ॥
छायाऽऽतपनिमे मित्र! भ्राम्यते सुखदु खके ।
दृष्ट्वा ते कुरुषे किं त्वं, हर्षशोकौ धृतिं धर! ॥ ८४ ॥

अनहोनी होवे नहीं, होनी नाहिं टलात।
दीखी परसी आगले, ज्यों होनी जा साथ ॥ ८५ ॥
अभाव्यं नो भवेदत्र, भाव्यनाशो न कर्हिचित् ।
यस्मिन्क्षणे तु यद्भाव्यं, द्रक्ष्यते वा तदाग्रतः ॥ ८५ ॥

चाह किए कछु ना मिले, करिके जहँ तहँ देख।
चाह छांडि धीरज धरहु, पद पद मिलत विशेष ॥ ८६ ॥

इच्छयाऽऽप्नोति नो किञ्चित्पश्य कृत्वा तु मानव !
विहायेच्छा कृते धैर्ये, विशेषाप्तिः पदे पदे ॥ ८६ ॥

सुनि उछले मति रे जिया ! कर विचार चुप साध।
यही अमोलिक औषधि, मेटे भव दुःख व्याध ॥ ८७ ॥

श्रुत्वोत्पत मनो मा त्वं, मौनं धृत्वा विचारय।
अमूल्यमौषधं ह्येतद्भवतापाऽऽमयाऽपहम् ॥ ८७ ॥

रे चेतन ! संसार लखि, दृढ कर नेक विचार।
जैसी दे तैसी मिले, कूपकी गुंजार ॥ ८८ ॥

चेतन ! वीक्ष्य ससार, कुरु धृत्वा विचारणाम्।
लभ्यतेऽत्र यथादत्तं, कूपप्रतिध्वनिर्यदा ॥ ८८ ॥

चञ्चलताको छांडीके, काट मोह गल फांश।
सम दम यम दृढता किये, निज गुण होय प्रकाश ॥८९॥

त्यक्त्वा चापल्यमाच्छिन्धि, गलपाशं च मोहजम्।
शमे दमे यमे दार्ढ्ये, कृते स्वगुणभासनम् ॥ ८९ ॥

अभिलाषाकों त्यागिके, मनकों रख मजबूत।
तब कुछ सूझे अगमकी, यह सांची करतूत ॥ ९० ॥

अभिलाष परित्यज्य, मानस कुरु निश्चलम्।
तदायत्यासुकर्तव्य, द्रक्ष्यते च यथार्थत ॥ ९० ॥

वो तो घां ही वस्तु है, जाकी तेरे चाय।
क्षण इक धीरज धारले, सहजे ही मिलजाय ॥ ९१ ॥

अभिलाषोऽस्ति ते यस्य, तद्वस्त्वत्रैव विद्यते।
क्षण धैर्य्यं कुरु स्वान्ते, विनाऽऽयासेन लप्स्यते ॥ ९१ ॥

मतकर परगुणमें रमण, ज्यों न लगे गल तोप।
निश्चल रह निज गुणनमें, आपही होगी मोक्ष ॥ ९२ ॥

रमस्वाऽन्यगुणे मा त्वं, येन दोषो भवेन्नहि।
निश्चल स्वगुणे भूत्वा, स्वतो निर्व्वाणमेष्यसि ॥ ९२ ॥

निश्चलतासुं होयगा, रे जिय ! ब्रह्म समान ।
तृण का ही घृत होत है, गाय चरे पय पान ॥ ९३ ॥

स्थैर्य्येण भविता जीव ! ब्रह्मतुल्यो ह्यसशयम् ।
सर्पिस्तेन तृणं स्याद्यद्गौश्चरति जलेन च ॥ ९३ ॥

जो तू चाहे अमर पद, करि दृढता अखत्यार ।
बाल न वांका होयगा, जीवत ही मनमार ॥ ९४ ॥

यद्यमरपदेच्छा ते, धैर्य्यमङ्गीकुरुष्व वै ।
जहि मनस्तु जीवद्वा, नैवं केशस्य वक्रता ॥ ९४ ॥

धीरज गुण धारण किये, सब ही दुःख कट जाय ।
जैसे ठंडे लोहसे, तत्ता लोह कटाय ॥ ९५ ॥

धृतधैर्य्यगुणे सर्वं, दु ख नश्यति सत्वरम् ।
यथा शीतेन लोहेन, तप्ताऽऽयश्छिद्यते ध्रुवम् ॥ ९५ ॥

जल जिम निर्मल मधुर मृदु, करत तप्तको अन्त ।
इम धीरज गुण चार लखि, करो ग्रहण बुधवन्त ॥९६॥

निर्मलं मधुरं वारि, मृदुस्तापविनाशनम् ।
एवं चतुर्गुणं धैर्य्यं, वीक्ष्य गृण्हीत वै बुधा ॥ ९६ ॥

कला घटत अरु बढत है, नहीं शशिमण्डल जान ।
जन्म मरण गति देहकी, यों लखि धीरज ठान ॥ ९७ ॥

हानिवृद्धी कलायाश्च, नहीन्दुमण्डलस्य वा ।
देहस्यैवं गतिं जन्म, मृत्युं वीक्ष्य धृतिं धर ॥ ९७ ॥

सुखदुःख दोनों एकसे, हैं समझणको फेर ।
एक शब्द दो अर्थ ज्यों, लाख टकेकी सेर ॥ ९८ ॥

सुखदु खे समे वै तु, बोधभेदस्तु लक्ष्यते ।
लोके '*लाख टकाकी सेरेदं द्व्यर्थकवाक्यकम् ॥ ९८ ॥

---

* "लाख टका की सेर" इदं वाक्यं लोके द्व्यर्थकमस्ति, तद्यथा—पणद्वयेन लाक्षा प्रस्थमिता मिलतीति प्रथमोऽर्थः । लक्षसख्याकपणयुग्मैः किञ्चिज्ज्ञानवस्तुप्रस्थपरिमितं मिलति, इति च द्वितीयोऽर्थः ।

सुखदुःख दोऊ वेदे मति, वेदे तो सम भाव।
जैसे मकरी जालकौं, पूरै अरु खा जाय ॥ ९९ ॥

सुखदुःखानुभूतिं मा, कुरु नो चेत्समानत।
लूताजालं यथा पूर्णं, कुरुतेऽश्नासि तच्च वा ॥ ९९ ॥

समताको धारण किये, क्यों न डटे मन लहर।
भरणी सुण २ कर मिटे, स्यांपां हंदा जहर ॥ १०० ॥

समताधारणे किं वा, मानसोर्मिर्न शाम्यति।
पश्य सर्पविषं श्रुत्वा, गारुडीं नश्यति ध्रुवम् ॥ १०० ॥

इति धैर्य्याङ्गम्

अथानुभवविचारज्ञानाङ्गम्

कुकस विषय विकार सम, मति भखि मूढ गवाँर।
अनुभवरस तू चाखिले, गुरु मुख करि निर्धार ॥ १०१ ॥

मूढ! ग्रामीण! मा भुङ्क्ष्व, भोगान्कूर्चकसन्निभान्।
गुरोर्मुखात्तु सम्प्राप्य, ह्यनुभूतिरसं पिब ॥ १०१ ॥

किये पाठ अनुभव विना, न मिटे भीतर पाप।
बाहर शीशी धोयके, करी चहे तू साफ ॥ १०२ ॥

अनुभूत्या विना पाठात्पापं नश्यति नान्तरम्।
काचकूपीं बहिर्धौत्वा निर्मलां कर्तुमिच्छसि ॥ १०२ ॥

अल्पभार पाषाणको, जिमलागत जल माहिं।
तिमि अनुभव विच कर्मको, बहुबन्धन है नाहिं ॥१०३॥

अल्प एवाश्मनो भारो, यथा तोये प्रतीयते।
अनुभूत्या तथा कर्मबन्धो भूरिर्न जायते ॥ १०३ ॥

मन वच-तन थिरतं भयो, जो सुख अनुभवमाहिं।
इन्द नरिन्द फनीन्दके, ता समान सुख नाहिं ॥ १०४ ॥

स्थैर्ये देहमनोवाचामनुभवे तु यत्सुखम्।
तादृक् सुखं न शक्रस्य, मानवेन्द्रफणीन्द्रयो ॥ १०४ ॥

अनुभवसें प्रभु मिलतहै, अनुभव सुखको मूल।
अनुभव चिन्तामणि तजि, मति भटके कहुं भूल १०५

अनुभूत्याः प्रभो प्राप्ति, गैव मूलं सुगाम्य च ।
त्यक्त्वा चिन्तामणिं मूढाऽनुभूतिं क्वापि मा भ्रम ॥ १०५ ॥

अति अगाध संसार नद, विषय नीर गम्भीर ।
अनुभव विन पार न लहत, कोटि करहु तदबीर ॥१०६॥

भवो नदोऽस्त्यगाधोऽत्र, विषया बहु वारिवत् ।
कोट्युपायेऽपि पार नो, यात्यनुभूतिमन्तरा ॥ १०६ ॥

जिहिं विचारतें पाय है, मनकौ थिर सुखठौर ।
ताकौं अनुभव जानिये, अनुभव नहिं कुछ और ॥१०७॥

मन स्थैर्य्ये सुखस्थानं, येनाऽऽप्नोति विचारत. ।
बुध्यस्वानुभवं तं च, परन्त्वनुभवो न हि ॥ १०७ ॥

विना विचारे ज्ञानके, तू जङ्गलको रोझ ।
मिथ्या यों ही पचत है, क्यों न करे अब खोज ॥ १०८ ॥

विना ज्ञानविचारेण, आरण्यगवयो ननु ।
व्यर्थं खेदमवाप्नोषि, कुरुपे किं न विचारणाम् ॥ १०८ ॥

मन मतङ्ग वश करनकौं, ज्ञानाङ्कुश चित धार ।
क्षमाथंभसे बांधकर, लज्जा शृंखल डार ॥ १०९ ॥

मनो गजं वशं कर्तुं, चित्ते ज्ञानशृणिं धर ।
क्षमा स्तम्भेन बध्वा च, क्षिप लज्जा सुशृङ्खलाम् ॥ १०९ ॥

भ्रमतो मन रवि डाटिले, ज्ञान मुकुरके म्यान ।
बिंदु सुभ उपयोगसे, कर्म तूलकी हान ॥ ११० ॥

भ्रमन्मनो रविं रुन्धि, ज्ञानदर्प्पणके सखे !
विन्दुना सूपयोगेन, कर्मतूलविनाशनम् ॥ ११० ॥

सीसा सम संसार है, गुरु कृपा आदित्य ।
ज्ञान नेत्र विन किम लखे, आपनपो सुपवित्र ॥ १११ ॥

ससारो दर्प्पणाभस्तु, भास्करोऽस्ति गुरोः कृपा ।
विशुद्धात्मत्वबोधस्तु, ज्ञाननेत्रं विना न हि ॥ १११ ॥

विषय-वासना करत जो, आवे ज्ञान जगीश ।
त्रेशठका उन समयमें, छिनमें होय छत्तीस ॥ ११२ ॥

भोगाना वासनाया चेज्ज्ञानमुद्द्योतते सखे !
सद्यस्त्रिपष्टिसङ्ख्याया., षट्त्रिंश ज्ञायते ध्रुवम् ॥ ११२ ॥

जो तू चाहे ज्ञान सुख, तो विषियन मनफेर ।
और ठौर भटके मती, अपने ही में हेर ॥ ११३ ॥

व्यावर्तय मनो भोगाद्बोधसौख्यं यदीच्छसि ।
रे रे ! त्व भ्राम्य माऽन्यत्र, तदाऽऽत्मनि च मार्गय ॥ ११३ ॥

ज्ञानरूप दीपक कने, न वचे कर्म पतङ्ग ।
जो रहे तो दोनोनमें, झूठो एक प्रसङ्ग ॥ ११४ ॥

अन्तिके ज्ञानदीपस्य, नो कर्म्मशलभ. स्थिरः ।
तिष्ठतो यदि तौ द्वौ वा, मृषैकस्तु प्रसङ्गक ॥ ११४ ॥

ज्ञान सञ्चरे जिहि समै, न रहे कर्म समाज ।
और न पंछी डट सकै, जहां वसेरा वाज ॥ ११५ ॥

यदा सञ्चरति ज्ञान, कर्मजालं तु नो तदा ।
श्येनवासो भवेद्यत्र, तत्र तिष्ठन्ति नो खगा· ॥ ११५ ॥

घर नहिं छूट्यो एकसौं, छूट्यो कर्म कुढंग ।
ज्ञान तणे सत्सङ्गथी, देखो ठाणायंग ॥ ११६ ॥

गृहं त्यक्त न चैकेन, त्यक्त कर्म तु कुत्सितम् ।
सत्सङ्गोत्पन्नबोधेन, पश्य स्थानाङ्गसूत्रकम् ॥ ११६ ॥

क्षण इक ज्ञान विचारले, विषय दृष्टि कौं फेर ।
मेरी मेरी त्यागदे, यों होवे सुरझेर ॥ ११७ ॥

भोगादृष्टि परावृत्य, क्षणं चिन्तय बोधकम् ।
त्यज सद्यो ममत्व च, सर्व सम्यग्भविष्यति ॥ ११७ ॥

आठ पहर ढिंग राखले, ज्ञान सरूपी ढाल ।
मोह अरीके विषय शर, लगे न ताकी भाल ॥ ११८ ॥

सरक्षाद्यामु यामेषु, ज्ञानरूप तु चर्म्मकम् ।
विषयेषुर्न-मोहारेमेत्र्यके न लगिष्यति ॥ ११८ ॥

माया मोह निवारके, विषयनसौं मनखींच
जो सुख चाहे आपणा, तो रहो ज्ञानके बीच ॥ ११९ ॥

मायामोहं निवार्य्यैवं विषयेभ्यो मनो हर।
वाञ्छस्यात्मसुखं चेद्धि, ज्ञाने विहर मे सखे! ॥ ११९ ॥

भेद लहे विन ज्ञानके, मत भूंसे जिम स्वान।
लोग गडरिया चाल तज, आपनपो पहिचान ॥ १२० ॥

मा कुरु भषणं श्वेव, ज्ञानभेदाप्तिमन्तरा।
लोकमेषीगतिं त्यक्त्वा, स्वात्मानं परिबोधय ॥ १२० ॥

कामधेनु अरु कल्पतरु, इण भव सुख दातार।
इणभव परभव दुहुनमें, ज्ञान करत निस्तार ॥ १२१ ॥

कल्पद्रुः कामधेनुश्च, लोकेऽत्रैव सुखप्रदौ।
निस्तारयति बोधस्तु, जगत्यत्र परत्र च ॥ १२१ ॥

जगत् मोह फांसी प्रवल, कटै न और उपाय।
सत्सङ्गति कर ज्ञानकी, सहज मुक्ति हो जाय ॥ १२२ ॥

मोहपाशो दृढो लोके, च्छिद्यते नान्ययत्नतः।
कुरु बोधस्य सत्सङ्गं, मुक्तिः स्यात्स्वयमेव हि ॥ १२२ ॥

विच पारस अरु ज्ञानके, अन्तर जान महन्त।
यह लोहा कञ्चन करत, वह गुण देय अनन्त ॥ १२३ ॥

पारसाश्मनि बोधे च, जानीहि महदन्तरम्।
लोहं स्वर्णं करोत्येव, स त्वनन्तगुणप्रदः ॥ १२३ ॥

प्रथम ज्ञान पीछे दया, यह जिनमतको सार।
ज्ञान सहित किरिया करूं, तव उतरूं भव पार ॥ १२४ ॥

जैनसिद्धान्तसारोऽयं, पूर्वं ज्ञानं ततो दया।
सज्ज्ञाना चेत्क्रिया कुर्यां, तदा स्यां भवपारगः ॥ १२४ ॥

अथोपसंहारः

अति आलस परमादियो, भञ्जुलाल मुझ नाम।
ज्ञानोद्यम कछु ना वने, किम सुधरे मुझ काम ॥ १२५ ॥

अहं च भञ्जुलालाख्यः, प्रमत्तश्च सुसायक।
ज्ञानोद्यमो न मे कश्चित्कथं कार्यं तु सेत्स्यति ॥ १२५ ॥

दर्शन पुनि निश्चल नहीं, नहिं निश्चल चरित्र।
मन भ्रमतो निशिदिन रहे, नहिं ठहरे एकत्र ॥ १२६ ॥
सम्यक्त्वं निश्चलं मे नो, चारित्रमपि नैव च ।
नित्यं भ्राम्यति चित्त तु, तदेकत्र न तिष्ठति ॥ १२६ ॥

ऐसी करी विचारणा, रे जिय! अबतो चेत।
चार चरण गुरु 'रतनजी', ऐसो करि सङ्केत ॥ १२७ ॥
एव जाते विचारे तु, चेत जीव! किलाधुना ।
चतुर्वर्णगुरु 'रतनजी', सङ्केत कृतवानिमम् ॥ १२७ ॥

चार वर्ण गुरु 'रतनजी', तास भेद चौवीस।
तामें भेद जु तेरवे, करी ज्ञान बकसीस ॥ १२८ ॥
चातुर्वर्ण्यगुरु 'रतनजी', तद्भेदा युगविंशतिः ।
त्रयोदशे तु भेदे च, ज्ञानदानं व्यधादसौ ॥ १२८ ॥

ज्ञान पाय तुलसी मती, शुक्ला छट मधुमास।
संवत् रस अग्नि अंक भू, रच्यो शान्ति परकाश ॥ १२९ ॥
ज्ञानं प्राप्य मतिर्हृष्टा, रसाऽग्न्यङ्केन्दुरब्दके ।
सिते षष्ठ्या मधौ "शान्तिप्रकाशो" रचितो मया ॥ १२९ ॥

आशिर्वचनम्

अरिहंत-सिद्ध-गण-ईशजी, उपाध्याय सब साध।
पंच परमगुरु दीजिये, निर्म्मल ज्ञान समाध ॥ १३० ॥
अर्हन्सिद्धोऽथवाऽऽचार्य, उपाध्यायो मुनिस्तथा ।
पञ्चैव गुरवो दद्यु, शुद्धबोधसमाधिकं ॥ १३० ॥

इति श्रीमज्जैनाचार्यभञ्जुलालकृतशान्तिप्रकाशः समाप्तः ॥

"सुसंस्कृतानुवादस्तु, कृतः पुष्पेन्दुभिक्षुणा
शान्ते वीररसं प्राप्य, मोक्षः सञ्जायते ध्रुवम्"

———o◇o———

वीरस्तुति-परिशिष्ट नं० ६

वीरस्तु भगवान्स्वयम्

जैनेशं निखिलाऽमराऽऽनुतपदं सर्व्वान्तरायापहं, हार्दध्वान्तरविं च योगसदनं श्राद्धैकगम्यं परम् । संसारार्णवपोतमत्र निखिलाऽऽनन्दालयं तापहं, ध्यायेऽहं मनसा धिया च सततं श्रीवर्धमानं जिनम् ॥ १ ॥ महावीरंनमस्कृत्य, स्याद्वादगी पतिं जिनम् । निगदे तज्जन्मवृत्त, भव्यानां हितहेतवे ॥ १ ॥ भवार्णवोद्धारकरः, श्रीवीरभगवान् प्रभुः । पवित्रं शासन यस्य, तदुत्थाने मनोऽर्प्पय ॥ २ ॥ अतश्च शासनोत्थाने, भवन्तः पक्षपातिनः । सम्बन्धादिति विज्ञेयाश्चोत्थानस्तवके मुदा ॥ ३ ॥ सज्जितं भाविस्वोत्थानकुसुमं स्ववशं नय । सम्भवेऽस्ति त्रिरत्नादिजलसेचनकैरपि ॥ ४ ॥ स्वल्पत्वादुपचारस्य, चास्मिन्नुत्थानरूपके । सौरभाभावहेतोश्च, मनो मधुकरो न हि ! ॥ ५ ॥ भवल्लोभगतं चेदं, निशामय तत. परम् । स्तवकस्य प्रभावेण, हठात्स्ववशमानयेत् ॥ ६ ॥ कृपाकटाक्षं जानीत, भगवत्तत्त्वचिन्तका । अस्त्वेतावन्न चैतस्य, स्वल्पत्वं किञ्चिदस्ति हि ॥ ७ ॥ अस्य विश्वासमात्रेण, प्रयत्ने करणे पुन. । साहसत्वं न सञ्जातमस्मिन्नवसरेऽपि न ॥ ८ ॥ शासनोत्थानपुष्पान्तर्गतो निरतिशायकः । मकरन्द. कियानस्ति, प्रोत्थानरूपपुष्पके ॥ ९ ॥ 'वीरस्तु भगवान् स्वय'मिति स्वादे रसस्य हि । अभिलाषो यदोत्पन्नस्तदा पाठकसङ्घकः ॥ १० ॥ किञ्चिद्धारय धैर्य्यं तु, मत्त. सर्वं प्रयासत । निबन्धस्यास्य सम्बन्धे, कथनीयं कियन्मया ॥ ११ ॥ प्रथमं प्रतिपाद्यस्य, विषयस्येदमस्ति हि । सिद्धि प्रमाणतो ज्ञेया, सिद्धान्तस्येति सम्मतम् ॥ १२ ॥ सौत्र-सिद्धान्त-शास्त्रस्य प्राचीनेयं सुपद्धति· । जैनशास्त्रेषु सूत्रेषु, मुख्यत्वेन सुवर्णितम् ॥ १३ ॥ 'सम्यग्ज्ञान प्रमाणं' च, प्रत्यक्षेतरभेदत । द्विविधं शास्त्रतो ज्ञेयं, श्रुतिज्ञानाद्धि भावय ! ॥ १४ ॥ अवधिमन पर्य्ययावेकदेशप्रत्यक्षकौ । केवल सर्व्वप्रत्यक्षं, परोक्षे मतिश्रुतेऽपिच ॥ १५ ॥ इति नीत्या सुविज्ञेयं, प्रमाणद्वयसम्मतम् । प्रत्यक्षं च परोक्ष वा, नान्यदस्ति पृथक् पुनः ॥ १६ ॥ एतद्वयप्रमाणे वै, अन्तर्भावोऽन्यकस्य हि । अतश्चैतद्वयस्यैव, निबन्धेऽस्मिन्नियोजनम् ॥ १७ ॥ हि केषाचिन्मते न स्यादेतयोरन्तर पुनः । मान्यतयाऽनयाभावे, वार्ता किं बहुलेखतः ॥ १८ ॥ सुसकेतोपलब्धिभ्या, शंका विषयजा पुनः । निवा-

रणीया यत्नेन, नात्र कार्या विचारणा ॥ १९ ॥ वार्ताऽन्याप्यस्ति चात्रैव, लेखवृद्धिः प्रजायते। वास्तवज्ञानशून्यं स्यात्काठिन्यं विदुषा भवेत् ॥ २० ॥ इति शंका भिया नैव, प्रत्येकविषयस्य हि। प्रमाण स्पष्टरूपेण, न निर्दिष्टमिह स्फुटम् ॥ २१ ॥ जिज्ञासूना विजिज्ञासा, दृढाय ह्यनुरूपतः। तदा तेषां विनिर्देशोऽवश्यं स्यात्प्रकटं पुन. ॥ २२ ॥ हेतुस्तृतीयो ज्ञातव्यो, विवेचनमवाप्स्यति। प्रस्तुतविषयस्यापि, *सम्प्रदायानुसारत. ॥ २३ ॥ लक्ष्ये विशेषं सस्थाप्य, सूक्ष्ममात्रैकदृष्टितः। प्रत्येकस्यात्र लेखस्याऽनुभवाच्छास्त्रतस्तथा ॥ २४ ॥ सर्वसिद्धान्ततः सार्वभौमस्य व्याप्तिरूपतः। अस्ति सम्भावना चास्य, ज्ञानं सम्यक्त्वपूर्वकम् ॥ २५ ॥ कस्यचिद्धेतुतश्चित्ते, शङ्कोत्पत्तिर्भवेन्न हि। विचारानन्तर तेषा, शङ्का स्यान्निर्मूलिका ॥ २६ ॥ सर्वत्र मेऽस्ति विश्वासो, नैवं शंका कदापि हि। चतुर्थी च सुवार्तेय, कस्याऽपि विषयस्य च ॥ २७ ॥ प्रतिपादयितु शश्वन्कयापि भाषया भवेत्। चतुर्विधत्वं सामग्र्या, अपेक्षा जायते ध्रुवम् ॥ २८ ॥ विज्ञेया सा च सामग्री, निम्नलेखक्रमेण च। निर्णयस्तत्वसपाना, प्रथमानुयोगरूपतः ॥ २९ ॥ विचारार्थं च वस्तूनां, साक्षाद्विषयवर्णनम्। कथनोपकथनाश्चेति, नान्यो हेतुर्मनागपि ॥ ३० ॥ शास्त्रे पूर्वानुयोगं च, धर्मकथानुयोगकम्। कथ्यतेऽत्र विचारेण, तत्वज्ञानार्थिभिर्मुदा ॥ ३१ ॥ "धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्। पूर्ववृत्तकथोपेतमितिहास प्रचक्षते" ॥ ३२ ॥ दृष्टान्तयेतिहासोऽपि, चेतना कथ्यतेऽधुना। स्थानाङ्गेऽपि यथा ज्ञेयं, चतुर्धाऽभिनिगद्यते ॥ ३३ ॥ मुख्य फलं यथायाथ्य, तत्त्वनिर्णयेन हि। य शब्दो यत्परश्चास्ते, तदर्थोऽपि स एव हि ॥ ३४ ॥ लक्ष्ये मुख्या पदार्थे य, शब्दस्य यस्य चैव हि। प्रयोग यदि कुर्वीत, स शब्दश्चार्थवान् भवेत् ॥ ३५ ॥ सर्वेषा सम्मत चेदं, सिद्धान्त सस्फुट सदा। तदा सम्पद्यते भाव, सर्वत्रैव विचारत ॥ ३६ ॥ लक्ष्य बोधयितुं य हि, वाग्व्यापार्यतेऽसकृत्। सोऽपि शब्द. स एव, ज्ञायतेऽर्थसमन्वित ॥ ३७ ॥ ततोऽन्यार्थप्रतीतेश्च, श्रोतुर्भवति विभ्रम.। भोजनावसरे सन्धवेनेत्युक्ते पदात्तत. ॥ ३८ ॥ लवणे लवणाऽऽरोपो न चान्योऽर्थोऽप्रतीयते। प्रस्थाने हयबोधश्च, तथान्यसम्भवात् ॥ ३९ ॥ सोऽयं सुविचार्योऽर्थो, नान्योऽर्थ प्रतिपद्यते। अथोपार्दशपक्षत्वे, सति शास्त्रप्रमाणकम् ॥ ४० ॥ प्रमाण तु तदैतन्न्याप्रमाण-

---

* गुरुपरम्परागतानुभवानुसारत इत्याशय ॥

विषयस्य च। वास्तविकं च 'सत्य च, येन ज्ञानं प्रजायते। आत्मानन्दे पर योऽऽर रमतेऽहर्निशं पुमान्। तत्पदाम्भोजयुग्मेऽस्तु त्रिकालं मम वन्दना ॥ ४१ ॥ अस्यालौकिकविश्वस्य, दृष्टमद्भुग्यमुत्तमम्। स्फुटं विज्ञायते विश्वं, विश्वमानन्दपूरितम् ॥ ४२ ॥ आनन्दापेक्षया विश्वे, विश्वस्मिन्नेकताऽस्ति च। जगतो हि जगद्धर्मो भिन्नभावं गतोऽस्ति न ॥ ४३ ॥ एकैकप्राणी विश्वस्याऽस्त्यानन्दमय एव हि। अस्त्यानन्द प्रियस्तेषामतस्तत्तृषितस्तथा ॥ ४४ ॥ अधिगन्तुं तमानन्दं विश्वधर्मा हि साधनम्। तान् धर्मान् प्राणिनो नैजानन्दायैवोदपीपदन् ॥ ४५ ॥ आनन्दापेक्षया सन्ति, प्राणिन· सदृशा· समे। व्यक्तित्वापेक्षया किन्तु, नरा उत्कृष्टप्राणिन ॥ ४६ ॥ आनन्दस्याभिवृद्ध्यर्थ, मानवा सुमनोहरान्। आकर्षकानुपायाश्चाऽनेकान् विरचयन्ति ते ॥ ४७ ॥ आत्मानन्दवृद्ध्युपायेषु, मनुष्यरचितेषु च। सर्वोत्कृष्ट उपायस्तु, धर्म एवास्ति केवलम् ॥ ४८ ॥ आनन्दस्य स्वरूपं हि, तुल्यं प्रत्येकप्राणिनाम्। सामर्थ्यमात्मनस्तुल्यमस्ति प्रत्येकदेहिनाम् ॥ ४९ ॥ तुल्यं वास्तविकं रूपमस्ति प्रत्येकदेहिनाम्। भवेत्साधनधर्मस्य, सत्येवं तुल्यतोचिता। समानमेव सम्पूर्णमस्त्येतदनुमारत ॥ ५० ॥ मनुष्यस्तादृश प्राणी, प्रवीणकरणोऽस्ति यत्। आत्मानन्दाभिवृद्धिं स, कर्तुं शक्नोति निश्चितम् ॥ ५१ ॥ एतावदेव न परमन्यच्छृणुत सज्जना.। अनन्तानुभवं प्राप्ता, आत्मानन्दस्य ये नरा। ते स्वपश्चाद्भविष्यन्त्या, नरजाते कृते खलु। प्राप्ता मसाधनाधर्म, स्मत्यै त्यक्त्वा दिवं गता· ॥ ५२ ॥ तेन धर्मस्वरूपेण, साधनेनेतरा नरा। आत्मनो लौकिकानन्दमवाप्तुं शक्नुवन्ति च ॥ ५३ ॥ लोकेऽन्यप्राणिनश्चास्य, प्रत्यक्षजगत· खलु। अलौकिकप्रभापुजैर्भवत्यानन्दतुन्दिला ॥ ५४ ॥ परन्त्विह मनुष्याख्यदेहिनस्तु स्वयं किल। निजानन्दमया भूत्वा, तन्नैजानन्दसम्पदा ॥ समस्तविश्वाप्रतिमाऽऽनन्दवृन्दाभिवर्धनम्। उपादेय सुरम्य च, विधानं पारयन्ति च ॥ ५५ ॥ यो धर्मोऽस्ति नृणा सैवालोकिकानन्दसम्पदा। अभिवृद्धेरिहादर्शरूपोऽस्तीति विभाव्यताम् ॥ ५६ ॥ इय सृष्टिरनाद्यनन्तकालात्तदनुबन्धिनी। अनन्ततत्वरूपेषु, यथावत्सप्रवर्तते ॥ ५७ ॥ आत्मीयानन्ततत्त्वेषु, सा सृष्टिर्ध्रुवरूपतः। अलौकिकस्वरूपे चानन्ततत्त्वस्वरूपतः। अनन्तकालपर्यन्तं सत्यशाश्वतरूपत।

---

* अथ सत्यस्य हार्दम्–

अलौकिकानन्दरूपे, नित्याऽवस्थाऽस्य ते स्थिरा ॥ ५८ ॥ विचित्ररूपेयं सृष्टिरस्त्यलौकिकवस्तु च । स्थिरा नित्या च साऽस्तीति, सृष्टिमीमांसका जगुः ॥ ५९ ॥ अस्त्यालौकिकसामर्थ्यभूतालंकरणेषु च । सर्गस्य धर्म एवैकं, सर्वोत्कृष्टं विभूषणम् ॥ ६० ॥ धर्ममीमांसका लोकेऽनेके सम्भवन्निह । ते लौकिकपरिष्काररूपेण हितकांक्षिणः ॥ नैजधर्मविचारात्मकप्रसादेन मञ्जुना । एतन्महीतलं चाल, चक्रिरेऽलं कृपालवः ॥ ६१ ॥ इदानीं समये चैषामलौकिकप्रसादिनाम् । निम्ननिर्दिष्टनामानो, भवन्तीक्षणगोचराः ॥ ६२ ॥ वेदान्त-सांख्ययोगौ च मीमांसा द्वितयी पुनः । न्यायो वैशेषिको शैवो, वैष्णवस्तान्त्रिकास्तथा ॥ स्वामीनारायणो जैनो, बौद्धो मोहम्मदः पुनः । ईशायी पारसीयश्च, यहूदीयादयः परे ॥ ६३ ॥ एषां तदितरेषाञ्च, भिन्नभिन्नमताश्रिताम् । धर्मालङ्कारभूतानामुद्देश्यं त्वस्ति केवलम् । आत्मानन्दाधिगमनमित्यं तत्त्वविदो विदुः ॥ ६४ ॥ उद्देश्ये सर्वधर्माणामेकीभावमुपागते । तत्साधनानि सर्वाणि, भजन्तीहैकरूपताम् ॥ ६५ ॥ पृथक् पृथक् देशकालाबाधाङ्गीकृत्य ते ननु । अन्योऽन्यभिन्नरूपेश्च, सम्प्रवृत्ता भवन्ति च ॥ ६६ ॥ तत्रार्हतानां तूद्देश्यं, ज्ञानं कैवल्यमात्मनः । किं च तस्य हि कैवल्यप्रापणं केवलोदयात् ॥ ६७ ॥ एतदेवाभिमन्यन्ते, योग-वेदान्ति-वैष्णवाः । स्वामिनारायणश्चापि, जैनेनेत्यमिहोच्यते ॥ ६८ ॥ "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ" एकं जानाति यो नाम, सर्वान् जानाति स ध्रुवम् ॥ ६९ ॥ वेदान्तीया भगवती, श्रुतिरप्याह तद्यथा । "आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" ज्ञाते सत्यात्मनि ज्ञानं, भवतीदमशेषतः ॥ ७० ॥ "अप्पा सो परमप्पे"ति, जैना अभिदधत्यपि । वेदान्तशास्त्राभिज्ञास्तथाऽत्युदीरयन्ते ॥ "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" "प्रज्ञानं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" ॥

विषयस्य च। वास्तविकं च *सत्य च, येन ज्ञानं प्रजायते। आत्मानन्दे पर योऽर रमतेऽहर्निशं पुमान्। तत्पदाम्भोजयुग्मेऽस्तु त्रिकालं मम वन्दना ॥ ४१ ॥ अस्यालौकिकविश्वस्य, दृष्टंमद्दृश्यमुत्तमम्। स्फुटं विज्ञायते विश्वं, विश्वमानन्दपूरितम् ॥ ४२ ॥ आनन्दापेक्षया विश्वे, विश्वस्मिन्नकताऽस्ति च। जगतो हि जगद्धर्मो भिन्नभावं गतोऽस्ति न ॥ ४३ ॥ एकैकप्राणी विश्वस्याऽस्त्यानन्दमय एव हि। अस्त्यानन्द प्रियस्तेषामतस्तत्तृपितस्तथा ॥ ४४ ॥ अधिगन्तुं तमानन्दं विश्वधर्मा हि साधनम्। तान् धर्मान् प्राणिनो नैजानन्दायैवोदपीपदन् ॥ ४५ ॥ आनन्दापेक्षया सन्ति, प्राणिन सदृशा· समे। व्यक्तित्वापेक्षया किन्तु, नरा उत्कृष्टप्राणिन ॥ ४६ ॥ आनन्दस्याभिवृद्ध्यर्थं, मानवा सुमनोहरान्। आकर्पकानुपायाश्चाऽनेकान् विरचयन्ति ते ॥ ४७ ॥ आत्मानन्दद्धर्युपायेषु, मनुष्यरचितेषु च। सर्वोत्कृष्ट उपायस्तु, धर्म एवास्ति केवलम् ॥ ४८ ॥ आनन्दस्य स्वरूपं हि, तुल्य प्रत्येकप्राणिनाम्। सामर्थ्यमात्मनस्तुल्यमस्ति प्रत्येकदेहिनाम् ॥ ४९ ॥ तुल्यं वास्तविक रूपमस्ति प्रत्येकदेहिनाम्। भवेत्साधनधर्मस्य, सत्येवं तुत्यतोचिता। समानमेव सम्पूर्णमस्त्येतदनुमारत· ॥ ५० ॥ मनुष्यस्तादृश प्राणी, प्रवीणकरणोऽस्ति यत्। आत्मानन्दाभिवृद्धिं स, कर्तुं शक्नोति निश्चितम् ॥ ५१ ॥ एतावदेव न परमन्यच्छृणुत सज्जनाः। अनन्तानुभवं प्राप्ता, आत्मानन्दस्य ये नरा। ते स्वपश्चाद्भविष्यन्त्या, नरजाते कृते खलु। प्राप्ता मसाधनाधर्मं, स्मृत्यै त्यक्त्वा दिव गता· ॥ ५२ ॥ तेन धर्मस्वरूपेण, साधनेनेतरा नरा। आत्मनो लौकिकानन्दमवाप्तु शक्नुवन्ति च ॥ ५३ ॥ लोकेऽन्यप्राणिनश्चास्य, प्रत्यक्षजगत खलु। अलौकिकप्रभापुजैर्भवत्यानन्दतुन्दिला ॥ ५४ ॥ परन्त्विह मनुष्याख्यदेहिनस्तु स्वयं किल। निजानन्दमया भूत्वा, तन्निजानन्दसम्पदा ॥ समस्तविश्वाप्रतिमाऽऽनन्दवृन्दाभिवर्धनम्। उपादेय सुरम्य च, विधानं पारयन्ति च ॥ ५५ ॥ यो धर्मोऽस्ति नृणा सैवालोकिकानन्दसम्पदा। अभिवृद्धेरिहादर्शरूपोऽस्तीति विभाव्यताम् ॥ ५६ ॥ इय सृष्टिरनाद्यनन्तकालात्तदनुबन्धिनी। अनन्ततत्वरूपेषु, यथावत्सप्रवर्तते ॥ ५७ ॥ आत्मीयानन्ततत्त्वेषु, सा सृष्टिर्ध्रुवरूपतः। अलौकिकस्वरूपे चानन्ततत्त्वस्वरूपत.। अनन्तकालपर्यन्त सत्यशाश्वतरूपत।

---

* अथ सत्यस्य हार्दम्–

अलौकिकानन्दरूपे, नित्याऽवस्थाऽस्य ते स्थिरा ॥ ५८ ॥ विचित्ररूपेयं सृष्टिरस्त्यलौकिकवस्तु च । स्थिरा नित्या च साऽस्तीति, सृष्टिमीमांसका जगुः ॥ ५८ ॥ अस्यालौकिकसामर्थ्यभूतालंकरणेषु च । सर्गस्य धर्म एवैक, सर्वोत्कृष्टं विभूषणम् ॥ ६० ॥ धर्ममीमांसका लोकेऽनेके समभवन्निह । ते लौकिकपरिष्काररूपेण हितकाङ्क्षिण ॥ नैजधर्मविचारात्मकप्रसादेन मञ्जुना । एतन्महीतलं चाल, चक्रिरेऽलं कृपालव ॥ ६१ ॥ इदानीं समये चैषामलौकिकप्रसादिनाम् । निम्ननिर्दिष्टनामानो, भवन्तीक्षणगोचरा. ॥ ६२ ॥ वेदान्त. साङ्ख्ययोगौ च मीमांसा द्वितयी पुन । न्यायो वैशेषिको शैवो, वैष्णवस्तान्त्रिकास्तथा ॥ स्वामीनारायणो जैनो, बौद्धो मोहम्मद पुन । ईशायी पारसीयश्च, यहूदीयादय परे ॥ ६३ ॥ एषा तदितरेषाञ्च, भिन्नभिन्नमताश्रिताम् । धर्मालङ्कारभूतानामुद्देश्य त्वस्ति केवलम् । आत्मानन्दाधिगमनमित्थ तत्वविदो विदु ॥ ६४ ॥ उद्देश्ये सर्व्वधर्माणामेकीभावमुपागते । तत्साधनानि सर्व्वाणि, भजन्तीहैकरूपताम् ॥ ६५ ॥ पृथक् पृथक् देशकालाबाधारीकृत्य ते ननु । अन्योऽन्यभिन्नरूपैश्च, सम्प्रवृत्ता भवन्ति च ॥ ६६ ॥ तत्रार्हताना तूद्देश्य, ज्ञानं केवलमात्मन । किं च तस्य हि कैवल्यप्रापणं केवलोदयात् ॥ ६७ ॥ एतदेवाभिमन्यन्ते, योग-वेदान्ति-वैष्णवा । स्वामिनारायणश्चापि, जैनेनेत्थमिहोच्यते ॥ ६८ ॥ "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ" एकं जानाति यो नाम, सर्व्वान् जानाति स ध्रुवम् ॥ ६९ ॥ वेदान्तीया भगवती, श्रुतिरप्याह तद्यथा । "आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" ज्ञाते सत्यात्मन ज्ञानं, भवतीदमशेषत ॥ ७० ॥ "अप्पा सो परमप्पे"ति, जैना अभिदधत्यथ । वेदान्तमार्ता [illegible] "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" "प्रज्ञानं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" ॥ ७१ ॥ अहं ब्रह्माऽस्म्यसि त्वं तत्, प्रज्ञानं ब्रह्म चीर्यते । अयमात्माऽपि तद्ब्रह्म, सच्चिदानन्दरूपि यत् ॥ ७२ ॥ सन्ति वेदस्य चत्वारो, भागास्तेषु चतुर्षु च । अन्त्यैरेकं महावाक्य, दृश्यते तद्यथाक्रमम् ॥ ७३ ॥ "अहं ब्रह्मास्मि" 'यजुष' सामन्यत्वमसीति च । "प्रज्ञानं ब्रह्म', ऋग्वेदे 'अयमात्माथर्वणवेद' ॥ ७४ ॥ चतुर्ष्वेतेषु वाक्येषु, वाक्य [illegible] ह । [illegible] च विद्यते ॥ ७५ ॥ [illegible] च । "नाणे पुण नियमा आया" ज्ञानेतु [illegible] ॥ "प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्येवं वेदान्तेनाभिधीयते

॥ ७६ ॥ आर्हतैरुच्यते जन्ममृत्युरूपा तु संस्मृतिः। कर्म्मद्वारा प्रचलति, तच्च कर्म्म जडं स्मृतम् ॥ ७७ ॥ कर्म्मणोऽस्य नियन्तात्माऽस्तीत्येवं सर्व्वसम्मतम्। अधिष्ठानं कर्म्मजन्यं, सृष्टेरात्माऽयमस्ति च ॥ ७८ ॥ वेदान्तेनोच्यते मायाद्वार जन्मादिसम्मतम्। आत्मरूपेश्वरश्चास्यानियामकमुदीर्य्यते ॥ ७९ ॥ स्याद्वादिनो वदन्त्येवं, कर्म्मोपाधौ लयं गते। आत्माऽयं जन्ममरणबन्धनान्मुच्यतेतराम् ॥ ८० ॥ वेदान्तकान्तसिद्धान्तवागत्रेत्थं प्रवर्तते। मायोपाधौ लयं प्राप्ते, भवादात्मा विमुच्यते ॥ ८१ ॥ जैनेनाऽ'पुणरावित्ती'त्युक्तेत्थमभिधीयते। भवत्यपुनरावृत्तिर्भवे मुक्तस्य चात्मन· ॥ वेदान्तोऽभिदधात्यात्मा, पुनरावर्तते न हि। गीताया कृष्णचन्द्रेण, प्रोक्तमित्थं महात्मना ॥ "यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम" ॥ ८२ ॥ "एगे आये" ति वाक्येन, जैनस्त्वित्थं प्रभाषते। 'एकोऽस्त्यात्मा'-गुण-द्रव्य-पर्यायापेक्षया खलु ॥ "एकोऽहमिति" वेदान्तोऽप्यत्रार्थे कृतसम्मति ॥ ८३ ॥ जैनाना च मते *तर्को, नात्मान वेत्ति तत्त्वत। तथा धीश्चात्मरूपं हि, नाप्तु शक्नोति वास्तवम् ॥ ८४ ॥ †यतो निवर्तते वाणी, सहैव मनसा मुहु। जैना वदन्ति चाखण्डं, परिपूर्णतमं परम् ॥ ८५ ॥ जानयन्ति ये च ‡तद्वत्कैवल्यं प्राप्नुवन्ति ते। वेदान्तिनोऽखिले चास्मिन्भवे ब्रह्म सनातनम् ॥ ८६ ॥ व्यापकं सच्चिदानन्दस्वरूपं वर्णयन्ति च। शास्त्रेऽच्छेद्यमभेद्य च, तथाऽदाह्यमशोष्यकम् ॥ ८७ ॥ अवध्यमस्मिञ्जगति, नात्मा नैव प्रदृश्यते। कदाचिच्चर्मचक्षुभ्या, मृत्युजन्म विवर्जित ॥ ८८ ॥ सच्चिदानन्दरूपश्च, जीवात्मा हि स्वभावतः। क्षित्याद्याकाशभूतेषु, नक्षत्रेष्वपि सर्वत ॥ ८९ ॥ परिपूर्णतमस्तद्वच्चैतन्यगुणसयुत। जीवात्मा चैतनारूपसच्चिदानन्दविग्रह ॥ ९० ॥ न तद्रिक्तं किञ्चिदपि, स्थानं चास्ति भवे क्वचित्। चैतन्याश्रयजीवस्य, दृष्ट्या सर्वं चिदात्मकम् ॥ ९१ ॥ स्वयमात्मा च सर्व्वज्ञ, इति वेदान्तिनोऽब्रुवन्। तथा जैना वदन्तीत्थमात्माऽनन्तश्च ज्ञानयुक् ॥ ९२ ॥ सनातन व्यापकं च, ब्रह्मवेदान्तिनो विदु। स्वयं शुद्धो विशुद्धश्च, निजात्मानन्दरूपभाक् ॥ ९३ ॥ सर्व्वज्ञ सर्वदर्शीति, जैनाश्चैवं वदन्त्यद। §वल्लभा-

---

* "तक्का जत्थ ण विज्जइ, मइ तत्थ ण गाहिता।" † "यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह"। ‡ "कैवल्यपदमस्तु ते"। § 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीन। आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि, सर्व्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा ॥ १ ॥

चार्यसिद्धान्ते, स्थितिरेषा सनातनी ॥ ९४ ॥ निर्दोषः पूर्णगुणवानात्मानन्दगुणाश्रित.। स्वतन्त्रः सर्व्ववित्साक्षी, शरीरगुणवर्जितः ॥ ९५ ॥ तथात्मा करपादादिमुखादीन्द्रियवर्जितः । स चावयवादिभेदेन, कल्पनाकरणेऽपि च ॥ ९६ ॥ सदानन्दमयो नित्यो, वासनारहितो विभु । श्लोकोक्तात्मतत्वस्य, कल्पनावयवस्य च ॥ ९७ ॥ केवलानन्दरूपश्च, नास्त्यत्र च विकल्पनम् । जन्ममृत्युजरादिभ्यो, व्यतिरिक्तश्च सर्वदा ॥ ९८ ॥ जन्मोत्पत्तिप्रभङ्गादिभेदशून्योऽस्ति निर्मल । जन्मादित्रिविधो भेदस्तद्भिन्नं चात्मरूपकम् ॥ ९९ ॥ वल्लभाचार्यस्य मते, ज्ञेयं तत्तत्वदर्शिभि । सज्जैनमतसिद्धान्ते, नात्मा कर्तेति निश्चयः (निश्चयनयेनेत्याशय) ॥ १०० ॥ साङ्ख्यशास्त्रविदश्चाह, *कर्ताऽहङ्कार एव च । न कर्तृत्वं चात्मनश्च, निर्लेपत्वादविक्रियात् ॥ १०१ ॥ किन्तु पुरुषोऽकर्तैव, प्रवदन्ति मनीषिण· । ईश्वर सर्वविन्नित्यो, रागद्वेषादिवर्जित· ॥ १०२ ॥ ज्ञानविज्ञानसम्पन्न, इत्येवं वर्णयन्ति च । जैनाश्चेत्थ योगशास्त्रं, †क्लेशकर्मविपाकत· ॥ १०३ ॥ आशयेनापरामृष्टश्चेश्वरः पुरुषोत्तम । रागद्वेषादयो भावा, न स्पृशन्ति सदीश्वरम् ॥ १०४ ॥ ‡सर्वज्ञत्वमीश्वरे चास्ति, आत्मा चैतन्यरूपवान् । एवं निगद्यते शास्त्रे, चानन्तो निष्कलोऽव्ययः ॥ १०५ ॥ निर्विवाद सदात्मास्ति, चैतन्यगुण. सयुतः । निष्क्रियो निष्कलस्तद्व्द्व्यापको गुणत. पृथक् ॥ १०६ ॥ तन्माया जगता कर्त्री, चिच्छक्तिर्गुणविग्रहा । $सत्यज्ञानमनन्तञ्च, ब्रह्मेति श्रुतिसम्मतम् ॥ १०७ ॥ ब्रह्मस्वरूपे पापपुण्ये, न स्तो दु खसुखे तथा । नास्ति किञ्चिज्जगत्यस्मिन्व्यापकत्वं विना स्थितम् ॥ १०८ ॥ सच्चिदानन्दरूपेण, §शिवोऽहं नेतर. क्वचित् । केवलज्ञानसम्पन्नोऽत्रैव मोक्षानुभावक· ॥ १०९ ॥ इति जैनमतं शश्वज्जागर्ति प्रभुरीश्वर । इदमेव मतं ज्ञेय, सहजानन्दस्वामिनः ॥ ११० ॥ अक्षरस्थानमात्मैव, स्वयं चाक्षयरूपवान् । आत्मानं च विजानीयादक्षरं परमं परम् ॥ १११ ॥ तज्ज्ञानं सत्यमित्युक्तं, तदन्यत्सकलं मुधा ।

---

* "अहङ्कार कर्ता न पुरुष इति साङ्ख्यः" । † "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट· पुरुषविशेष ईश्वर ।" ‡ "तत्र सर्व्वज्ञबीजम् ।" $ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । § न पाप न पुण्य न दुःख सुख न, चिदानन्दरूपं शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

आकाशादिस्थले यच्च, ज्ञानं मिथ्यामय च तत् ॥ ११२ ॥ प्रणामिमार्गाश्र-यिणो, देवचन्द्रादयो मुहु । स्वमम्प्रदायके नित्यं, निजानन्दमतं जगु ॥ ११३ ॥ दृष्ट्याऽनया दर्शनेन, भारतेऽत्र सुधर्मिणाम् । जनानामात्मतत्वस्य, सिद्धान्तप्राप्तये मुदा ॥ ११४ ॥ **माहम्मदो**ऽपि वदति, भवेऽस्मिन्यत्प्रतीयते । चैतन्यमेव तत्सर्व्वं, नान्यत्किञ्चिद्विभाव्यते ॥ ११५ ॥ खुदा निरञ्जन साक्षी, निराकारोऽतिशक्तिमान् । तेजोमयो ह्यनन्तश्च, सर्वज्ञ इति निश्चय ॥ ११६ ॥ **मोमिनाख्यश्च** सततं, कृपालु स्वसमीपगम् । पश्यत्येव खुदाऽह च, खुदा-ह्यर्थो निजात्मनः ॥ ११७ ॥ **जिसिसक्राइष्टमतं,** तद्वच्चतुर्थाकागकोपरि । विभुर्विराजते स हि, भक्तात्मा परिकीर्तित ॥ ११८ ॥ भक्ताश्च तं प्रपश्यन्ति, तथा भूमण्डलेऽखिले । विख्यातकीर्तिर्**बुद्धो**ऽपि, स्पष्ट समुक्तवानिति ॥ ११९ ॥ **"प्रेमैवात्मा"** जगत्यस्मिन्, प्रत्येक प्राणिनो मुदे । स्थापनीय च प्रेमैवाभेदभाव-समाश्रयै. ॥ १२० ॥ तत्वज्ञानस्य दृष्ट्या तु, दर्शनेन प्रतीयते । जैनो वेदान्त-योगौ च, साख्यवौद्धौ तथा पुन ॥ १२१ ॥ **अनुभवं चैकतायाः, कुर्व्वे-न्तीति** विभावय । नेतुं वै चैकतायास्तु, तथानन्दविवृद्धये ॥ १२२ ॥ भिन्नं च साधनं कर्तुं, भिन्नधर्मैस्तथा पुन । भिन्नो देशस्तथा कालो, विभिन्ना पद्धति पुन· ॥ १२३ ॥ मीमासकैर्विनिर्दिष्टा, विभिन्न सर्वसाधनम् । अत एव बहिर्दृष्ट्या, ज्ञायते मतकर्मणाम् ॥ १२४ ॥ भेदाभेदक्रिया सर्वा, तथापि तत्क्रियान्वयम् । कुर्यात्त्वभेदभावं च, भजते प्रेमभावतः ॥ १२५ ॥ जैनाश्चा-हुर्महाव्रत, **बौद्धा**स्तत्पञ्चशीलकम् । *योगे पञ्चात्मक प्राह, यम शमदमादिकम् ॥ १२६ ॥ **वेदान्ते** प्रवर्तनीयो, नियमोऽपि महात्मभि । प्रत्येक धर्मनीतिर्हि, दयापरोपकारिता ॥ १२७ ॥ प्रेमादिसामान्यमिति, सर्वसामान्यनिर्णये । नियमोऽपि गृहस्थाना, तथा धर्मे समानता ॥ १२८ ॥ उपयोगितोपभोगश्च, कुर्व्वन्तीति निसाम्यताम् । **वैराग्यलक्षणं तद्वत्समत्वं तुल्यमेव च** ॥ १२९ ॥ सर्वत्र प्राप्य चैकमेवमिति सन्धार्यता मुहु । ज्ञानिना वर्तने दृष्ट्या, **जैनानां** वर्तन तथा ॥ १३० ॥ †सर्वप्राणिभिरित्येवं, सम भाव-समानता । स्थापनीया न न्यूनाधिभवितव्या नियमस्तथा ॥ १३१ ॥ ‡ब्रवीति

---

* "शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धादय. समाधानाः ।" † "मित्तिमे सव्व भूएसु" ‡ "आत्मवत्सर्वभूतेपु" मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ॥ यजुर्वेद १८–३ ॥

नियमं चैव, ज्ञायतामित्यतः पुन । **सर्वं मित्रवदापश्येदात्मवत्सर्वप्राणिषु** ॥ १३२ ॥ ज्ञानी जनो निजात्मानं, जीवात्मान तथैव च । एकीभावेन सम्पश्येदिति प्राह श्रुतिर्मुहु ॥ १३३ ॥ देहमीमासकानां च, अनेकान्तिकदृष्टित । औदारिकं तेजस च, कार्मण यच्च कथ्यते ॥ १३४ ॥ शरीरं चैव वेदान्तमतालम्बनतत्परा । स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च, त्रिविधं वर्णयन्ति च ॥ १३५ ॥ ज्ञानविज्ञानयोर्यच्च, कारणं प्रोच्यते वुधै । **जैना** यज्जाग्रतं स्वप्नं, तुरीयं प्रवदन्ति च ॥ १३६ ॥ **वेदान्ते**ऽपि तथैवास्ति, त्रिधाऽवस्था स्वरूपत· । तथा **संस्तृतिमीमांसाज्ञानज्ञाः** प्रवदन्ति च ॥ १३७ ॥ मनसः परिणामेन, वन्धो मोक्षो हि जायते । **सृष्टिः सङ्कल्पतो ज्ञेया,** वेदान्तमतशालिन· ॥ १३८ ॥ मानसिक तु **जैनानां,** [*]परिणाममथाऽपि वा । अध्यवसाय च वेदान्ते, सकल्पं चैकमेव हि ॥ १३९ ॥ प्रत्यक्षं दृश्यते चैक, साधनाभेदभावतः । साध्यश्चात्मा हि प्रत्यक्षं, ज्ञायतेऽभेद एव हि ॥ १४० ॥ अनुभवेऽप्येवमेवं, प्रत्येक च मुमुक्षुभि । **जीवात्मनि प्रेमभावः, स्थापनीयं** सदैव हि ॥ १४१ ॥ सर्वावस्थासु सर्वत्र, ममैवास्ति स्वरूपकम् । पठित्वेदमभेदेन, प्रेमैव स्थाप्यता सदा ॥ १४२ ॥ एतत्प्रमाणतश्चात्मानन्दासे साधनानि च । कुर्व्वन्समन्वयं सर्व्वाभेदभावेन सर्व्वदा ॥ १४३ ॥ चलंस्तिष्ठन्नुपविशन्पिवन्खादन्स्वसन्स्वपन् । सर्वक्रियासु सर्वत्र, शुद्धश्चैतन्यरूपवान् ॥ १४४ ॥ अहमात्मा चेदृशी वै, भावना स्थाप्यता मुहु । न चैतावद्धि विज्ञान, भूतमात्रं मदीयकम् ॥ १४५ ॥ स्वरूप प्रत्युतैवं च, ज्ञातव्यं च विशेपत । ज्ञातव्यं प्रतितान्भक्त्या, प्रेमभावप्रवर्षणम् ॥ १४६ ॥ कर्तव्यमित्थ ये चैव, पुरुषा जगतीतले । स्थापयन्त्यमेदभाव, वीतरागास्त एव हि ॥ १४७ ॥ पूर्णाश्च कृतकृत्याश्च, ते मन्ति भुवि चोत्तमा । वीतरागो देवदेवो, महावीर प्रतापवान् ॥ १४८ ॥ धन्योऽस्ति योहि निष्पक्षपातेन सुन्दरो मुहु । मार्गोऽभेदात्मको भावो, दर्शितो जनतामुदे ॥ १४९ ॥ विनि स्वार्थतया यो हि, प्रकटं कृतवान्मुहु । सत्यस्वरूप एवास्ति, स एव परतः पर· । स्वतन्त्रत्वस्य यश्चान्ति, द्वारमेतत्प्रधार्य्यताम् ॥ १५० ॥ **भावार्थः**—जो पुरुष केवल आत्मानन्दमें ही अहर्निश रमण करते हैं, उनको त्रिकाल वन्दना है । इस

---

[*] परिणामे वंधो, परिणामे मोक्खो ।

अलौकिक विश्वके सुरम्य और सौन्दर्यपूर्ण दृश्यकी ओर दृष्टि फैलानेपर स्पष्टतया नजर आता है कि अखिल विश्व आनन्दसे परिपूर्ण है । अर्थात् अखिल विश्वमे आनन्दकी अपेक्षासे एकता है । जगत्से उसके धर्म भिन्न नहीं हैं, विश्वके प्रत्येक प्राणी आनन्दमय हैं, उन्हें आनन्द ही प्रिय है अतः उसीकी इच्छामे तन्मय हैं । उस आनन्दको प्राप्त करनेके लिये साधन रूप ही विश्वके धर्म हैं, और उन धर्मोको प्राणियोंने अपने 'आनन्द' के लिये ही उत्पन्न किये हैं, और आनन्दकी अपेक्षा जगत्के सब प्राणी समान हैं । तथापि व्यक्तिकी अपेक्षासे यदि देखा जाय तो मनुष्य एक उत्कृष्ट प्राणी है, और वह आनन्दकी अभिवृद्धिके लिये अनेक आकर्षण एवं सुरम्य उपायोंकी रचना करता रहता है । मनुष्यके रचे हुए आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके उपायोंमे धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट उपाय है । प्रत्येक प्राणीके अन्तर्गत आनन्दका स्वरूप समान है । प्रत्येक प्राणीके आत्माका सामर्थ्य समान है । प्रत्येक प्राणीका वास्तविक स्वरूप भी समान है । तब तो इस अपेक्षासे साधन रूप धर्मोका होना भी समान ही ठीक है, और उसके अनुसार सम्पूर्ण समान ही हैं । मनुष्य कुछ ऐसा प्राणी है कि वह आत्मानन्दकी अभिवृद्धि बहुत जल्दी कर सकता है । इतना ही नहीं बल्कि जो जो मनुष्य आत्मानन्दका अनन्त अनुभव प्राप्त कर चुके है वे वे मनुष्य अपने पीछेकी अर्थात् भविष्यकी मनुष्य जातिके लिये पाया हुआ आत्माका साधन रूप धर्म भूतलवासी मनुष्य जातिके लिये स्मारक रूपसे छोड गये हैं । उस धर्म रूपी उपकरण या साधन द्वारा इतर मनुष्य आत्मानन्दके अलौकिक आनन्दत्वको प्राप्त कर सकते है । जगत्के अन्य प्राणी इस प्रत्यक्ष विश्वकी अलौकिक प्रभासे आनन्दित होते हैं । परन्तु मनुष्य सज्ञाका प्राणी तो स्वय निजानन्दमय बन कर उस अपने आनन्द द्वारा अखिल विश्वके अप्रतिभ आनन्दमे सुरम्य तथा उपादेयकी अभिवृद्धि कर सकता है । मनुष्योंका जो धर्म है वही अलौकिक आनन्दकी अभिवृद्धि बानगी रूप है । यह सृष्टि अनन्त कालसे अनन्ततत्त्वके रूपमें ज्योंकी त्यो चली आ रही है, और ध्रुव रूपसे अनन्त तत्त्वमें अनन्त तत्त्व रूपसे अलौकिक स्वरूपमें अनन्त काल तक शाश्वत स्वरूपमें ही—सत्य स्वरूपमें ही अलौकिक आनन्द रूपसे स्थिर और नित्य रहेगी । सृष्टि मीमासक शास्त्री भी यही कथन करते

हैं कि यह सृष्टि अलौकिक वस्तु है, और यह नित्य तथा शाश्वत है। इस सृष्टिके अलौकिक सामर्थ्योंसे भरपूर अलंकारोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट अलंकार है। जगत्में अनेक धर्ममीमांसक हो गये हैं, और वे अलौकिक अलंकार रूपसे अपने धर्मविचाररूप प्रसादीसे इस भूतलको अलंकृत कर गये हैं। इन अलौकिक प्रसादियोंमें इस समय वेदान्त, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, शैव, वैष्णव, स्वामी-नारायण, मुस्लिम, इसाई, यहूदी, पारसी आदि मुख्यतासे दृष्टिगोचर होते हैं। इनका तथा इनके अतिरिक्त और और अनेक धर्मालंकारोंका हेतु केवल आत्मानन्दको ही प्राप्त करनेका है। सर्व धर्मका हेतु एक होकर उनके साधन भी एक ही हो जाते हैं, और वे अलग अलग देश कालपर आधार रखकर अलग अलग रूपोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं। जैनका हेतु केवल आत्माका पहचानना और उसे मोक्ष तक ले जाना ही है। वेदान्तिक, वैष्णव, स्वामीनारायण, तथा योगीजन भी यही कहते हैं। जिनमें जैन कहते हैं कि—'एगं जाणइ से सव्व जाणइ' जो एकको जानता है वह सबको जानता है। वेदान्तकी भगवती श्रुति भी कहती है—'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञात भवति।' एक आत्माके जाननेसे यह सब कुछ जाना जा सकता है। जैन कहते हैं कि—"अप्पा सो परमप्पा" आत्मा ही पर-मात्मा है। तब वेदान्त कहता है कि—'अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।" 'मैं ब्रह्म अर्थात् परमात्मा हूं' 'तू भी वही है' प्रकर्ष तया सम्यग्ज्ञान ही ब्रह्म है' 'यह आत्मा ब्रह्म है'। वेदके चार खंड हैं, इन चारों खडोंमें एक एक महावाक्य है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह ऋग्वेदका, 'अहं ब्रह्मास्मि' यह यजुर्वेदका, 'अयमात्मा ब्रह्म' यह अथर्ववेदका-और 'तत्त्वमसि' यह सामवेदके छान्दग्योपनिषद्का महावाक्य है। जैन सिद्धान्तका नियम है कि—"नाणे पुण नियमा आया।" 'ज्ञानमें नियमसे आत्मा है' वेदान्त भी यही कहता है कि—"प्रज्ञानं ब्रह्म" 'प्रज्ञान ही आत्मा है' जैन कहते हैं कि—जन्ममृत्यु रूपक सृष्टि कर्मके द्वारा चलती है, और वे कर्म जड हैं। इन कर्मोका नियामक आत्मा है। यानी आत्मा कर्मजन्य सृष्टिका अधिष्ठान है। वेदान्त कहता है कि—मायाके द्वारा ये जन्मादि हैं और इनका नियामक आत्मारूप ईश्वर है। जैन कहते हैं कि—कर्मो-

पाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष होता है। वेदान्त कहता है कि मायो-पाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष है। जैन कहते हैं कि—आत्माका मोक्ष होनेपर 'अपुणरावित्ति' संसारमे पुनरागमन नहीं होता अर्थात् आत्माको फिरसे जन्म मरणके चक्रमे नही आना पडता। वेदात कहता है कि—"न पुनरावर्तते" आत्माकी पुनरावृत्ति नहीं होती। गीताजीमें भी कृष्णचन्द्रजीने कहा है कि—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परम मम" 'जहां गये वाद फिर आना नही पडता' वही मेरा परमधाम है। अर्थात् परमात्माके धामको परमधाम कहते है या मोक्ष कहते है। वहा जानेपर फिर वापस नहीं आना होता। जैन कहते हैं कि—'एगे आया' आत्मा द्रव्य गुण पर्यायकी दृष्टिसे एक है। वेदान्त कहता है कि "एकोऽहम्" मैं एक हू। जैन कहते है कि—"तक्का जत्थ ण विज्जइ, मइ तत्थ ण गाहिता' तर्क आत्माके स्वरूप तक नही पहुंच सकता, और मति उस आत्माके स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सकती'। वेदान्त कहता है कि—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" जहासे वाणी वापस फिर जाती है वह आत्म स्वरूप मन द्वारा अप्राप्य है। भावार्थ यह है कि—मन और वाणी उस आत्मा का वर्णन नहीं कर सकते। जैन कहते हैं कि—आत्माको सम्पूर्ण या अखड रूपमे जानने वाले मनुष्य कैवल्य ज्ञानको पाते हैं। वेदान्त कहता है कि—"कैवल्यपदमस्तुते" आत्मा कैवल्य पदका अनुभव करता है। वेदान्त कहता है कि—अखिल विश्वमें सच्चिदानन्द परब्रह्म सर्वव्यापक है। जैन कहते हैं कि—अखिल विश्वमें मारनेसे मरता नहीं, जलानेसे जलता नहीं, काटनेसे कटता नहीं, भेदन करनेसे भेदित नहीं होता, और चर्म-चक्षु द्वारा दीख नहीं सकता, ऐसा सच्चिदानन्द स्वरूप जीव स्वाभाविकतासे सघन रूपमें भरे पडे हैं। आकाश, पर्वत, पृथ्वी, नक्षत्र आदि कोई भी स्थान जीवसे खाली नहीं है। अर्थात् चैतन्यलक्षणयुक्त जीवकी दृष्टिसे देखनेपर चैतन्यदेव समस्त लोकमें भरपूर है। वेदान्त कहता है कि आत्मा स्वय सर्वज्ञ है, जैन भी यही कहते है कि आत्मा अनन्त ज्ञानमय है। वेदान्त कहता है कि ब्रह्म सनातन है। जैन कहते है कि आत्मा स्वयं शुद्ध-बुद्ध आनन्द स्वरूप है और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है। वेदान्त और साख्यादि भी यही कहते है। वल्लभाचार्य मतप्रवर्तक कहते हैं कि—**निर्दोष-**

पूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः। आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्व्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा॥
आत्मतन्त्र अर्थात् मात्र आत्म-स्वरूप निर्दोष है। पूर्णगुण विग्रह है। पुनः जडात्मक शरीर और गुणसे भिन्न है। इस आत्म स्वरूपके हाथ, पैर, मुख, उदर इत्यादि अवयवोंकी कल्पना करने पर मात्र आनन्द ही है अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दमय भेद भाव रहित है। आत्म-तत्वके अवयवोंसे श्लोकमें की गई कल्पनामें केवल आनन्द ही इसके अवयव हैं। यह स्पष्टतासे समझमें आ जाता है। इस आत्म-स्वरूपमें जन्म, जरा और मृत्यु रूपी भेद नहीं है। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप त्रिविध भेदसे यह आत्म-स्वरूप भिन्न है। जैन कहता है कि—निश्चय नयसे तो आत्मा अकर्ता ही है। साख्य शास्त्र कहता है कि—"अहंकारः कर्ता न पुरुष·।" कर्ता, धर्ता अहंकार है पुरुष नहीं, अर्थात् आत्मा कुछ नहीं कर्ता, प्रत्युत अकर्ता है। जैन कहता है कि—"ईश्वर सर्वज्ञ होता है, तथा उसमें राग द्वेष आदि कुछ भी नहीं हैं। योग शास्त्र कहता है कि—"**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**" क्लेश, कर्म, विपाकके आशयोंके साथ असस्पृष्ट-अलिप्त है, वही पुरुष विशेष पुरुषोत्तम और ईश्वर है यानी ईश्वरको राग द्वेष क्लेश कर्मविपाक नहीं छू सकते। "**तत्र सर्वज्ञबीजं**" उस ईश्वरमें सर्वज्ञत्व होता है। आत्मा अनन्त तत्व रूप है। वेदान्त कहता है कि—"सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म।" ब्रह्म स्वरूपमें पाप, पुण्य, सुख या दुख नहीं है। पुनः वेदान्त कहता है कि—"**न पापं न पुण्यं न दुःखं सुखं न। चिदानन्दरूपं शिवोऽहं शिवोऽहं॥** "मेरा आत्म-स्वरूप शिव है, और उस शिवस्वरूप आत्मामें पाप, पुण्य, सुख दु ख नहीं है, क्योंकि वह सच्चिदानन्द रूप है। जैन कहते हैं कि—केवलज्ञानी यहा ही मोक्षका अनुभव करते हैं। इसीसे मिलता जुलता स्वामीनारायण मत प्रवर्तक श्री सहजानन्द स्वामीका भी यही मत है कि—'अक्षर धाम यहीं है, आत्मा स्वयं अक्षर स्वरूप है। जो आत्माको यहाके लिये भी अक्षरधाम समझता है उसीकी समझ सच्ची है, और जो अक्षरधामको किसी अन्य स्थल आकाशादिमें समझते हैं उनकी समझ मिथ्या है। प्रणामीपंथ अर्थात् खीजडापंथ प्रवर्तक महेरात ठाकुर तथा श्री देवचन्द्रजी

अपनी सम्प्रदायको निजानन्द सम्प्रदाय कहते हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर पता चलता है कि भारतके धर्मात्मा पुरुषोंका सिद्धान्त आत्मानन्दके पानेका ही है। **मुहम्मद साहव** भी यही कहते है कि जगत्‌मे जो भी कुछ चैतन्य प्रतीत होता है वह खुदाकी रवानी है, खुदा निरंजन, निराकार, तेजोमय और सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है। **मोमिन** तो कृपालु खुदाको अपने पास ही देखते हैं। खुदाका अर्थ भी खुद ही होता है। **जिसिसक्राइस्टका** भी यही उपदेश है कि चौथे आसमानपर प्रभु विराजमान हैं। वह प्रभु भक्तोंका आत्मा है, और परम भक्त उस प्रभुको प्राप्त करते हैं। अखिल भूमण्डलमें सर्वोत्कृष्ट कीर्तिको पानेवाले **बुद्धदेव** भी स्पष्ट कह गये हैं कि प्रेम ही आत्मा है। अतः जगत्‌के प्रत्येक प्राणीमें अभेद प्रेम रक्खो। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो जैन, वेदान्त योग, सांख्य, बौद्ध आदि सव एकताका ही अनुभव करते हैं। एकता पानेके लिये अर्थात् आत्मानन्दमें अभिवृद्धि करनेके लिये साधनोको भिन्न भिन्न धर्म मीमासकोंने भिन्न-भिन्न देश कालमें भिन्न-भिन्न पद्धतिसे समझाया है। अतएव वहिर्दृष्टिसे देखा जानेपर उन मतोंकी क्रियाओंमे भेद जान पडता है। तथापि उन क्रियाओंका समन्वय किया जाय तो वे भेद भी अभेद भाव भजने लगते हैं। जैन जिसे पॉच महाव्रत कहते हैं, वौद्ध उन्हें पाच शील कहते हैं, और योगी उन्हे पाच यम कहते हैं। वेदान्तके शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समान भी ऐसे ही है। परमहंसोंके वर्तन करने योग्य नियम भी अन्तमे एक ही है। प्रत्येक धर्मके नीति, दया, परोपकार, प्रेम आदिके सामान्य और सर्वमान्य नियम भी गृहस्थ धर्ममे समानता तथा उपयोगिताका उपभोग करते हैं। समतादि वैराग्यके लक्षण भी सबमे समान रूपसे ही पाये जाते है। ज्ञानी पुरुषोंके वर्तावकी ओर दृष्टि डालते हुए जैनोंका वर्ताव **"मित्ति मे सव्व भूयेसु"** सव प्राणिओंके साथ मित्रता अर्थात् समान भाव रखना चाहिये न्यूनाधिक न होना चाहिये। वेद भी कहता है कि— **"मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।"** 'सबको मित्रकी दृष्टिसे देखना चाहिये।' **'आत्मवत्सर्वभूतेषु'** ज्ञानी पुरुष अपनी आत्माके समान सब जीवोंको देखते हैं। देह मीमांसकोंकी तरफ दृष्टि डालनेपर जैन मुख्य-

तासे, औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर कहते हैं। इसी प्रकार वेदान्ती भी उन ही शरीरोंको स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहते हैं। जैन जिसे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और उजागर या तूर्यावस्था मानते हैं, उन अवस्थाओंका वर्णन वेदान्ती भी उसी प्रकार करते हुए सन्तोष प्रगट करते हैं। संस्कृति मीमांसकोंके कथनको देखते हुए जैन यह कहते हैं कि—**"परिणामो बन्धो परिणामे मोक्खो।"** "मनके परिणामसे ही बन्ध और मोक्ष है।" वेदान्ती संकल्पसे सृष्टि मानते हैं। जैनोंका मानसिक अध्यवसाय और परिणाम तथा वेदान्तका संकल्प एक ही बात है। इन प्रमाणोंसे आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके साधनोंका यानी धर्मोंका समन्वय करते हुए वे सब अभेद भावमें प्रत्यक्ष समाये हुये दीखते हैं। साधन अभेद होनेसे साध्य आत्मा भी प्रत्यक्षमें अभेद ही समझा जाता है, और अनुभवमें भी यही आता है। अत प्रत्येक मुमुक्षु जीवको प्रत्येक जीवमें प्रेम भाव रखना चाहिये, और सब जगहोंमें ही सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है, यही पाठ पढकर अभेद प्रेम रखना चाहिये। हलते, चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते इत्यादि सब क्रियाओंमें शुद्ध चैतन्य आत्म-स्वरूप हूं यही भावना रखनी चाहिये। इतना ही नहीं, बल्कि—जगत्‌के सब भूत भी मेरे ही स्वरूप हैं। यह जानकर उनके प्रति अभेद प्रेमकी वर्षा करनी चाहिये। इस प्रकार जो पुरुष सब जगत्‌पर अभेद भाव रखते हैं, वे ही वीतराग हैं, पूर्ण हैं, और कृतकृत्य हैं। धन्य उस वीतराग देवको है कि जिसने निष्पक्षपातसे ऐसा सुन्दर अभेद मार्ग जगत्‌के कल्याणके लिये निस्वार्थभावसे प्रगट किया है।

ज्ञातार्थस्य पदार्थस्य, ज्ञानं प्रबोधनाद्भवेत् ॥ १५१ ॥ तदनुवादरूपं हि, विज्ञेयं न प्रमाणता। प्रबन्धस्याथ शास्त्रस्य, निर्णेतुं यस्य कस्यचित् ॥ १५२ ॥ विचारोऽत्र प्रकर्तव्यो, नान्यथा सिद्धिरुच्यते। यथोपक्रमप्रारम्भावुपसंहारसमाप्तिकौ ॥ १५३ ॥ अभ्यास स हि विज्ञेयो, यद्विचारं समभ्यसेत्। अपूर्वं नूतनं किञ्चिद्यद्धन्यो विनिरूपितम् ॥ १५४ ॥ फलं सुपरिणामं चाप्यर्थवादस्वरूपं च। प्रशंसात्मकवाक्यं च, सोपपत्त्युपपादनम् ॥ १५५ ॥ सम्प्रधार्योपजाप्यं च, प्रकृतमकरन्दकम्। तद्रसास्वादनं सम्यक्, कर्तव्यं रसतत्त्ववत् ॥ १५६ ॥ कुतस्सनरखजीवास्तु, भव्यमुख्यरसस्य हि। आस्वादनार्थमेवात्र, प्रवृत्ताश्च तृषार्दिता ॥ १५७ ॥ सुवार्तेयं द्वितीयाऽस्ति, तच्चेष्टा करणेऽपि च।

प्राप्यते नाऽपि गौणेन, लभ्यते स्वादनं तत ॥ १५८ ॥ तथेदमपि ज्ञातव्यं, गौणतोपाधिकारणम् । पुद्गलस्यैव सम्बन्धाज्जायते न च वस्तुत ॥ १५९ ॥ सच्चित्सुखे तु गौणत्वमेतदर्थमवेक्ष्यते । यदानादिस्वभावेन, वहिरङ्गत्वमेव हि अन्तरङ्गत्वदृष्ट्या तु, केवलानन्दरूपकः ॥ १६० ॥ आत्मानन्तकार्मणवर्गणा सन्धितो भवेत् । 'गुणविकारा पर्याया' पर्यायेण समन्वित ॥ १६१ ॥ कार्मणवस्तु सर्वत्र, सर्वदा परिवर्तते । परिवर्तनं परं साक्षान्नानुकूलमिदं भवेत् ॥ १६२ ॥ तत्रेष्टाऽनिष्टयोर्योगश्चान्योऽन्यं मिश्रित. स्थित । प्रवृत्तेरात्मन्यतः संविभावादेव दु खकः ॥ १६३ ॥ सम्बन्धबन्धकाभावान्निवृत्तिः स्वस्य भावना । कार्यं करोति सर्वत्र, ज्ञेयं सर्वं विचारतः ॥ १६४ ॥ सच्चिदानन्दकन्दस्य, सत्तायाश्चेति वोधनम् । सुगमत्वेन संसिद्धेर्द्विपयेऽखिलभ्रान्तिता ॥ १६५ ॥ अनुमानापमानस्य, करणं जायते तत । परिणामस्य यस्यास्ति, निग्रहत्वं ततः स्फुटम् ॥ १६६ ॥ अतो यस्मिँश्च कार्मणवर्गणानामवाधत. । अत्यन्ताभाव एव स्याद्विशुद्धं भगवत्पदम् ॥ १६७ ॥ लभ्यते तद्धि परमं, नान्यथा कोटियत्नत । परं यत्र नृदेहेन, सहितो भगवत्यपि ॥ १६८ ॥ चतुष्टयमनन्तं च, भाति तद्भगवत्पदम् । अर्थान्सर्वानतीतादीन्, ज्ञातव्योऽवश्यमेव च ॥ १६९ ॥ यस्मिन्नैश्वर्यवीर्ये च, यशो धर्मश्च ज्ञानकम् । श्रीर्वैराग्यं तथा मोक्ष, इमे षट्संख्यका गुणाः ॥ १७० ॥ समुदायस्य शास्त्रेषु, 'भगसञ्ज्ञा' प्रकीर्तिता । भगवच्छब्दकस्याऽस्य, लक्षणं समुदाहृतम् ॥ १७१ ॥ **कुण्डिनेशनरेशस्य, सिद्धार्थनन्दनेन च । त्रिशलाङ्गजवीरेण, त्रिजगद्गुरुणा मुहुः** ॥ १७२ ॥ सम्पूर्णरीत्या विज्ञातस्तेन तत्रास्ति लक्षणम् । इति विवेचनेनैव "वीरस्तु भगवान् स्वयम्" ॥ १७३ ॥ इत्यस्याक्षरशश्चार्थो, भविष्यति समर्थनम् । निरूपणं तथा तस्य, समेष्यति विचारतः ॥१७४॥ **"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य"** इत्यस्यार्थोऽनुकूलतः । भगवद्वीरदेवस्य, जन्मकालात्ततो मुहु ॥ १७५ ॥ निर्व्वाणपदप्राप्त्यन्तं, जन्मकालादनुक्रमात् । निखिलस्येतिहासस्य, प्रत्येकं लघुभावतः ॥ १७६ ॥ सिद्धोऽस्तीति महावीरो, भगवानादिपूरुप । सम्प्राप्य पूर्णरूपेण, चतुष्टयमनन्तकम् ॥ १७७ ॥ अनन्तशक्तियोगेन, सर्वैश्वर्य्यं तथाप्तवान् । अनन्ततेजस्तद्वच्च, प्रथमयाऽवस्थया मुदा ॥ १७८ ॥ सकलैश्वर्य्यस्वत्वेन, युक्तश्चासीन्निशामय । स्वर्गजातकपर्य्यायपूर्तिं कृत्वाऽथ नाकत ॥ १७९ ॥ स्वर्गात्पूर्णश्च देवायु, शरीर वैक्रियं तथा । एवमाहारसम्पूर्ण, कृत्वा राज्या सुकुक्षितः

॥ १८० ॥ त्रिशलाया. समुद्भूय, चतुर्दशविधं पुन· । महास्वप्नं प्रदृष्टं च, स्वर्णवृष्टिरसंख्यका ॥ १८१ ॥ जन्मोत्सवं सुराणा वै, शक्रस्यागमनं तथा । विधातुमुत्सवं सर्वे, सुरेन्द्रसेवनं पुनः ॥ १८२ ॥ प्रतिक्षणसपर्यायाः, सामग्र्या च मुहुर्मुहु· । नेयमल्पस्य वीर्यस्य, वार्तास्ति सुप्रबुध्यताम् ॥ १८३ ॥ स्वसयमस्य वेलायां, तेनानन्तस्ववीर्यत । ऐश्वर्यस्यानुकूलत्वप्रतिकूलत्वयातना ॥ १८४ ॥ इति परिषहं जित्वा, सम्प्राप्य विजयं तथा । जिनत्वं तेन संलब्धं, तदाऽसंख्यसुरासुरे ॥ १८५ ॥ नरैर्नरेन्द्रैर्देवेन्द्रै , समुत्कृष्टक्षयोपशमात् । एतच्चारैव सद्भावाऽनुभवश्च कृतो महान् ॥ १८६ ॥ "स्वयन्तु भगवान् वीर" इति निश्चित्य मानसे । रागाद्यान्तरिकान्शत्रून्, विनिर्जित्य विभुर्जिन· ॥ १८७ ॥ अतश्चानन्तरूपेण, प्राप्यनन्तरमेव हि । भगवद्वीरदेवस्य, समग्रैश्वर्यरूपकम् ॥ १८८ ॥ सुस्पष्टं लक्षणं चास्ति, विवरणत्व तदाधिकम् । निरूपणत्वमेवं च, नावश्यं तस्य वर्णनम् ॥ १८९ ॥ "**समग्रस्य च धर्मस्य**", लक्षणं संनिरूप्यते । तया साधनसामग्र्या, धर्मो नाम्नोच्यते बुधै ॥ १९० ॥ दुर्गतौ पतमानं यो, जीवं धारयते मुहु । स एव धर्मो विज्ञेयो, यतोऽनन्तसुखोद्भवः ॥ १९१ ॥ दुर्गतौ पतितं तद्वदुदन्तं जीवमित्यपि । सरक्षत्युन्नतिपथि, तिरोभावं करोति न ॥ १९२ ॥ "स चात्मपुरुषार्थस्य, धर्म इत्युच्यते बुधै· ।" तदाऽऽत्मपुरुषार्थस्य, धर्मसंज्ञा ब्रुवन्ति च । एतद्दृष्ट्या तु भगवान्, सदा वीरो हितावह· ॥ १९३ ॥ धर्ममूर्तिस्तथा साक्षादभूदिति निशामय । "परमेष्ठी परज्योतिर्विरागो विमल कृती । सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्व· शास्तोपलाल्यते ॥" इत्युक्त्यनुरोधेन, भूत्वा सर्वोपदेशक· ॥ १९४ ॥ सच्छास्त्रद्वादशाङ्गस्य, गिरा प्रख्यानकं पुन· । विधाय शास्त्ररूपे च, कृतवान् परिणतं मुदा ॥ १९५ ॥ "आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्वोपदेशकृत्सार्व्वं, शास्त्र कापथघट्टनम् ॥" शास्त्रमित्थं च निरवद्यं, प्रदाय भगवान् जिनः । स्वीयामृतमय रूपं, तथेदं सकल पुन· ॥ १९६ ॥ अनेकान्तं समाश्रित्य, श्रेष्ठोपदेशकैरपि । तथाऽऽदर्शमयाऽनन्तं, चरित्रं न· प्रदर्श्य च ॥ १९७ ॥ एवं चानुपमं दिव्यं, श्रावकश्रवणार्हकम् । गृहिधर्ममनागारं, साधुधर्मरहस्यकम् ॥ १९८ ॥ कृतकृत्यं भव्यसृष्टे , कृतवान् य· समास्तः । विनिर्वाणपथादर्शो, भूत्वा भव्यात्मना मुहु· ॥ १९९ ॥ कार्मणवर्गणाना च, भारमुत्तार्य यत्नतः । लघूंस्तान् कृतवान् सर्वान्, वर्धमानो नयान्वित· ॥ २०० ॥ न्यायालकं यथो

दृिष्टं, रत्नं नयप्रमाणकम् । तत्वनिक्षेपसंज्ञं वै, गमीरत्त्वं महत्वकम् ॥ २०१ ॥ परिपूर्णं तदाऽप्यासीयल्लघुत्वमहत्वयोः । चतुरस्रेण वै तद्व्याख्याने लेखने तथा ॥ २०२ ॥ वर्णनं क्वचिदस्तीह, ज्ञेयमन्यद्विचारणात् । स्थालीपुलाकन्यायेन, प्रत्येकं लघुभावतः ॥ २०३ ॥ किञ्चिन्मुख्यत्वभावेन, दिग्दर्शनमतोऽकरोत् । निगद्यते पुनः स्पष्टं, भगवद्वीरस्वामिन ॥ २०४ ॥ निर्व्वाणं परमार्थेन, सह व्यवहारिकी दशा । कियदुन्नतिरूपेण, तथा पुष्कलभावत. ॥ २०५ ॥ आसीद्यतः सहस्रेपु, जगत्सम्बन्धमात्रतः । गार्हस्थ्यजीवनं तेपा, समुज्वलतयाऽस्ति चेत् ॥ २०६ ॥ तत्प्रमाणाङ्गभूतं हि, उपासकदशाङ्गके । सूत्रेऽपि विद्यते तावद्धीमता तत्र दृश्यताम् ॥ २०७ ॥ गृहाश्रमे बहुविधे, कार्यादर्शकरूपिणि । कुर्व्वन् परिणतं त्वासीत्स्वयं तच्च निशामय ॥ २०८ ॥ (१) 'वीरस्तु भगवान् प्रभु.', पितरावभितः प्रति । पूर्वं गर्भाशये मातुर्जनकस्य च सेवनम् ॥ कृत्वाऽथ दर्शनायैव, ज्ञानानुभवतस्तथा ॥ २०९ ॥ स्वयं प्रतिज्ञा कृतवान्, यावन्मे जननी पिता । जीवतस्तावदत्यन्तमर्हद्दीक्षा सुसयमम् । योगाभ्यास न चाहं वै, स्वीकरोमि कदापि हि ॥ २१० ॥ यतो मे जनको माता, मोहदृष्ट्याऽनुरागवान् । न तु समतया दृष्ट्या, इति चिन्तापरोऽभवत् ॥ यतोऽहमनयोस्सत्वे, संन्यासं संयमं व्रतम् ॥ २११ ॥ चरिष्यामि प्रसंगेऽपि, न हेत्रोऽप्यनयोर्नय. । हृदये पुनराघात', स्यान्महानिति मे मति ॥ २१२ ॥ दु'साध्यं च भवेत्तस्मात्सहनं चेतसा कुतः । जीवनस्याऽनया रीत्या,, ससारसार्वदैशिकी ॥ २१३ ॥ घटनयाऽनया शिक्षा लभ्यते नो निशामय । पित्रोराज्ञा विना तद्वदौदासीन्यं न कर्हिचित् ॥ २१४ ॥ कोऽपि त्यक्त्वा गृहारम्भं, मुनिचर्या न धारयेत् । घटनयाऽनया तेषां, यदाज्ञापालनं तयोः ॥ २१५ ॥ विज्ञायावश्यकत्वेन, सेवायाश्च कियत्फलम् । संसाध्य दर्शनं तस्य, मौलिकं च विभावयेत् ॥ २१६ ॥ तीर्थङ्करोऽपि भगवान्, प्रथमे जीवनेऽपि यत् । सेवाधर्मस्थापनं वै, कुरुते विश्वभावनः ॥ २१७ ॥ कथ्यतां किं च वीरस्य, स्वामिनश्चेदमद्भुतम् । आदर्शरूपं सेवाया', पितॄणा किमनल्पकम् ॥ २१८ ॥ महत्वं विषयश्चास्ति, सूक्ष्मदृष्ट्याऽवलोक्यताम् । प्रतिज्येष्ठं भ्रातरं च, अत्युग्रोदारशीलता ॥ २१९ ॥ नन्दीवर्धननामानं, भ्रातरं भगवान् रह. । एकस्मिन् दिवसेऽवोचन्, मदीयोऽभिग्रहोऽधुना । समाप्तोऽभूद्यतश्चाद्य, भवदाज्ञां प्रगृह्य च ॥ २२० ॥ दीक्षितेक्षा - ध, तदा ज्येष्ठोऽब्रवीद्वच. । निर्मोहं च प्रभुं ज्ञात्वा, स्वयं तु मोहपीडित.

॥ २२१ ॥ भवन्तं ज्ञायते शुद्धं, स्वर्गारोहणयोगत.। पितुर्मातुः स्फोटकोर्ध्वे, लवणक्षेपणे. सम ॥ २२२ ॥ भविष्यति न सन्देह, इति कृत्वा दयां भवान्। मदीयकथनेनैव, समुषित्वा गृहे पुन. ॥ २२३ ॥ अब्दद्वयसुपर्य्यन्तं, दर्शनार्थमुदारताम्। दर्शयेच्चेन्महान् देवानुग्रह. स्यान्मयि प्रभो! ॥ २२४ ॥ तथैव भगवान् वीर', कृतवान्नान्यथा क्वचित्। भ्रातु पूज्यतमस्यापि, चेच्छया वापि सम्मत ॥ २२५ ॥ त्यागोऽनुकूलगमनं, नोचितोऽथ निवृत्तित। तथापि भगवान् वीर, स्वयं च जगदीश्वर' ॥ २२६ ॥ ज्येष्ठो भ्राता दर्शनेन, विनयेन च तोषित। तद्वच्च सुखिन कृत्वा, ज्येष्ठभ्रातु सुसेवनै. ॥ २२७ ॥ पाठोऽपि पाठितस्तेन, वर्षद्वयमभूद्गृही। भ्रातुराज्ञानुरोधेन, दीक्षाऽपि नैव धारिता ॥ २२८ ॥ एवं सयमसंकल्पं, हित्वा निर्व्वाणदं ध्रुवम्। प्राशुकभोजी भूत्वा च, गृहमेवाश्रयत्पुन ॥ २२९ ॥ धन्योऽसि! भगवँस्त्वं हि, नाऽप्रसन्न कृतोऽनुज। अत. पाठमिमं लोक, स्वयमाप विना श्रमम् ॥ २३० ॥ भगवद्वीरवत्स्वस्य, भ्राता पितृमम स्मृत.। इति ज्ञात्वा सेवया च, सुखिनं तं विधाय च ॥ २३१ ॥ सन्तुष्टत्वेन सस्थाप्यस्तथा मान्योऽनुजो मुहु। तेऽपि रक्ष्या. प्रयत्नेन, धर्मोऽयं व्यावहारिक ॥ २३२ ॥ तद्गार्हस्थ्ये च वैराग्यमष्टाविंशतिसख्यके। वयस्येव सुसम्पन्ने, पित्रो' स्वर्गतयोस्तदा ॥ २३३ ॥ तदा वर्षद्वयं स्थित्वा, गृहेऽध्यात्मस्वरूपके। चिन्तनं योगिचर्याया, समारम्भोऽप्यकारि च ॥ २३४ ॥ तेनास्मायोगत. सम्यग्बोधिता दीक्षणेप्सव.। दीक्षाधारणतः पूर्व, गृहिधर्मे समभ्यसेत् ॥ २३५ ॥ विशेषतो योगचर्या, यया विशदया सदा। चर्यया च सुभाविन्या, स्यान्निवृत्तिर्यथाक्रमम् ॥ २३६ ॥ इत्थं तस्या. स्वयं ज्ञानं, जायेत तदनन्तरम्। सहिष्णुतायास्त्यागस्य, भवेज्ज्ञानं तथा पुनः ॥ २३७ ॥ अथावधिकियज्जातमुदारोत्तीर्णता यदि। अभिप्रायोऽस्ति मे चाद्य, सच्चर्याया विपाकत ॥ २३८ ॥ भूत्वा दृढस्ततः पादौ, धर्तव्यस्साधुसाधने। न तु पूर्व ततश्चैवं, विज्ञाना गतिरीदृशी ॥ २३९ ॥ (३) राजनैतिकशिक्षाया'. शिक्षको यत्र कालके। अमात्यनृपतीना च, पुत्राणां भूभुजां पुन. ॥ २४० ॥ यदाऽभूज्ज्ञानमेतद्धि, नरराजसिद्धार्थकात्। महिष्या त्रिशलयाऽदर्शि, स्वप्नचतुर्दशाविध. ॥ २४१ ॥ यौवने सार्वभौमश्च, चक्रवर्ती भविष्यति। एतद्वृत्तान्तश्रवणाच्चेटकनृपेन्दुप्रद्योतनौ ॥ २४२ ॥ दधिवाहनप्रभृतिराजपुत्रा समागता। भगवद्वीरसेवाया, चलनाश्च मुहुर्मुहुः ॥ २४३ ॥ क्षत्रिया.

ह्योचिता सेवा, ततोऽतिरिक्ते शिक्षणे । प्रवृत्ता भावुकत्वात्ते, सुश्राद्धोचित-कर्म्मणि ॥ २४४ ॥ तेभ्योपि भगवान् वीरो, गृहस्थक्षात्रयोरपि । बोधयित्वा च सद्धर्म्मे, सदैतान् सम्प्रयुज्य च ॥ २४५ ॥ व्यवहारेऽथ न्याये च, निपुणत्वं स्वधर्मणि । नियुक्ता राजपुत्रास्ते, चान्तरङ्गस्वभावतः ॥ २४६ ॥ जाताव-बोधस्तेनायं, धर्मधीश्चतुरन्तक । चक्रवर्ती तथाऽय हि, भविष्यति न सशयः ॥ २४७ ॥ तन्निरीहविचारोऽप्रात्तान्प्रतिस्वर्णवद्भुतः । प्रभावस्तेन ते सर्वे, स्वराज्ये सुकलत्रकम् । परिग्रहे च सन्तोषं, प्राप्याऽऽगता यथागृहम् ॥ २४८ ॥ राज्यशासनकर्मादौ, दक्षं प्रशासको ह्यभूत् । प्रजारक्षणनिष्ठावान्, भूत्वा तद-वनं कृतम् ॥ २४९ ॥ "दमनं तु शठाना चावनमशठाना तथा । समाश्रिताना भरणं, **राज्यचिह्नमिति स्मृतम्** ॥ २५० ॥ चरितार्थमेतदुक्ते, करणे जातं निरन्तरम् । अथातः सम्प्रवक्ष्यामि, वार्षिकदानमुत्तमम् ॥ २५१ ॥ **अथ सांवत्सरिकदानम्**—दीक्षाधारणत. पूर्वमेकवर्षप्रमाणत । त्रिंशद्वर्ष-समारम्भे, जिताचारसुभावत ॥ २५२ ॥ निरीहत्वेन यद्दानं, दीयतेऽनुपकारिणे । इत्यादिदानधर्मस्य, प्रारम्भं कृतवान् मुदा ॥ २५३ ॥ वर्षावधिं सुभव्येभ्यो, मानवेभ्य प्रदत्तवान् । पुष्कलत्वेन दानं यत्सर्वे तेनाऽनृणा कृता ॥ २५४ ॥ केऽपि कस्यापि न जाता, ऋणिन इति सुप्रथा । तथा पुद्गलवर्गे च, ममत्वं तु ह्यपाकृतम् ॥ २५५ ॥ रीत्याऽनया पुनस्तेषां, न मोहस्मृतिविभ्रम । न जातं च ततश्चैयं, शिक्षा न स्थापिता पुरा ॥ २५६ ॥ नीत्वा सन्यासमैश्वर्यं, भौतिकाच्च तथेयती । समुत्तीर्य पदार्थात्तु, यतो भाविनिकर्म्मणि ॥ २५७ ॥ नात्मावरोधो जायेत, तथारम्भपरिग्रहात् । निवृत्तोऽप्रतिवद्धश्च, भूत्वाऽध्यात्मन्य-मायया । ततो विलीनो भावाच्च, भवेदत्र न संशय. ॥ २५८ ॥ **अथ शैशवे निर्भयक्रीडनम्** । वस्तुतोऽन्तकपर्य्यन्तं, निर्भयत्वेन सस्थित । पर भयं न बाल्येऽपि, कृतवान् स कदापि हि ॥ २५९ ॥ विषान्वितोरगं रज्जुमिवो-त्थाप्य प्रक्षिप्यते । श्वापदाजीवसर्पांश्च, सदासक्तान्स्वतेजसा ॥ २६० ॥ करोति स्म भवन्तं च, दृष्ट्वैव दूरमाव्रजन् । महतो भयङ्करान्देवानसुरान् राक्षसास्तथा ॥ २६१ ॥ बलिनो विद्विपस्तद्वदनायासेन लीलया । विजित्य जयमाप्नोति, संशय नात्र कर्हिचित् ॥ २६२ ॥ **अथावोधाभीरकप्रकरणम्**—अवोधाऽऽ-भीरवन्याना, गोमहिष्यादिचारिणाम् । कस्मिन्देशे च तेपा वै, सज्ञा 'पाली' ति यते. ॥ २६३ ॥ चलद्भिर्मनुजै. सार्कं, मुधैव बहुधर्षणम् । अज्ञान

क्रोधकरणं, क्षेत्रविध्वंसनं तथा ॥ २६४ ॥ प्रतिद्वन्द्विनामिदं कर्म, तेषा सुगम-मस्ति हि । ध्यानमग्नो वने संस्थ , कायोत्सर्गे व्यवस्थित ॥ २६५ ॥ तत्क्षणेऽ-ज्ञानावस्थाश्च, रज्जुभिस्ताडयन्ति च । निर्माय तस्य पार्श्वे तु, चुल्हिका पायसं यदा ॥ २६६ ॥ पाचयन्ति क्षणे तस्मिन्, तापयन्त्यग्नितस्तथा । स च वीरतया सर्वं, सोढवान्न च दु खभाग् ॥ २६७ ॥ एकमेव कोप्यबोधो, विनोदेन शला-कया । वशस्य तीक्ष्णया कर्णे, भेदितो रक्तधारया, आप्लुतश्च तत काये, दुर्बलत्वमजायत । तथाऽप्यनुग्रहस्तस्मै, कृतस्तेन महात्मना ॥ २६८ ॥ नानिष्टं प्रोक्तवाँस्तस्मै, किञ्चिदपि च दु खत । दृष्ट्या समानया तद्वत्समभावनया तथा ॥ २६९ ॥ यातना सहनशीलोऽप्यभूदादित एव स. । ध्यानावस्था दृढा जाता, मानसीवृत्तिरीदृशी ॥ २७० ॥ मेरुवत्तस्य सञ्जाता, ध्यानवृत्ति सुनिश्चला । सागरवच्च गम्भीरा, सूर्यवत्सा प्रकाशिका ॥ २७१ ॥ सहिष्णुता समुत्पन्ना स्वर्गेऽपि तत्प्रशसनम् । सभाया शक्र इन्द्रोऽपि, प्रशंसा कृतवान्मुहु ॥ २७२ ॥ दुर्विदग्धाः सभाया ये, ज्ञानशून्याः सुरास्तथा । विश्वास नैव कुर्वन्ति, दर्शना-शेन वर्जिता ॥ २७३ ॥ देवाङ्गनासहस्राणि, गृहीत्वैक समाययौ । परीक्षार्थं भगवत , संङ्गमश्चाब्रवीत्सुर ॥ २७४ ॥ "ध्यानव्याजेत्यादि" चेति, वाक्यं तद्विबुधाधर्म । ध्यान तु केवलं देव! व्याजमात्रं प्रदर्श्यते ॥ २७५ ॥ नेत्रे सम्मील्य भगवन्! प्रिया काममपि ध्यायसे । देव! त्वदग्रे कामोऽपि, हावभावसु-विभ्रमै ॥ स्त्रिय कटाक्षपात हि, कुर्वन्ति स्म मनोहरम् ॥ २७६ ॥ किञ्चिदु-न्मीलय नेत्रे च, दृश्यता नो जगत्प्रभो! कामबाणार्दितास्तास्तु, सम्पीड्य हृदयं मुहु । स्थिता क्षिप्र गृहीत्वैव, बाहुं स्ववशमानय ॥ २७७ ॥ भवान् दयालुः षड्कायरक्षणे सम्प्रवर्तते । परं नो मन्मथो देव! सन्तापं कुरुते रह ॥ तत्प्रतीकारहेतुश्च, भवानेव हि दृश्यते ॥ अतो वयं भगवत , शरणं च समा-गता ॥ २७८ ॥ वचनार्थनत स्वामिन्! तवाङ्के पतिता वयम् । देहि नो स्थानं भगवन्! ज्ञात्वा त्वा हि कृपानिधिम् ॥ २७९ ॥ शरणागता इति ज्ञात्वा, दीनाना नारि मारत. । महान खेदस्य विषयो, यस्त्वा रक्षतीश्वर! ॥ २८० ॥ न किञ्चिदुच्यतेऽस्माक, न चोत्साह प्रदीयते । त्राता भूत्वा न कुरुते, रक्षामपि दयापर. ॥ २८१ ॥ सुस्पष्ट ज्ञायतेऽनेन, मिथ्याकारुणिको भवान । वर्पतस्त्वे तप गुणे , सेवा न त्व प्रसीदसि ॥ २८२ ॥ कर्णान्ते ते न यूकाऽपि, चलते किमत परम । वयं पराजयं मत्वा, गतपन्तस्ततोऽधिकम् ॥ २८३ ॥ नान्योऽ-

तिनिर्घृणतरो, कठोरहृदयोऽपि च । त्वत्समो नास्ति संसारे, परिपक्को दयानिधे! ॥ २८४ ॥ एवमुक्त्वा चालयन्तो, ध्यानादुद्विग्नमानसा । समाश्रित्य स्वमार्गं ता, गता स्वसदनं प्रति ॥ २८५ ॥ अतोऽस्माकमियं शिक्षा, सामायिके च संवरे । प्रौपधे प्रतिक्रमणे, समाराधनके क्षणे ॥ २८६ ॥ रचनीये दृशी चर्या, यतः स्यादचलाऽनघा । भूत्वा विपयतस्तद्वद्विजयःस्यादनुक्रमात् ॥ २८७ ॥ इत्युपदेष्टा सञ्जातो, ज्ञायता मनसा हृदा । **अथ शरणागतान् रक्षणम्**—अथार्तान्छरणापन्नान्प्रति वीरस्य सद्गुरोः । छद्मावस्था त्यागपर, निष्कामजीवनं तत. ॥ निर्वाह्यति ससारे, तपश्चर्याव्रतेन च ॥ २८८ ॥ आर्ताः सन्तापिताश्चान्यैर्यदा तच्छरणागता । तेपामाव्हानमादौ हि, शृणोति च यथार्थत ॥ २८९ ॥ तत्का ध्यानं तपश्चर्या, तेपां रक्षा कृताऽनिशम् । महतोऽसाध्यकष्टाच्च, सुरक्षयति तान् श्रमात् ॥ २९० ॥ स चर्मेन्द्रो हि शक्रस्य, ह्यपमानं विधाय वै । पलायतोऽशनिपाताद्रक्षनार्थं च तस्य हि ॥ २९१ ॥ शरणं पादपद्मस्य, समागत्य स्वजीवनम् । शक्नोम्यहं न जेतुं तं, तेनेत्युक्तं यदा प्रभु· । ततो रक्षितवाँस्त्वं च, **वीरः सदयवान् जिनः** ॥ २९२ ॥ एकदा मगधे देशे, मस्करीस गोशालक· । यदा तत्पृष्ठगो जातो, वीक्ष्यमेकं तपस्विनम् ॥ २९३ ॥ परस्तु वृक्षशाखाग्रे, लम्बमानमध शिर· । कृत्वोर्ध्वपादं यश्चोग्रं, तपस्तपति नित्यश· ॥ २९४ ॥ तज्जटाजूटतो यूका, निस्सृत्य पतिता भुवि । तदा ता दयया युक्त , पुनः स्वकचमण्डले । स्थापयति च तं दृष्ट्वा, गोशालश्च प्रहस्य वै ॥ २९५ ॥ उवाच नेदृशो दृष्टो, यूकाशय्यातरस्तथा । इति दुष्टस्वभावेन, ह्यवज्ञा कृतवान्पुन· ॥ २९६ ॥ शठं प्रति च शाठ्यं वै, कुर्यादिति विचार्य च । कोपावेशसमाविष्टस्तपस्वी स्वतपोवलात् ॥ २९७ ॥ नेत्रद्वारैव प्रति तं, तेजोंऽशतीक्ष्णरश्मय । पातिता येन तडितो, यातनेवातिदु·सहम् ॥ २९८ ॥ प्राप्य दु खं ददाहाथो, स्वरमन्देन प्राह च । शरणागतं च मां त्राहीत्येवं वाचं जगाद सः ॥ २९९ ॥ तदा पितामहश्चैवं, दया कृत्वा स्वनेत्रत· । हिमवच्छीतला लेश्या, तस्योपरिप्रक्षिप्तवान् ॥ ३०० ॥ तमनार्थं मृत्युपाशान्मुक्तवान् कृपया मुहु । विभो! त्वं हि धन्यतरस्त्वदीयेयं कृपा मयि ॥ ३०१ ॥ न कृत्रिमा वास्तविकी, स्फुटं मे सुप्रतीयते । श्रीमद्भगवतश्चैदं, चरित्रं शिक्षणप्रदम् ॥ ३०२ ॥ प्रविष्टमिति तच्चित्ते, षट्कायप्रतिपालकम् । [illegible] च, प्रथमं चोपदेशनम् ॥ ३०३ ॥ कृतवाँश्च स्वयं साक्षा-

हृदये चावधार्य्यताम् । अपुनरावृत्त भावस्य, पन्था तेनैव दर्शित ॥ ३०४ ॥ **अथ मनुष्यवन्मूकपशुरक्षणम्**—मनुष्यवन्मूकपशूनरक्षयत्स्वयं जिन. । यदा हि वाममार्गीणा, प्रसारमधिकं ह्यभूत् ।, तदा ते दयया हीना, व्याजाद्यज्ञाच्च कोटिश । पशवो बहवस्तैश्च, हता मूका निरागसा ॥ ३०५ ॥ तस्मिन्काले च शमिना, घातकास्ते तपोवलात् । अवरुद्धाश्च वीर्येणानन्तशक्त्या तथा पुनः ॥ ३०६ ॥ न हन्तव्या न हन्तव्या, घोषणेयं मुहु कृता । अवरुध्य भीषणं काण्डं, ससारस्थितप्राणिनाम् ॥ ३०७ ॥ रक्षिताश्चानन्तजीवास्तथाऽसिघातनादपि । तस्यायमुपकारस्तु, धर्मोऽयं च पुरातनः ॥ ३०८ ॥ मुद्राङ्किता· कृतास्तेन, तत्स्मृतिर्वर्ततेऽधुना । महोदयो **वालगङ्गाधरतिलकसंज्ञकः** ॥३०९॥ **नेता श्रीभारतस्यासीद्धन्यवादं प्रदत्तवान्** । जैनसमाजवृन्देभ्यो, नैतच्चाल्पमहत्वकम् ॥ ३१० ॥ अपकर्तृपशुद्धारो, मनुष्य इव सत्कृत । हिंसकादेरपकर्तु·, पशोरप्यपकारणम् ॥ ३११ ॥ सदोपेक्षैव सद्भावा, कृता तेतिति सस्फुटम् । हिंसावृत्तिरताना तु, पशूना वृत्तिपाशवीम् ॥ मोचयित्वा समाधेश्च, दत्वा वोधमनामयम् ॥ ३१२ ॥ सदाचाराधिकारं च, ददाति स न सशयः । यथा चण्डकौशिकेन, विषाक्रान्तमहोरगे ॥ ३१३ ॥ वेदना दंशजा शश्वच्छान्त्या सर्व विशोढवान् । कृपया तं च सन्मार्गे, सदाचारे तथा पुन ॥ ३१४ ॥ स्थापयित्वा प्रबोधेन, श्रीमुखेन च भाषितम् । चण्डकौशिक! बुध्यस्व, शान्तियुक्तो निशामय ॥ ३१५ ॥ शब्दा एवं प्रकथिता, नरकाधेन रक्षित· । पतनतोऽवन जातो, जगद्गुरुप्रसादत ॥ ३१६ ॥ शान्त्यैवं सुबोधितोऽपि, सुप्तावस्था गतोऽप्यसौ । क्षिप्र जागरितो वुद्धो, विवेकनमशक्तित ॥ ३१७ ॥ साधयति स कार्य च, कि मया श्रूयतेऽधुना ॥ एवं विचारितस्तेन, किं शब्दोऽयं कृपामय ॥ ३१८ ॥ पूर्णा दया च तस्याऽस्ति, न वा चेति विचार्य्यते । एतद्भावगपदम्भानां, न जाने स्वादायं पृथक् । एतद्रुधिरपानेन, सितां च शर्करामपि ।, तिरस्करोति स्वादेन, नो लब्धा चेदृशी मया ॥, ज्ञाते मयाद्य संचार·, शान्तेरस्य च नाडिषु ॥ ३१९ ॥ आशा नामापि नास्त्यत्र, मृत्युभयस्य का कथा । परमस्ति क्षमायास्तु, पराकाष्ठेति धार्य ॥ ३२० ॥ अपकारकारिण्यपि, क्षमा स्वाभाविकी पुना । आवश्यकाधिकानन्ता, शान्त्यास्यकवचोपरि ॥ ३२१ ॥ सन्मार्गे मां च स्थानेतुं, नियच्छ्राध्यो महानपि । समालोचनपूर्वं हि, तस्य स्वदर्शनं प्रभो ॥ ३२२ ॥ जातिस्मृतिकं सञ्जातं, ज्ञानं गतजन्मसार-

क्रम् । क्रोधोऽयं चातिपापात्मा, सच्चरित्राच्च मा पुनः ॥ ३२३ ॥ पातितवानत्र योनौ, निकृष्टायामिति स्थिति. । जन्मत्रयेणात्र बद्धो, विभो ! वन्दिगृहाच्च नाम् ॥ ३२४ ॥ भीषणायंत्रणाच्छीघ्रं, मोचय मामिति प्रार्थना । प्राप्य नैव विसवाद, विवेकपद्धतिं गत. ॥ ३२५ ॥ सम-सवेद-निर्वेदं, बलादध्यात्मकं रनम् । पिबन्नास्ते सुखेनैव, आयुरन्तिमकान्तकम् ॥ ३२६ ॥ श्वासोच्छ्वा-नकपर्यन्त, परमुत्कृष्टसमाधिना । सल्लेखनायाः आरम्भं, कृतवान् शान्ति-तत्पर ॥ ३२७ ॥ अभ्यस्तपारीणमहानाग पञ्चमके दिने । मृत्वाऽष्टमसहस्रा-रस्वर्गातिथिरजायत ॥ ३२८ ॥ धन्योऽस्ति भगवँस्त्वं हि, पशूनपि मनुष्यवत् । धर्माधिकारं च, दत्वा तेभ्योऽपि तान्पुन ॥ ३२९ ॥ भव्यात्मकांस्तथा के, भाग्यशालिनश्च भावित । घटनयाऽनया स्पष्टं, सिद्धं जात पुरातनम् ॥ ३३० ॥ यथा मम प्रिया प्राणास्तथाऽन्येषां हि देहिनाम् । इत्युक्तेन प्रका-रेणाऽहिंसाणुव्रतधारणे ॥ ३३१ ॥ "क्रोधाद्बन्धच्छविच्छेदोऽधिकभारादिरोप-णम् । प्रत्यागनादिरोधश्चा, हिंसाया परिकीर्तिता" ।

समूलं तद्विनाशितम्। प्राचीनव्यवहारस्य, सन्मतेन स्थिरं पुरा ॥ ३४३ ॥ विश्वाखिलावतारैस्तैरेवं निर्वहणं कृतम्। यथा शासनपतेर्वीरभगवतः शासनादनु ॥ ३४४ ॥ अयं सारतरश्चेत्थं, विचारस्य हृदा पुनः। **अथ शत्रूणामुपस्थपि-परोपकारिता**-शत्रुं प्रत्युपकारस्य, करणे रक्तान्स्वयं प्रभु·। सङ्गमः शूलपाणिश्च, व्यन्तरीकटपूतना। दानवै· पशुभिश्चैवोपसर्गं च महत्कृतम् ॥ ३४५ ॥ इति शत्रुगणैर्दत्ता, यन्त्रणा दारुणा तथा। सहित्वा साम्यभावेन, कृतं परिषहे जयम् ॥ ३४६ ॥ षण्मासान्तं च सततं, ददन्कष्टं महाऽसुरः। तदाऽवस्थगितो भूत्वा, हारित स गतस्तथा ॥ ३४७ ॥ तदा तन्नयनाम्भोजादश्रुविन्दुद्वयं त्रिकम्। पतितं च यथा न्याये, इत्यवेहि च मानसे ॥ ३४८ ॥ "कृतापराधेपि जने" इत्याद्युक्तं पुरैव च। अभिप्रायोस्ति तस्यायमपराधगुरुस्तथा ॥ ३४९ ॥ पात्रोऽयं सञ्चितस्यास्य, कुत्सितस्य च कर्मण·। भावि तत्परिणामं हि, कथं सक्ष्यति कुत्र वा ॥ ३५० ॥ दुस्सहं यद्भवेच्चैतदेतदर्थं निशामय। अहो विज्ञायते चाय, शत्रूपरिशिवस्पृहाम् ॥ ३५१ ॥ कृतमाध्यस्थभावेनौदार्यगाम्भीर्य्यशौर्य्यकम्। इति गुणसमूहाना, वैलक्षण्यं क्षमा वरा ॥ ३५२ ॥ महिमा चेति नान्यस्मिन्वीराद्भिन्ने प्रदृश्यते। अनार्यदेशेऽपि तथा, विहारो भ्रमणं तथा ॥ ३५३ ॥ निरन्तर नावरुद्धं, धर्मात्मनदृशं मुहु·। दर्शनमनार्य्यसर्घेभ्यो, धर्म्मकोटिनयाय च ॥ ३५४ ॥ म्लेच्छदेशेऽपि तस्यासीदनिवार्य्यभ्रमण मुहुः। तत्राऽपि च भवन्तं हि, कश्चिज्जानाति दूरग ॥ ३५५ ॥ देशान्तरस्थ कश्चिच्च, भेदक तस्कर तथा। ज्ञात्वा घ्नन्ति च बध्नन्ति, कूपाधो लम्बयन्ति च ॥ ३५६ ॥ ते केचित्तच्छरीरे च, मृगयारसिका मुहु। सारमेयानयोपा-य, लगयन्ति च ते पुन ॥ ३५७ ॥ स्वतीक्ष्णनखाघातैर्दन्तैश्च तच्छरीरके। क्षतं कुर्व्वश्च जातास्ते, नशङ्का स्थगिता रद· ॥ ३५८ ॥ पर स्वयं न निरिवदचलोऽभूदपनीतरे। तथाऽधमा नराश्चेदं, दृष्ट्वा धैर्य्यं सहिष्णुताम् ॥ ३५९ ॥ प्रभावानुरावित्ता भूत्वाऽऽश्चर्ययुक्ताश्च तेऽभवन्। तत· पराजिता जाता, पतितास्तत्पदाम्बुजे ॥ ३६० ॥ ततश्च श्रद्धया जैने, भूत्वा श्रद्धालवो मते। नरामताऽणुमतयोर्लीना स्वसाधने मुदा ॥ ३६१ ॥ अनन्ता यातनां शुरत्वा, मिथ्यावादिष्वनार्यदेष्वनिवार्यजनेष्वत्र, जैनधर्मस्य चोत्तमा ॥ सत्कारः स्थापितस्तेन, सत्य स्वात्मप्रशंसनाम्। प्टोराददानां च, स्वधदान विजयं तथा ॥ ३६२ ॥ धर्म्मेपाऽन्ना नय, शिक्षा मह्यते परा। भगवतो वीर-

देवस्य, सुपुत्रो निर्भयो भवेत् ॥ ३६३ ॥ अनार्य्यमतिनां शबलोकानां वीर-स्वामिन. । धर्मेऽप्यनादिसङ्केऽपि, गत्वा च प्रसरेदिति ॥ ३६४ ॥ तत्रावोध-नरास्तद्वद्धर्म्मसत्कर्म्मवञ्चिता । प्राणिनो ये च तत्रापि, धर्मोऽनैकान्तिकस्य हि ॥ ३६५ ॥ संस्थापितो मूलतरस्तॉश्च श्रीवीरस्वामिनः । सुधर्मस्याप्यनुगामिनः, कृतवान्स दयापर ॥ ३६६ ॥ इठादिदमहं वक्ष्ये, मदीया मुनिभ्रातर ! न दत्तं ध्यानमत्रापि, कदापि न हि सम्मतम् ॥ ३६७ ॥ भूत्वा प्रत्युतदेशस्य, ग्रामस्य नगरस्य च । पिण्डोलको मोहवशे, ममतायाः प्रमादके ॥ ३६८ ॥ कृत्वा कलङ्कितं स्वं च, नोचितं म्लानता गतम् । तत्रैतत्कारणं ज्ञेयं, प्रार्थनाथ मुनेरिदम् ॥ ३६९ ॥ वाराणसीति पार्श्वस्य, क्षेत्रं भगवत परम् । वीरस्य कुण्डिनपुरी विख्यातं मगधे पुन. ॥ ३७० ॥ विहारशरीफ़नाम्नश्च, मण्डले वर्तते च या । पुष्कळत्वेन नायातं, मुनिभ्रमणमित्यपि ॥ ३७१ ॥ धर्मप्रचारः श्रवणे, नायातश्च यदानये । भगवतो वीरदेवस्य, चैकविंशसहस्रकम् ॥३७२॥ शासनस्य प्रचार स्यात्तदा किं कारणं वद । तच्छासनसमृद्ध्यर्थं, नाम्नि तस्य च पूज्यवान् । प्रसक्ता ये जनाश्चासॅस्तज्जन्मभुवि मानवाः ॥ ३७३ ॥ तेषु धर्मप्रचारोऽपि, न भवेदिति चिन्तने । शोचनीया सुवार्तेयं, सङ्घाग्रगण्य-भ्रातर । एतदुन्नतिकालेऽपि, भवन्तश्चेन्मतं परम् । जैनं तस्य नोदनार्थं, यद्यस्ति परिचयो महान् ॥ ३७४ ॥ ज्ञातव्यं भवता नाम, संनश्यति गजेन्द्रवत् । अतो हि विदुषां तद्भक्तियाऽऽपन्नमुनीनपि ॥ ३७५ ॥ बुधरत्न-प्रसिद्धानां, वक्तृणा सर्वसम्मते । व्याख्यानवाचस्पतीनां', सन्यासधारिणां तथा ॥ ३७६ ॥ चिन्तयामि सदा सम्यक्स्वप्रचारस्य क्षेत्रकम् । भगवता वीरदेवेन, समं कुरु विशालकम् ॥ ३७७ ॥ जैनधर्म्मं तथा शश्वद्विश्वव्याप्यं तथा कुरु । भवन्तो तेऽपि चास्यैव, रोगस्य परिमार्जका. ॥ ३७८ ॥ सन्त्यौष-धिकराश्चात्र, न वा चेति विचार्य्यताम् । अथ **भक्तःगृहस्थान्प्रति**—स्वभक्तान्गृ-हस्थान्प्रति जीर्णक-सौकरिकादिकम् ॥ ३७९ ॥ पूर्णायेति स्वधर्म्मे च, दृढश्चेति पितृणक । सरलैव तथा चासीत्तत्प्रशंसा च वर्णिता ॥ ३८० ॥जीर्णस्य भक्ति-भावना, पूर्णायस्य सामायिकम् । सुविक्रेतु पूनिकेति, सदास्ति जीविका पुनः ॥ ३८१ ॥ सामायिकं पवित्रं च, सौरिकस्याऽप्यणुन्नतम् । जैनं ससारकूपान्तं, हि तद्विस्मरिष्यति ॥ ३८२ ॥ ततोऽतिरिक्ते तस्यास्ति, शुभागमनसूचना ।

यदा भव्यानुभावेभ्यो, भक्तिभ्यथापि जायते ॥ ३८३ ॥ नगराच्च बहिर्देवो, निर्जने कानने स्वयम् । वीरश्च भगवान्स्वामी, समायातोऽतिपुण्यत ॥ ३८४ ॥ शक्रादिदेवैः सर्वैश्च, समवसरणनिर्मितम् । महान् कलरवो जातो, नगरेऽपरिमिता जना ॥ ३८५ ॥ धर्मानुरक्ता श्रोतारो, जिज्ञासव इतीतरे । तेभ्योऽतिरिक्तपश्वादिश्वापदा पक्षिणस्तथा ॥ ३८६ ॥ आयान्ति समितौ ते तु, रचिते समवसरणके । महत्सम्मेलन जातं, तदा ते जातिभावनाम् । स्वाभाविकं पाशविकं, त्यक्त्वा हि वैरभावनाम् । शान्तिच्छटा नीतवन्तो, जातास्ते धर्म्मतत्पराः ॥ ३८७ ॥ उपदेशानन्तर भूपा , सार्वभौमास्तथाऽपरे । राज्यसत्ता परित्यज्य, गृहीतमुनिसुव्रता ॥ ३८८ ॥ गृहिणोऽपि गृहे स्थित्वा, पञ्चाणुव्रततत्पराः । तृष्णाभार समुत्तार्य, सम्यक्त्वभावमागता । जीवनं सफलं जाता, कुर्वन्तस्ते पदं परम् । औदासिन्यं रूक्षभाव, भोग्यं कर्मोपभुज्य च ॥ ३८९ ॥ अन्ते निवृत्तिमार्गं च, लब्ध्वाऽक्षयसुखं पुन । अनेकानि प्रमाणानि, लभ्यतेऽनेकशस्तथा ॥ ३९० ॥ **अथ शास्त्रार्थप्रकरणम्**–अथ शास्त्रार्थवृत्तीना, वादिना प्रतिवादिनाम् । ऋजुवालुकानद्याश्च, तटे श्यामाकक्षेत्रगे ॥ चतुष्टयानन्तमापन्ना, सद्धर्म्मप्रतिपत्तये ॥ ३९१ ॥ गोरखमण्डले ग्रामे, 'पडरोणेति' विश्रुते । पावापुर्यां चोपवने, आजवे स जगत्प्रभु ॥ स्याद्वादमहावाचा, महानादेन शब्दिता ॥ ३९२ ॥ दिशा कुर्वंस्तदा काले, कस्यचिद्ब्राह्मणस्य हि । महाध्वरोत्सवो जातस्तत्रैकादश पण्डिता ॥ ३९३ ॥ आहूतास्तेनेन्द्रभूतिर्महामान्यश्च वेदग । आसीत्तस्याभवँश्छात्राश्चत्वारिंशाच्छतत्रसहस्रगा ॥ ३९४ ॥ वेदाध्ययनसम्पन्ना, विद्यार्थिन इति स्फुटा । अगणितानां च देवानामायव्ययाद्धि गौत्तम ॥ ३९५ ॥ ज्ञानं जातं तर्पनाम्नाऽनेकान्तवादविस्मया । समायातो जिनेन्द्रश्च, सर्व्वज्ञो विश्वरक्षकः ॥ ३९६ ॥ शास्त्रार्थं तेन नाक वै, शर्म्मा समवसरणकम् । गच्छति स तदाऽऽयान्तं, दृष्ट्वा स जगत प्रभु ॥ ३९७ ॥ आगन्तुकस्य सशिष्टाचार शिक्षणाय च । सभादिगणधरस्य, स्वागतं चेन्द्रभूतये ॥ ३९८ ॥ तत्समानत्विवं भावं, तत्र समायातिनम् । तपिशक्ति कृता तेन, तथा सुवेदिनी मुद ॥ ३९९ ॥ शिक्षा एता प्रभावोत्था, चार्हती चोपकारिणी । तदिन्द्रभूतये तद्भेदवेदमिलाप च ॥ ४०० ॥ महानुभावश्रेष्ठेन्च सुप्रदत्ता गरीयसी । हेसं कृपसुपादेसमिति च निपदी मता ॥ ४०१ ॥ ज्ञानोत्पादविन्नो सा, नोत्पादव्ययध्रौव्यकम् । परस्परानपं चैव, सादनासिनिरा सह ॥ ४०२ ॥ चतुर्दशात्मकं पूर्वं, यदुक्तं

तद्विशालके । ज्ञाने परिणतं कृत्वा, स्थविरान् रुद्रसख्यकान् ॥ ४०३ ॥ गणधर-पदे सम्यक्स्थापिता सर्वसंयतै । प्रथमं चेत्थमनिशं, स्वकीयानन्तज्ञानके ॥ ४०४ ॥ लाभमुत्पाद्य तेभ्यश्च, खखदिद्विग् ४४०० द्विजातये । दत्वा निर्व्वाण-मार्गं च, तत्पथि पथिका कृता ॥ ४०५ ॥ **अथानाथवालिकोद्धरणम्**—अथा-नाथवालिकाया, उद्धरणं कृतं स्वयम् । सार्धद्वादशवर्षाणा, तथा पञ्चदशे दिने ॥ ४०६ ॥ [छद्मावधौ दुष्कर च, तप कुर्व्वंश्च विश्वदृक्] तदैकस्मिँस्तु कालेऽथ, त्रयोदशविधात्मक । कृतो भीष्माभिग्रहश्च, कृतवान् पणधारणम् ॥ पण्मासान्तं न यत्पूर्ण, न शक्यं भवितुं पुन ॥ ४०७ ॥ परन्त्वयं त्वचलितस्तस्मात्पणमया-त्प्रभु । प्रयागमण्डलतद्वत्कौशाम्बीं नगरीं तत. । भ्रमन्सँश्चन्दनाख्याया, वालाया· कर्तुमुत्सुक । सूद्धार धनवाहस्य, श्रेष्ठिनश्च गृहाङ्गणे ॥ ४०८ ॥ समा-गत्य स्थिरश्चाभूद्गृहस्यास्य सुकोष्ठके । द्वाराग्रे च सती वाला, चन्दनाऽतीव-भक्तित· ॥ ४०९ शृङ्खलानिगडैर्वद्धा, तिष्ठतीति विलोक्य च । अन्वेषते तथा मार्गं, भगवतो धर्म्मतत्परा ॥ ४१० ॥ अनाथा बन्दिनी वीर, भगवन्त निरीक्ष्य च । सुहर्षं प्रकटं कृत्वा, कुर्व्वती भाववन्दनाम् ॥ ४११ ॥ प्राह जगद्गुरो ! देव ! सूर्प्पे लोहमये पुन । माषान्नबाकुली चास्ति, तद्गृहीत्वा च मा पुन ॥ ४१२ ॥ कृतकृत्या द्रुतं कुर्या, इति मे प्रार्थनां शृणु । समयेऽत्यत्र तस्याश्च, प्रफुल्लितमुखा-म्बुजम् ॥ ४१३ ॥ पर भगवतश्चास्या, स्वल्पमस्मिन्नभिग्रहे । तथाऽप्यश्रुप्रवाहस्य, न्यूनत्वं चात्यवर्तत ॥ ४१४ ॥ स्वयं स च परावृत्य, चलवानीपद्गतिस्तत· । चन्दनाऽपि तदाऽपश्यद्भाग्यहीना गृहं मयि ॥ ४१५ ॥ स्वयं देववरो भानु·, समागत्यालयं मम । स्वप्रकाशं समाहृत्य, पश्यन्त्या मे गतोऽस्तकम् ॥ ४१६ ॥ अस्या दशायां दीनायाश्चावलाया· प्ररोदनम् । विनाऽन्यद्दर्शनं तस्यै, नास्ति कस्य प्रयोजनम् ॥ ४१७ ॥ चक्षुर्भ्यां यमुनागङ्गाप्रवाहो वहति द्विधा । महादयालुवीरस्या-भिग्रह पूर्णता गतम् । स्वाभिग्रहस्य दृष्ट्वा तु, स्वादूप्या भक्तितत्परा । सदा सक्तानुरक्ताया [करात्] मापवान्यस्य वाकलाम्* । गृहीत्वा दानातिशयाद्देवैर्मुक्ताश्च बन्धनात् । केवलज्ञानभवनात्पश्चादार्यात्वमाप्स्यति ॥ ४१८ ॥ दत्वा स्वतन्त्रतां तस्यै, जीवन्मुक्तत्वयोगत । कथितश्चातियत्नेन, त्यक्ता तत्कायमुत्तमम् ॥ ४२० ॥ शेषमायु प्रभुक्त्वा च, निर्व्वाणपदमागतम् । वीरस्येति प्रभावाद्या, कल्याणमात्मकं

---

* अग्निपक्काक्षतधान्यस्य वाकलासज्ञेति भाषायाम् ।

कृतम् ॥ ४२१ ॥ निजाधीनो जनो यश्च, न कुर्यात्स्वसमं नरम्। स धनी निन्दितो ज्ञेय, इति जानीहि सस्फुटम् ॥ ४२२ ॥ **अथ सदाचारिशिष्यान्**—सदाचारवत शिष्यान्, प्रति जागयते पुन । यस्तस्य चरणाम्भोजसमीपं सुसमाहित ॥ समागत्य च दीक्षाया भागवत्या प्रसादकम् ॥ ४२३ ॥ भगवत. प्राप्तवान्शश्वत्तमेवाभेदभावत । कुर्यात्तमुन्नतं चैव, भाविन सोऽपि स्वस्य च ॥ ४२४ ॥ अध्यात्ममार्गं सम्माष्टुं, योग्यत्वमुपलब्धवान्। तथाऽभयकुमारस्य, धन्यस्य च महामते. ॥ ४२५ ॥ शालिभद्रातिमुक्तस्यायोरुदाहरणानि च। श्रेणिकेन नृपेणैव, मगधेशेन चैकदा ॥ ४२६ ॥ उत्कृष्टक्रियायाश्च, साधना धन्यस्वामिन । दृष्ट्वा च भगवान पृष्टो, धन्यनाम्नो मुनेरथो ॥ ४२७ ॥ सुक्रियोत्कृष्टपात्रस्तु, मुनीश सम्प्रतीयते। परं भगवता चेदं, गदितं तन्निशामय ॥ ४२८ ॥ श्रुतचारित्रपारीणचतुर्दशसहस्रकम । मुनीना सपरिवाराणा, मुक्तमालामणेर्निभम् ॥ ४२९ ॥ यथोचितमिदं श्रुत्वा, चोत्तर श्रेणिकस्य हि। समस्तमुनिसङ्घे च, जाता श्रद्धा समा धिया ॥ ४३० ॥ **अथ पितुर्मित्रं प्रति**—मित्र प्रति पितुश्चैकवार छद्मदशास्वपि। भूमण्डले भ्रमन्नस्मिन्नेकसन्यासिनो मठे ॥ ४३१ ॥ निवसितु निशामात्रमिच्छया समुपागत । मठाधीशो मित्रपुत्रं, ज्ञात्वा तत्प्रेमरश्मिना ॥ ४३२ ॥ बद्धो भूत्वा बाहुपाशे, गृहीत्वा तं च सङ्गत । तथेयं च कृता तेन, प्रार्थना भगवन! पुनः ॥ ४३३ ॥ भवान्मित्रं च सिद्धार्थराजस्य तनयोऽस्ति च। अतो ममस्तनुश्चेय, स्थान चेद तवैव हि ॥ ४३४ ॥ अतश्चागामिनि वर्षे, चातुर्मास्यव्रतं महत्। अत्रैव कृत्वा पूतं हि, कुरु स्थानं मदीयकम् ॥ ४३५ ॥ मौनावस्थास्वपि भगवान, ददौ ध स्वीकृति पुन । शेषकालं यापयित्वा, तन्मठस्य च सन्निधौ ॥ ४३६ ॥ तृणमयी कुटी स्थित्वा, कृत्वा ध्यानं स्थिरं पुन । कायोत्सर्गे रतो जातश्चातुर्मास्ये-प्रदेश हि ॥ ४३७ ॥ व्यतीते दिवसे जातो, दुर्भिक्षस्तु महान्तत । तृणाभावाच्च पशव, क्षुधार्ता वेदनोद्वले ॥ ४३८ ॥ तदा तत्पर्णशालायास्तृणपुञ्जं मुहुर्मुहु । निष्कास्य भक्षयामासुस्ते तदा [illegible] ॥ ४३९ ॥ [illegible] मठाधीशो, दृष्ट्वेदं [illegible] । आश्चर्येणुचोऽभून्निर्भत्सनाहरन यदापि हि ॥ ४४० ॥ निस्पृहस्य मम हा, न कृत तृणरक्षणम । पर तस्य मनोभाव, ज्ञानवान [illegible] प्रभु ॥ ४४१ ॥ [illegible] [illegible], विहार [illegible] [illegible]। शान्तिर्भमा न मे भूयादिति [illegible] [illegible] ॥ ४४२ ॥ "[illegible]", [illegible] परित्यजेत्। [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] ॥ ४४३ ॥ **अथ धर्माद्विचलितान् प्रति**—

यातनातो 'धर्म्मकाण्डाच्चलितान्किञ्चिन्निगद्यते । कस्मिंश्चित्समये राजगृहाधीश-सुश्रेणिक ॥ ४४४ ॥ तनयस्तस्य चैकोऽस्ति, मेघकुमारनामक । श्रुत्वोपदेश वीरस्य, सवेगात्प्रतिजगृहे ॥ ४४५ ॥ दीक्षोत्तमा तदा तस्य, दीक्षितस्य नवस्य च । सर्वमुनीनां पश्चात्तु, तदाऽऽसनमवेशयत् ॥ ४४६ ॥ परन्त्वावश्यकं कार्यं, कर्तुमायान्ति यान्ति च । मुनयोऽनुपयोगत्वान्निशाया समयस्तथा ॥ ४४७ ॥ तेषामीर्याभङ्गवशात्पादस्पर्शो मुहुर्मुहु' । जातस्तत पराभूय, व्याकुलोऽभून्महामना' ॥ ४४८ ॥ निद्राऽभावसमापन्नो, विचारे तत्परोऽभवत् । किं मेघायुर्मदीयं च, पादप्रहरणाद्गतम् ॥ ४४९ ॥ प्रसह्यैवं व्यतीतं स्यान्नह्येतस्मै मुनिर्व्रतः । प्रातरेव हि दत्वेदं, धर्म्मोपकरणं मुदा । गत्वा च जननीं स्वां च, मिलिष्यामि सुप्रेमतः ॥ ४५० ॥ साधुरत्रैव सम्भूय, रुलित पादलग्नत । नेत्थं विनिर्वहेच्चाद्य, प्रदृष्ट पूर्वमेव तत् ॥ ४५१ ॥ सदा चायाति भक्त्यैव, तदाऽप्यादरतोऽवदत् । अद्य भूत्वा सुसयमवान्न जानन्ति कथंचन ॥ ४५२ [न जानन्ति कथं चाद्य, किमाश्चर्यमतः परम्] निदानन्त्वत्र प्रातर्हि, **मुनिर्मेघकुमारकः । वीरस्य चरणाम्भोजवन्दनार्थं समागतः** ॥ ४५३ ॥ गुरो प्रष्टुं समुत्पन्ना, लज्जा तस्य मुनेरद । नतं शिरश्चकाराशु, कुमार' क्षत्रियस्य च ॥ ४५४ ॥ स त्वन्तेवासी भूत्वा च, तस्य च सद्बलाश्रय । ससारतारको वीरो, निशावृत्तं च ज्ञातवान् ॥ ४५५ ॥ सर्ववृत्त निशाजन्यं, निगद्य पुनरुक्तवान् । रात्रौ वत्स ! मुनीना च, पादप्रहारतस्त्वया ॥ ४५६ ॥ लब्धा निद्रा न स्वान्तवै, तेनार्तध्यानमागतम् । अतो निद्रा सुविच्छिन्ना, निशाऽतीताऽतिकष्टदा ॥ ४५७ ॥ पर विवेकपन्थानं, मार्गयस्व समागत । तदा स्यात्पूर्वकं ज्ञानं, जन्म पाशविकं तव ॥ ४५८ ॥ तत्र कष्ट महत्किं वा, निशापादप्रहारकम् । एतावन्तं प्रतिश्रुत्य, मेघनाम्नो मुनेर्द्रुतम् ४५९ जातिस्मरोऽभवत्पूर्वजन्मद्वयगतस्य च । तिर्यग्भावगता वार्ता, समारूढा स्मृते पथम् ॥ ४६० ॥ पूर्वसवेदिनी तद्वद्दशा जातेत्थमद्भुता । तदा योगी पुनर्जातो, दीक्षादानविधानत ॥ ४६१ ॥ तथैकमासपर्य्यन्तं, धृत्वा सल्लेखना गुरो । अन्ते द्वाविंशतिस्वर्गस्याहमिन्द्रोऽभवत्तत' ॥ ४६२ ॥ कम्पमाननगं चेमं, सुस्थिर कृतवान्पुन । भगवान्वीरदेवश्च, ज्ञातव्यमुत्तमं तप' ॥ ४६३ ॥ प्राणभृतामसख्यानामित्थं भ्रमरजालके । मग्ना नौरुद्धृता वीरदेवेन भवचक्रत ॥ ४६४ ॥ भवाब्धेस्तारकत्वात्तारक परिगीयते । निपुण. शक्तिमत्त्वाच्च, कर्तेत्यपि च कथ्यते ॥ ४६५ ॥ **अथ खद्दरं प्रति**—यदानन्दकामदेवादिकाना गृहमेधिनाम् । गृहिण-

श्रावका ये च, जैनधर्मानुगास्तदा ॥ ४६६ ॥ *वस्त्रात्मकविधौ स्थूलसूत्रजं वसनं मुदा । तत्तत्सामयिका लोका, धारयन्ति स्म तन्मुहुः ॥४६७॥ तत्क्षौमयुगलं प्राहुस्तत्कालीना नरा भुवि । निर्माय वसनागारं, स्थूलसूत्रस्य ते पुनः ॥४६८॥ ततोऽन्यद्वर्जयित्वा च, धार्यतेस्म तदेव हि । प्रति संसारिणः सर्वान्नरान्स्वस्य स्वकीयकम् ॥ ४६९ ॥ द्विसप्ततिमिताब्दान्त, चायुरुक्तं समासतः । सज्ज्ञानानन्ततेजोभिश्चतुर्थारामयस्य हि ॥ ४७० ॥ सृष्टिमुद्भासयामास, भव्यानां कोटिशो विभुः । शंकाऽऽकाङ्क्षा विरहिता, विचिकित्सा विवर्जिता ॥ ४७१ ॥ अमूढदृष्ट्युपगूहश्च, स्थितिभावस्तथेतरः । स्ववात्सल्यमहिम्नैतान्, कृतवान्स प्रभावितान् ॥ ४७२ ॥ स्त्रियः शूद्रास्तथा नीचास्तथोच्चाश्चैव्यभेदताम् । धर्मसाधनसमानाधिकारत्वं स्थिरीकृतम् ॥४७३॥ तन्महत्वं कियच्चेति, विचारय मुहुर्धिया । भगवन्महावीरेण, यत्किंचिद्दर्शितं खलु ॥ ४७४ ॥ आदर्शरूपः तस्याप्यतुलना कर्तुमक्षमः । इतिहासपुराणादिजाते भुवि गवेषणे ॥ ४७५ ॥ नान्यत्र कुत्रचित्लाभो, दृश्यते तस्य नैव हि । प्रत्येकस्य समुल्लेखो, लक्षशः कोटिशस्तथा ॥ ४७६ ॥ व्याख्यानस्य निबन्धस्य, जायते रचना बहु । कोऽनन्तसुगुणान्वक्तुं, प्रभोः शक्तो भवेन्नरः ॥ ४७७ ॥ अतोऽस्य लेखने शश्वद्विषयो न प्रपूर्यते । एतदर्थं केवलं च, समुल्लेखनकं कृतम् ॥ ४७८ ॥ कृत्वा चापामरं कुर्व्वे, दृष्टान्तैरेभिरन्वहम् । पाठकाः स्फुटरूपेण, ज्ञायेरन्नर्वथा यथा ॥ ४७९ ॥ भगवाँश्च महावीरो, वर्धमानस्तथापरः । शासनाधिपतिस्त्वद्धर्म्मे मूर्तिजिनेश्वरः ॥ ४८० ॥ तीर्थङ्करो वीतरागः, साक्षाद्धर्म्मप्रवर्तकः । जगदुद्धारपक्षपातीत्यन्मतिश्च स एव हि ॥ ४८१ ॥ सन्ति संसारगाः सर्वे, समवसरणे स्थिताः । यदा गुरुर्गोशालस्तेजोलेश्यया च विनिर्गमनम् ॥ ४८२ ॥ हातु तेजन्तदेवाशु, भगवन्तमुपरि तदा । न क्षमो निर्पूणश्चान्यः, गोशालस्य विरोपनः ॥४८३॥ महानुभाव गतस्यापि, क्षमाहष्टिः स्वभावतः । कृत्वा धैरादर्शरूपो, देवाधीशोऽभवत्तथा ॥ ४८४ ॥ उदाहरणं स्मारकोऽयं, सन्देहो नात्र कस्यचित् । **'धर्मस्य च समग्रस्य'**, लक्षणं तत्र वर्तते ॥४८५॥ न वा पूर्णतया चेद्, विचारेण विभाव्यताम् । समग्रस्य च धर्मस्य, लक्षणं प्रतिपादितम् ॥४८६॥ **अथ यश-** **स्तस्य समग्रस्य**-भगवन्महावीरस्य, दिगन्तव्यापिनी स्थिता । कीर्तिर्या विमला लोके, तापिते विराजते ॥४८७॥ पश्चात्तीर्थंकराणां खलु, गणयते चेदृशं पुनः । न कोऽपि सन्ति संसारे, तादृशा भारते ॥ ४८८ ॥ सुखमान न जायन्ते, न

---

* समाप्तिनिर्वाणस्य 'खद्दर' इति कथ्यते ।

गायन्ति ? च तद्गुणान्। बुद्धकल्पा जनाश्चापि, वहव स्वमुखेन वै ॥ ४८९ ॥ ज्ञातपुत्रमहावीरस्तदनन्तचरित्रकम्। मुक्तकण्ठेन तस्यापि, सर्व्वज्ञत्वं प्रशंसिरे ॥ ४९० ॥ आध्यात्मिकस्य तत्त्वस्य, पदार्थे तत्त्वचिन्तका। ये ये प्रसिद्धा लोकेऽस्मिन्महानुभावभाविताः ॥ ४९१ ॥ यान् यान्साहित्यविपये, ग्रन्थान्प्रति सुधीमतः। भगवन्महावीरस्यादर्शजीवनरूपकम् ॥ ४९२ ॥ चरितोपदेशकानां य, प्रभाव पतितो भुवि। सूचीपत्रविनिर्मातुं, सर्व्वथा तदसम्भव ॥ ४९३ ॥ एतावदेव सङ्क्षेपात्कथितं च महोदयैः। एतादृशो जन. श्रेष्ठस्तथा साहित्यतत्त्वविद् ॥४९४॥ संसारे विरलश्चास्ति, ज्ञात्वाऽज्ञात्वा विशेपत। भगवन्महावीरस्य, जिनस्य प्रतिवासरम् ॥ ४९५ ॥ अनेकान्तवादतत्त्वस्य, सेतिहासोपदेशकैः। लाभो नोत्थापितो लोकैर्ज्ञायतां परमार्थत ॥ ४९६ ॥ यत्र श्रीवर्धमानस्य, जिनस्य न हिं दृश्यते। चिन्हं किञ्चिन्मत्स्वल्पं, सर्वत्रैवं विचारय ॥ ४९७ ॥ साधारणात्मव्यक्तीनां, महत्व न वचस्स्वपि। परं भारतवर्पस्य, यावन्तश्चेतिहासके ॥ ४९८ ॥ महान्तो मनुजा जातास्तेऽवश्यं वीरस्वामिनम्। येन केन प्रकारेण, स्मृतवन्तो मुहुर्मुहु ॥ ४९९ ॥ इति वार्तातिरिक्तं च, सिद्धं जातमिति स्फुटम्। विद्वास पूर्वकालीना, वर्धमानजिनस्य च ॥५००॥ चरिते स्याद्वादकस्य, सिद्धान्तस्य प्रकाशनम्। पतितं परमाधिक्यं, नानाख्यानान्वितं पुन ॥ ५०१ ॥ पठनाद्यस्य ज्ञातारो, ज्ञास्यन्तीति विशेषत। पाश्चात्यैर्निखिलैर्लोकैर्नामेशुख्स्तस्य गृह्यते ॥ ५०२ ॥ तच्चापि महावीरस्य, चरित्रे जीवनस्य हि। तथा सदुपदेशस्य, शिशुरेको लघुर्ध्रुवम् ॥ ५०३ ॥ तदा किमियमाशा वै, न कर्तु शक्यते मया। पाश्चात्यभाविनि भवे, वीरस्य विश्वव्यापिन ॥ ५०४ ॥ प्रभावोऽयतनात्तुल्या, ज्ञानरूपाश्च या मुदा। प्रत्युतानन्तप्रख्यातप्रकारत्वेन सस्फुटम् ॥ ५०५ ॥ सुपाश्चात्यैर्जनैर्विश्वे, वर्णितं मुक्तकण्ठत। भगवन्तं स्वेष्टतमं, मन्यन्ते स्वानुभावत. ॥ ५०६ ॥ सुतात्पर्य्यमिदं तस्य, **समग्रयशसः परम्**। लक्षणं च महावीरे, परिपूर्णसमन्वय ॥ ५०७ ॥ **श्रियः समग्रायाः**—श्रीमाँश्च भगवान्वीरो, जन्मजन्मान्तरानुग। स्वीय. गणधरश्चेन्द्रभूतिस्तस्मै द्विजाय च ॥ ५०८ ॥ त्रिपद्यात्मकविज्ञानं, दत्वेत्थं द्वादशाङ्गकम्। चतुर्दशपूर्वज्ञानं, तस्मै श्रीगौत्तमाय च ॥५०९॥ पूर्वंवरश्रुतेऽपारपारीणं सुविधाय तम्। गणधर मुनिपुङ्गवं, कृतवान्सदयालयः ॥५१० ॥ यस्यानन्तज्ञानलक्ष्म्या, नेतुं लाभं च रोहक.। गाङ्गेयादिस्तदाख्यानं, स्यां पञ्चमाङ्गके ॥ ५११ ॥ कृतवाँस्तद्विशेषेण, ज्ञातव्यं सूत्रपाठकै। कि

तन्मुक्तावसङ्ख्याना, प्राणिनां श्रेपके पतौ ॥ ५१२ ॥ मुक्तौ श्रिय समग्राया, लक्षणेति समन्वये । निरूपणे तथाऽवश्यं, यत्न कार्यो विशेषत. ॥ ५१३ ॥ यश्च सद्रूपतश्चापि, वसुसम्पत्तितो *रह । सम्पत्तिमन्तं कृतवानिति जानीत ज्ञानतः ॥ ५१४ ॥ **वैराग्यस्य समग्रस्य**–चतुष्टयाऽनन्तसम्पत्प्रातिहार्य्याद्यनेकधा । धर्मसम्पन्नरूपसम्पत्कीर्तिसम्पत्तथाऽपरा ॥ ५१५ ॥ अष्टैव प्रातिहार्य्याख्यासुरवैभवसम्पद । एतावन्त्यो यत्र सन्ति, भगवत्यखिलेश्वरे ॥ ५१६ ॥ तत्राऽर्हस्त्र्योऽपि वैराग्यसम्पत्तिरुपबृंहिता । तथाऽनासक्तिसम्पत्तिर्वरीवर्ति स तत्र वै ॥ ५१७ ॥ [तदद्भुत चमत्कारं, को वा वर्णयितुं क्षम ॥] पुष्कळ भोगमासाद्य, तत्रोत्पद्य स्वयं प्रभु । पङ्कजं पङ्कजमिव, पृथगेव विभाव्यते ॥५१८॥ सेय तत्त्यागवैराग्यसम्पत्तिः सिद्धिदायिनी । विद्योतते भगवति, वैराग्यस्येति लक्षणम् ॥ ५१९ ॥ **मोक्षस्याथ समग्रस्या**पुनरावृत्तिरूपक । समन्वयो यथार्थ वै, जायते तन्निगम्यताम् ॥५२०॥ आचाराङ्ग तथा *व्याख्याप्रज्ञप्त्यादिरूपक* । **आधारभूतेतिहासाच्च, सिद्धं तन्निर्विवादतः** ॥५२१॥ महावीरभगवान् दीक्षादशात. पूर्वतोऽपि वा । पुद्गलस्यप्रबन्धेषु, पदार्थे बन्धने पुन ॥५२२॥ भावसयतयुक्तोऽभूत्रापेक्षा विद्यते विभो. । सर्वथा ते च मुक्त्यर्थं, सचेष्टा सन्ति भावत ॥ ५२३ ॥ सम्बन्धे चात्र चेतापरास्मन जातमल तथा । अनन्तचतुष्टयमाप्य, जात सिद्ध सकायिक. ॥ ५२४ ॥ जीवन्मुक्तोऽभवत्तत्र, विहितेयं तयाश्चिरम् । प्राणिनस्तस्य शरण, समायाताश्च येऽभिगम ॥ ५२५ ॥ सच तेभ्य सुमोक्षस्य, सम्प्रदायरहस्यकम । स्वसमास्ते कृतान्तेन, सम्प्राप्तु निर्वेपनम् ॥ ५२६ ॥ मुक्तिमूल पर स्थान, तदस्तीति विभावय । तत्र मोक्षसमग्रस्य, समन्वयप्रसक्षित ॥ कथ प्रश्नावकाश स्यादित्थं च बुध्यता [illegible] ॥ ५२७ ॥ अतो भगवते **मोक्षसमग्रस्य** समन्वय । षष्ठमलक्षणस्याऽयं, समन्वय [illegible] स्फुटम् ॥ ५२८ ॥ **अथोपसंहारः**–एवमुक्तपदार्थानाऽऽलक्षणानां समन्वयात् । सिद्धो जातस्तु जगति, "वीरस्तु भगवान् स्वयम" ॥५२९॥ [illegible] सर्वथा [illegible] , समदर्शी च वीर्यवान् । हितैषी सर्वजीवाना, तथाप्तोऽनन्तशक्तिमान ॥ ५३० ॥ [illegible] स एव स्याज्जगद्गुरुरितीरित । अनन्त[illegible] , [illegible] ॥ ५३१ ॥ 'गुकारस्त्वन्धकारस्तु, रुकारस्तु[illegible] । [illegible]निवारणे, गुरुरित्यभिधीयते" ॥ [illegible] गुरुशब्दस्य,

---

* [illegible] ॥

रुशब्दस्तन्निवर्तकः । मिलित्वा च द्वयोरर्थौ, गुरुरित्युच्यते बुधैः ॥ ५३२ ॥ अज्ञाननाशनाज्जातो, जगद्गुरुरथोच्यते । सर्व्वज्ञश्चापि सोऽत्रैव, "वीरस्तु भगवान्स्वयम्" ॥ ५३३ ॥ यतोऽन्यदज्ञाननाशं, कृत्वा च स स्वयं प्रभु । "जिन्नाण" मित्याद्यखिलो, न्यायस्तत्र सुघट्यते ॥ ५३४ ॥ रत्नत्रयस्वरूपस्य, "वीरस्तु भगवान्स्वयम् ॥" कारयित्वा ज्ञानमदो, देवगुर्वो रहस्यकम् ॥ ४३५ ॥ तथा धर्म्मरहस्यं च, सम्प्रकाश्य स्वयं प्रभु । सर्व्वसंसारमुक्तिश्च, मार्ग सवरनिर्ज्जरे ५३६ ज्ञापितोऽप्यस्ति यस्येत्थं, करणादनुभवस्य हि । मननध्यानमोक्षस्य, साधनाऽऽसक्तचेतस ॥ ५३७ ॥ जना हि निखिला सन्त , शीघ्रं प्रापुर्महात्मन । अतो हि भगवान्वीरो, भवस्यास्याखिलस्य च ॥ ५३८ ॥ कालेऽवसीर्पिणीसज्ञे, चतुर्विशतिसङ्ख्यक । तीर्थङ्करोऽन्तिमोऽप्यस्ति, गुरुर्वन्द्योऽखिलैर्नरै ॥ ५३९ ॥ तद्दर्शितोऽस्ति दशधा, व्याप्तो धर्म्मो दिगन्तरे । जैनधर्म स एवात्र, सर्व्वदा नाऽपर. क्वचित् ॥ ५४० ॥ इत्थं भगवतो महावीरदेवोपदेशत. । शुद्धभावेन परमस्तत्वनिक्षेपहेतुक ॥ ५४१ ॥ पदार्थं स्वात्मनीत्येव, कृत्वा सन्धानमेव च । तदागमस्य सिद्धान्तमार्गस्य मननं तथा ॥ ५४२ ॥ कुर्व्वन्ननुभवं तद्वच्छुक्लभावाविवेशनम् । गद्गदान्वितकण्ठेन, गायॅस्तद्गुणविग्रहम् ॥ ५४३ ॥ समयं मा प्रमादीश्चेति चर्यासमाहित । अमूल्यसमयं स्वस्य, यापयन्तु सुध्यानत ॥ ५४४ ॥ धन्य स एव लोकेऽस्मिन्कीर्तिमाँश्च सुधीर्गुणी । कुत स एप ससारे, स्याद्वादालङ्कृतो नर. ॥ ५४५ ॥ तद्धस्तगतं सर्वमैहिक शान्तिमत्पुन । जीवनोत्थ मोक्षरूपमपुनरावृत्तिसज्ञकम् ॥ ५४६ ॥ समुत्थानमयं लोके, चाक्षयं बन्धवर्जितम् । कुञ्चिका सैव विज्ञेया, अव्याबाधस्य धामनि ॥ ५४७ ॥ पञ्चाङ्केनवभूवर्षे, विक्रमार्कस्य सवति । मधुमासेऽथ धवले, पक्षे दशमीसत्तिथौ ॥ ५४८ ॥ निबन्धोऽयं समाप्तश्च, **श्रीपुप्प-भिक्षुणा** कृत । **श्रीमत्फकीरचन्द्रस्य, मुनेः** शिष्येण धीमता ॥ **ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसङ्घानुयायिना** ॥ ५४९ ॥

मङ्गलं भगवान्वीरो, मङ्गलं गौतमः प्रभुः ।
मङ्गलं स्थूलभद्राद्या, जैनधर्मस्तु मङ्गलम् ॥

शिवमस्तु सर्व्वजगतः, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोपाः प्रयान्तु नाशं, सर्व्वत्र सुखिनो भवन्तु लोकाः ॥ १ ॥

निर्वाहार्थं बहुक्रिया । परम्परया विज्ञानं, वोधयन्ति सदार्थिन ॥ १९ ॥ तथा परम्पराचक्रानुसारेणैव शिष्यका. । कुर्वन्ति ता क्रिया. शश्वन्नर्तनैर्नर्तनैर्मुदा ॥२०॥ अस्या दशाया केचित्तु, कदाचित्सुखवाञ्छया । प्राणिनश्चेदृशा सन्ति, येषा चित्तं न सुस्थिरम् ॥ २१ ॥ सन्तोष सुखसिद्ध्यर्थमसन्तोषादृशेदृशी । भद्रपरिणामवन्तो, जीवा सुखविवृद्धये ॥ २२ ॥ रक्तं स्वेदं च कुर्वन्ति, सदैकीभावमास्थिता' । रज प्रक्षेपणेऽप्येवं, न पृथग्भावमश्नुते ॥ २३ ॥ सुखं तत्साधनं तद्वत्समं ये चाप्नुवन्ति ते । नान्यथाऽभ्यन्तरोपायैर्दृश्यतामिह चार्थिभि ॥ २४ ॥ एवं प्रवर्तितं चक्रं, तदग्रे सफलीभवेत् । सत्यात्मकस्य सर्वस्य, सुखस्य साधनं बहु ॥ २५ ॥ समये प्राप्नुवन्त्येवं, न वाचेति सनातनम् । इत्थं दयामयी तेषा, स्थितिं प्रतिसुशक्यते ॥ २६ ॥ स्पष्टं ज्ञातुं स्थायिनं च, सुखं वास्तविकं पुनः । सत्यसाधनसञ्चारं, कर्तुमत्रात्यवश्यकम् ॥ २७ ॥ सत्यसाधनयोगो हि, सर्वोपरि विराजते । तथाऽद्वितीय संमान्यं, चमत्कारकर पुन' ॥ २८ ॥ अस्ति साधनकं पुण्यं, प्राप्यते तद्गुरोर्मुखात् । उपयोगे प्रकुर्वन्त , स्वल्पकालेन तत्सुखम् ॥ २९ ॥ अवश्यमेव लब्धव्यमखण्डमव्ययं ध्रुवम् । योगश्चैतादृशं वस्तु, न स्वयं ज्ञायते क्वचित् ॥ ३० ॥ योगयुक्तादात्मविद', कस्मादपि महात्मनः । ज्ञातव्यो विषयासक्ताज्ञाप्यते स हि योगिनः ॥ ३१ ॥ यश्चोदरभरो योगी, ससारासक्तचेतन. । वाह्यत साधुवद्वृत्तिस्तस्मै योगोऽस्ति दुर्लभ. ॥ ३२ ॥ एवं भूताद्योगिनश्च, नाप्यते योगसाधनम् । तस्माच्छास्त्रपरोयोगः, शिक्षणीयो महात्मन ॥ ३३ ॥ योगिनोऽद्य न लभ्यन्ते, भारते योगधारका. । पर प्रयासकरणाच्छोधव्या योगिनोऽधुना ॥ ३४ ॥ सुयोगाभ्यासतो नित्यं, समाधानेन चेतसा । अथवा दूरत स्थेयं, कंचिद्योगविदं जनम् ॥ ३५ ॥ समाश्रयन्तु येन स्यात्साध्यसाधनमुत्तमम् । परन्त्विदं कर्तव्यं, स्मरणं साधनं विना ॥ ३६ ॥ नाप्यते सत्सुख कैश्चिदिति जानन्तु साधका. । परन्तु स्वसमीपेऽस्ति, तत्सुखं स्वात्मनि स्थितम् ॥ ३७ ॥ अन्तर्दृष्टितोऽभ्यासाज्ज्ञापयन्ति सुखं परम् । येषा सनातनस्यैवं, सुखाभीष्टोपलब्धये ॥ ३८ ॥ योगसाधनवाञ्छा चेद्योजनीयं मनो मुहुः । योगस्य योगिनां चात्र, महत्त्वं परमोच्चकं. ॥ ३९ ॥ गीताया तच्च कृष्णेन, सर्वमुक्तं महात्मना । तपस्विभ्योऽधिको योगी, इति श्लोकेन वर्णितम् ॥ ४० ॥ अनेकधोपवासादितपो ऽतिदीर्घकम् । कृत्वाऽपि च न लभ्येत, योगी कश्चिन्महोदय. ॥ ४१ ॥ अतो योगी महानस्ति, सर्वतो भारते कलौ । नयनिक्षेपदेवादेरायुष्यभङ्गकं तथा ॥४२॥

लब्धवान्नूनं, पदं महात्मनां ध्रुवम् ॥ ६६ ॥ "सोवागकुल" मभृतश्चेत्युक्तं मुनि-पुङ्गवै । तदाशयोऽयं विज्ञेयश्चाण्डालकुलसंभव ॥ ६७ ॥ हरिकेशी मुनिर्जात, सर्वोच्चे पदवी गत । उत्तराध्ययने प्रोक्त, "सक्खं खु [चेति] दिस्सइ" ॥६८॥ तदर्थोऽयं च विज्ञेयो, योगमाहात्म्यमुत्तमम । प्रत्यक्षं दृश्यते यत्र, नास्ति जाति-विचारणा ॥ ६९ ॥ हरिकेशी योगी चाण्डालो, जात्या चासीत्त्रिशेषत । परन्त-योगवृद्ध्यङ्गे, सर्वनेत्रं पिनष्टि च ॥ ७० ॥ तामसीवृत्तियुक्ताना, योगसिद्धि कदा-चन । भवितु शक्यते तस्माद्योगो योगविजानताम ॥ ७१ ॥ घृतक्षीरादिकं नित्यं, भोजनं सात्विकं वरम् । भगवता कृष्णचन्द्रेण, गीतायामुक्तमीदृशम् ॥ ७२ ॥ सात्विकाना जनाना तु, रसयुक्तं मृदु स्थिरम् । हृद्य भोजनमाख्यातं, सात्विकं प्रियमात्मन ॥ ७३ ॥ आयुष्यबलबुद्धीना, वर्द्धनं जायते यत । परन्त्वविकृति-क्ताना तैलादीना न कारयेत् ॥ ७४ ॥ तामसाना पदार्थानामुपयोगं कदापि न । नात्यन्त च कटुं तीक्ष्णं, न चाम्लं तिक्तभोजनम् ॥ ७५ ॥ परिहरेद्दूरतो योगी, नाम सयोगसाधने ॥ ७६ ॥ रतश्चावश्यकत्वे हि, नाधिकं वचनं वदेत् । प्रयोजनं विना योगी, मौनमेव समाश्रयेत् ॥ ७७ ॥ अन्यथा वाग्व्यये जाते, विकारत्वं प्रपद्यते । योगे विचारतो ब्रूयादिति योगविदो विदु ॥ ७८ ॥ योगसाधननि-ष्ठाना, पुरुषाणा महात्मनाम् । सकाशात्सर्वक्रिया ज्ञात्वा, तथा तत्तालिका यतिः ॥ ७९ ॥ योगसिद्ध्यै पवित्रे च, तथैकान्ते विनिर्जने । देशे योगक्रिया शिक्षेदथवा गिरिगव्हरे ॥ ८० ॥ एकान्तातिरिक्ते च, स्थाने नैव प्रसिध्यति । अत प्राचीन-कालीना, पुरुषा बहवो मुहु ॥ ८१ ॥ यत्रासन्सात्विका वृक्षा, लतागुल्मादिस-वृता । पर्वतास्तद्गुहाश्चापि, तथा सुखकरा पुन ॥ ८२ ॥ तत्राभ्यस्तवन्तस्ते, योगसाधनिकाक्रियाम् । यत्रातिसात्विका शश्वद्वनस्पत्यादयस्तथा ॥ ८३ ॥ महा-त्मना शुद्धरज कणिका पतिता भुवि । वातावरणकं चैव, तत्र स्थानं प्रकल्पयेत् ॥ ८४ ॥ तत्र स्थले निवसता, चञ्चलत्वं विहाय च । मन शान्तं भवेन्नित्यं, तत्रैव वसता नृणाम् ॥ ८५ ॥ अतस्तत्स्थानक तेषामनुकूलं सदा प्रियम् । यत्सुखं राजभवने, धर्मयुक्ते तथा पुन ॥८६॥ स्वप्नेऽपि नाप्यते तच्च, सुख नान्यत्र कर्हि-चित् । आनन्दानुभवं कुल्हशिमलादिप्रदेशके ॥८७॥ हंसतीर्थे हिमागारे, गमने यच्च भ्यते । नान्यत्स्थले कदापि स्यादानन्दानुभवस्तथा ॥ ८८ ॥ योगिनामिति , स्थानेषु वसनं वरम् । कारणेन कदाचिच्चेत्तत्स्थानं नोपलभ्यते ॥८९॥ तदा व, ग्रान्तगे रमणीयके । वनस्पतिसमायुक्ते, वस्तव्यं च शुचिस्थले ॥९०॥

योगाभ्याससमसिद्धिस्तत्रैव खलु जायते । यत्सुखं वीतरागस्य, मुनेरेकान्तवासिन· । तत्सुख देवराजस्य, चक्रिणो न कदाचन ॥ ९१ ॥ नासनेन विना सिद्धिर्जायते न रजोवृते । रह स्थाने चेदासनस्य, ज्ञेयमावश्यकं मुहु ॥ ९२ ॥ दर्भासनं प्रशस्तं स्याद्योगिना च मुदे पुन । कम्बलेन तदाच्छाद्यं, सर्वथा योगधारकै । एतादृशे साधकानामासने शक्तिरुज्वला । जायते ननु कायस्य, विद्युत्कोटिसमप्रभा ॥ ९३ ॥ बुद्धिरत्युत्तमा वेति, नो विशेत्सूत्रकासने । तत्रासने साधनत्वे, योगो निष्फलता व्रजेत् ॥ ९४ ॥ भगवत्यादिसूत्रेषु, प्रोक्त दर्भासनं शुभम् । **'दब्भ संथारगं'** चेति, सूत्रार्थैनोपवर्णितम् ॥ ९५ ॥ गणधरस्य मुनेश्च, गौतमस्य तथा पुन । केशिस्वामीत्यादिना च, स्वागतार्थं समाहितम् ॥ ९६ ॥ आगन्तुकेभ्यो नितरां, सुदर्भासनमेव हि । प्रदत्त चोपवेशार्थमित्येव च तदासनम् ॥ ९७ ॥ प्रशस्तं सर्वासनेभ्यो, सुदर्भासनमुच्चकै । जैनाना च तथा रीतिरेषा दर्भासनार्पणे ॥ ९८ ॥ तदभावे प्रशस्तं स्यात्कम्बलासनमेव च । दर्भासनोपरिष्टात्तु, कम्बलासनमिष्यते ॥ ९९ ॥ तत पद्मासनं बद्धा, मनसोऽप्यनुकूलत । पुनरासनेदृशे च, साधनं समुपविश्य च ॥ १०० ॥ साधयेच्छुद्धमनसा, योगं योगस्य सिद्धये । दिशि पूर्वे चोत्तरे च, मुख कृत्वा समभ्यसेत् ॥ १०१ ॥ तदेवोक्तं **'पुरत्थाभिमुहे'** **'सपलियंकनिसण्णया'** इत्येवं कथितं सर्वमासनं क्रमतो जिनै ॥ १०२ ॥ कमलाख्ये वा पर्यङ्के, स्थित्वा चाप्युत्तमासने । मुख पूर्वदिशि कृत्वा, वामहस्ते च दक्षिणम् ॥१०३॥ कर धृत्वा कटिं तद्वत्कण्ठे चैवं च मस्तकम् । सदैकपंक्तौ सस्थाप्य, साधयेदप्रमादत· ॥ १०४ ॥ स्थाप्यं श्मश्रुविभागेऽधो, हनौ स्वन्तर्गते पुन । ईदृगासनमारूढो, योगी याति परं शमम् ॥ १०५ ॥ प्रातर्दिनान्ते च पुनर्निशाया, पूर्वे परे याममये च काले । मध्याह्नवेलासुसमाहित सन्, योगी सदाऽनेन सदासनेन ॥ १०६ ॥ करोतु योगस्य सुसाधनं वै, यथेकयामान्तसुखेन योगी । भूत्वा स्थिरो जातु सदा सुशक्यस्तदा च ज्ञेया विजयोपलब्धि· ॥ १०७ ॥ जातासने चासनसिद्धिरस्मा, विनासनाद्धि विजयो न योग । सिद्धयेत्पथो प्राणशरीरवृत्तौ, तदा सुदृष्टौ विजयोऽपि लभ्य· ॥ १०८ ॥ प्राणेन्द्रिये वापि तनौ सुदृष्टौ, प्राप्नोति योगी विजयं समन्तात् । सदेत्थमेवं च विना न योगमात्मोपलब्धिर्भवतीति ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥ अतो नितान्तं श्रमतो गुरोश्च, युक्तेर्विशेषेण च प्रापणीय । जयोऽप्यजस्र खलु स्वासनस्य, जानन्तु सर्वे मुनयो नितान्तम् ॥ ११० ॥ जितासनानन्तरमेव शश्वद्यमादिनियमादिजयोऽपि लभ्य । जितासनानन्तरसाधकेन, सल-

भ्यतेऽनेकक्रियाविशेषा ॥ १११ ॥ जित्वासनं दृष्टिजितार्थमेवमत्यन्तमावश्यकपूर्ण-भावात् । दृष्टेर्जयस्येदमवेहि लक्षणं, नेत्रापिधानं न भवेद्धि पूर्वम् ॥ ११२ ॥ निमेषमेषैर्भवतीह दृष्टिस्तेनैव योगस्य फलं प्रदिष्टम् । योगेऽस्ति यत्राटकसंज्ञकं च, सूत्रेष्वपि प्रोक्तमथेतरत्र ॥ ११३ ॥ उन्मेषमेषायतिरिक्तभावे, प्रमाणमासंलभते मुहुश्च । ससिद्धये त्राटकमुद्रयार्थं, जितार्थमीदृक् खलु दृष्टिपुष्टे ॥ ११४ ॥ प्रात-र्दिनान्ते च सुसिद्धसाधकः, स्थित्वाऽऽसने प्रोक्तयथेष्टमावनम् । स्वत. सपादात्क-रतस्तथान्तरे, निर्माय तूलं मृदुल सगोलम् । सस्थापनीय परितो यथेष्टम् ॥११५॥ विनासनेनेति च योगसिद्धिं, योग विना नाऽऽसनसिद्धिमेति । द्वयो श्रमाद्दृष्टि-निरोधनं स्याद्दृष्टेर्निरोधात्तु समाधिसिद्धि ॥ ११६ ॥ समाधित आत्मसुखोपल-ब्धिस्ततो मुमुक्षु समुपैति मुक्तिम् । मुक्तौ सदा ब्रह्मणि लीनभावे, जगद्विलीने च विभाति योगी ॥ ११७ ॥ तद्गोलके दृष्टिरुपासनीया, किञ्चिच्च काले हि यदाश्रु-पात । नेत्राद्विनिर्गच्छति चेत्तदाश्रुपातो यदाऽऽरम्भविकल्पकाले ॥ ११८ ॥ तदा त्राटक मोचयेत्सर्वकाले, यदा स स्थिरत्व भवेत्कायमध्ये । सदैवं मन शान्तभावं प्रयाति, मुनेर्योगतो वाऽचला बुद्धिरेका ॥ ११९ ॥ चतुर्दिनान्तेऽष्टदिनान्तराले, सम्प्रोक्षयेदश्रुकलानिपातम् । न लोपनीयं किल त्राटकं च, श्रमो विधेयश्च सदे-दृशोऽपि ॥ १२० ॥ न स्यात्कदाचिन्नयने पिधाने, कृते प्रयासे यथा शान्तिरुग्रा । समृद्धिर्भवेदनुदिनं चेत्सदा स्थापनीयं, प्रवृत्तिर्यथा स्यात्सुयोगे मुनीनाम् ॥ २२१ ॥ यदैका घटीतोऽधिका पक्ष्म पंक्तिर्निरुद्धा भवेच्चेत्तदा नूतनानाम् । महाश्चर्यरूप सुवार्तान्विताना, दरीदृश्यते योगिवर्य्यैर्मुनीन्द्रैः ॥ १२२ ॥ यदा यदैव च प्रयाति वृद्धिस्तदा तदा तस्य च साधकस्य । सदानन्दप्राप्तिर्भवेदंशकेऽपि, विचार्य महद्भि· सदैवं विरागै. ॥ १२३ ॥ यदा यदा जेष्यति दृष्टिपातं, ततस्ततस्तन्मनसोऽपि शान्ति । सञ्जायते दृष्टिजये मनोपि, शान्तं जयश्चापि भवेद्धि तस्य ॥ १२४ ॥ नेत्रान्तरे पक्ष्मपङ्क्तौ नितान्तं, सुसस्थापयेद्दृष्टिरेवं विचारात् । अत सर्वसूत्रे प्रयुक्तं च तद्वन्मुहु पुद्गले दृष्टिपातो विधेयः ॥ १२५ ॥ शुभं त्राटकं यस्य जातं स योगी, सुसम्यक्त्ववतत्वे विलीनो विभाति । निरस्याखिला भावना पौद्गलीयां, सदा प्राणिना प्राणरक्षा विधत्ते ॥ १२६ ॥ मुदेत्थं क्रिया ध्यानयोगस्य नित्यं, महापुरुषतः शिक्षणीया प्रयत्नात् । सुदृष्टेर्जयाभ्यासमेत्यैकघटासुपर्य्यन्तमन्यत्र ॥ ॥ १२७ ॥ दिनस्यादिभागे गिरेः कस्यचिद्वा, जनोऽप्यूर्द्ध्वभागेऽथवा ।पर्न८ । सुदृष्टिर्निशाया शशाङ्के सितस्य, कुजस्याथ तारासु सस्थापनीया

॥ १२८ ॥ अयञ्च प्रयासो यदा वृद्धिमेति, प्रकृतिप्रत्येकं पदार्थान्तरेऽपि,। तदा प्रेमवृद्धि· प्रयात्येव नूनं, तथा सृष्टिप्रत्येकमंशेऽपि ज्ञेया ॥ १२९ ॥ मुदा वीत· रागत्वमुत्कृष्टताया·, प्रभावस्य स्यादूर्तनं योगसिद्धौ। प्रयत्नोऽपि स्यादुत्कटत्वेन शश्वत्तदानीं मुहूर्तान्तमुत्थापनीय· ॥ १३० ॥ तत· सृष्टिभागेऽपि स्याच्चेत्सुदृष्टिः- सुख स्थापयित्वा च तत्रैव सृष्टि। स्थिरीभावमागत्य कायस्य स्वस्य, स्वपिण्डादिभिः, सृत्य दु ख पुनश्च ॥ १३१ ॥ मुहुः प्लायते तादृशावस्थया, सुखं साधके नाप्यते शीघ्रत। प्रभुनाम्नो मुहुर्भावनानामकं, जपं प्रेमतो योगजन्यं पुन ॥ १३२ ॥ तदा प्रारभेतेच्छया शब्दकोच्चारणं ॐ नमो जापमेवं जपेत्। अनेनार्हदेवं भजे- त्प्रेमत ; सर्वकाले तदा ॐ पदं लुप्यते, पुन· शश्वदेव स्वयं नामत· ॥ १३३ ॥ ततश्चात्मनि प्रेमतश्चार्हति, प्रभावैकाकारासुवृत्तिस्तत। स्वयं सक्षणं जायते प्रेमतो, यथा चावकाशं परं तत्वत· ॥ १३४ ॥ चलंश्चोपशान्त्या भ्रमन्वा विशन्सदोत्तिष्ठ- मान शयानोऽपि च। तथा जाग्रतो भुञ्जमानश्च तन्न ध्यानं कदाचित्सरेत्कायतः ॥ १३५ ॥ निशान्ते दिनान्ते च मध्यान्हके, निशाया सुयोग क्रियामारभेत ॥ सदाऽजापजापं जपेत्सस्मरन्नेकतो योगद्वारैव सद्भावना, दृढत्वं भवेद्योगतो नान्यतः ॥ १३६ ॥ जापमेवं जपेत्प्रेमभावेन च, तथा हि द्वयं साधनं सर्वतो। मिलित्वा मन शान्तभावं व्रजेन्मनोऽश्वो भयंकारको दु खद ॥ १३७ ॥ तथा साहसाधाररूपं भवेन्मनो रूपकाश्वस्तथा चेन्द्रियं, घोटकोऽस्ति बलिष्ठ इति ज्ञायता, पर चेदृशेन प्रयासेन च ॥ १३८ ॥ ततो मत्तता याति तेषां वहि। ततस्ते भवेयु· प्रशान्ताः पुन· ॥ ततश्चेदृशेन प्रकारेण च, भवेत्साधकाना विवेकान्विता ॥ १३९ ॥ तथैव च दृष्टिश्च सूक्ष्मा मुहु, सहैवानयेदात्मिकानन्दकम्। इदं साधनं स्याच्च सन्तोषकहेतुस्तदा साधका स्वस्य च, प्रवृत्ति निवृत्ति च सपश्यत ॥ १४० ॥ आत्मानं सारथिं विद्धि, शरीर रथमेव तु। इन्द्रियाणि हयानाहुर्मनः प्रग्रहमेव च ॥ १४१ ॥ परावृत्य यत्त्राटकं वाह्यवृत्त्या, कृतं तच्च कुर्वन्तु वाऽभ्यन्तरीया। शुभं त्राटकं दृष्टितो योगसिद्ध्यै, भवेद्योगिना साधने सम्प्रवृत्ति· ॥ १४२ ॥ श्वासोच्छ्वासकयोर्दृष्टि, पूर्वं स्थाप्या प्रयत्नत। वहिर्याति यदा श्वासस्तदा 'सो' शब्द इर्य्यते ॥ १४३ ॥ जाते चाभ्यन्तरे शश्वदहं शब्द· स्वभावत। जायते च द्वयो- र्योगे, '**सोह**' मित्युपयुज्यते ॥ १४४ ॥ जाप विनैव संसिद्ध्येदजपाजापमुत्तमम्। तेनैवाथापवर्गस्य, प्राप्तिर्भवति योगिनाम् ॥ १४५ ॥ ध्यानेन तत्र सम्पश्येद्यदा श्वासोऽभिजन्यते। यत्र लीनो भवेच्छ्वासस्तत्र वृत्तिप्रयासत· ॥ १४६ ॥ स्थापये-

दाभ्यन्तरीयमेव पूर्व समाश्रयेत् । प्रयासे चैकदैवात्र, शान्ति मन्दश्शते रहः ॥ १४७ ॥ आभ्यन्तरीयाऽऽनन्दश्च, स्याद्वृद्धिश्चोत्तरोत्तरा । मिलित्वाऽहर्निशं चैकविंशत्याख्यसहस्रकम ॥ १४८ ॥ षट् शतं च तथा शश्वच्छ्वासोच्छ्वासश्च जायते । तेषूपयोगमन्तरा, श्वासो नैकोऽपि हापयेत् ॥ १४९ ॥ 'सोहं' जापजपे जाते, वृत्ति सस्थीयते स्वयम् । तत्र श्वासे विनाऽऽयास, राहमैव विनिश्चया ॥ १५० ॥ श्वासकस्यात्मनोत्थ च, ध्याने सिद्धे सुसाधक । हृदयाब्जे मध्यगता, वृत्तिं सस्थापयेन्मुहु ॥ १५१ ॥ प्रयासोऽपि प्रकर्तव्य, इति योगविदा क्रिया । ज्ञातव्या योगिवृन्दैश्च, यत स्यादचला क्रिया ॥ १५२ ॥ स्थिरेव स्याद्यदा वृत्तिर्हृदयस्याऽप्यलौकिकम् । शान्तस्रोत प्रवहति, हृदब्जेभ्य समन्तत ॥ १५३ ॥ यस्य शान्तिमयस्याशु, साधकस्यावसानत । इतोपि पूर्व कस्यापि, सन्निधावनुभवस्तथा । न जातश्च तथा ध्यानं, सिद्धं वा हृद्गतं पुन ॥ १५४ ॥ नाभ्येकदेशेऽपि विधारणीया, वृत्तिश्च तत्रत्यसुसिद्धिभावे । जात. पुनस्तद्धृदये च नीत्वा, कण्ठस्थमध्येऽपि तथा समाप्य, सस्थापयेनैव विचारणात्र ॥ १५५ ॥ नाभ्या हृदिस्थे च सुकण्ठगे वा, ततस्त्रिकुट्या परिधारणीया । वृत्तिश्च सर्वत्र सुसाधकेन (सस्थापनीया), ततश्च शान्तिर्मनसस्त्रिलोक्याम् ॥ १५६ ॥ ध्याने च सिद्धे स्थिरवृत्तिरेवं, जाता तदा तत्र मसूरसूपवत् । स्याद्विन्दुसाक्षात्करण ततश्च, तद्विन्दुतेजोऽथ प्रकाशते च ॥ १५७ ॥ तद्दर्शने साधकयोगवेत्तुरपारमानन्दसुखं प्रयाति । ततश्च तद्विन्दुअदर्शनेन, योगेन योगामृतसेवकानाम् ॥ १५८ ॥ तदा कपालेऽखिलविश्वदर्शनं, सञ्जायते कारणमस्ति तत्र । यत्र स्थिते वर्तुलविन्दुदर्शनं, योगी जन पश्यति सर्वदेत्थम् ॥ १५९ ॥ तदा त्रिकुट्या शशिलाञ्छनेन, द्वारैव विन्दोरवलोकनं स्यात् । तद्दर्शनानन्तरसाधकाना, भवत्यपूर्वा किल बोधिलब्धि ॥ १६० ॥ जनेर्जरामृत्युविनाशनस्य, भवेत्सुकल्पास्थितिरत्रबोध्या । विन्दोश्च सन्दर्शनमेव यत्र, श्रीशङ्करानन्दतृतीयनेत्रम् ॥ १६१ ॥ आत्माऽखिल शङ्कर एव नान्यस्तत्सदृशं नेत्रद्वयं यतोऽस्ति । विंदोश्च सन्दर्शनरूपमुग्रं, ज्ञानात्मक चक्षुरियं तृतीयम् ॥ १६२ ॥ जाते सुविन्दोरवलोकने च, मृत्योर्भय नास्ति सुसाधकानाम् । तथैव ससशयशल्यनाशो, भवेच्च योगामृतसेवकानाम् ॥ १६३ ॥ एतस्य बोधार्थमिदं वदन्ति, ह्युद्घाटनं शम्भुतृतीयनेत्रम् । तदा जगत्सशयशल्यरूपं, लयं व्रजेत्सर्वमिद प्रधार्य्यम् १६४ ॥ विन्दोस्त्रिकुट्यामवलोकनान्तर, यथा यथा साधकसज्जनानाम् ॥ स्याच्चेत्प्र- हि विशेषतो मुदा, तथा तथा विन्दुविशेषता च, विकाशते सर्वमयी विदां

मुदे ॥ १६५ ॥ अन्ते च विन्दावतिलीनभावं, व्रजेच्च सिद्धं प्रतिभाति योगी। शान्तौ च नादानुभवं च याति, विन्दोरपेक्षा तु विशेषनादे ॥ १६६ ॥ श्रीविन्दोरवलोकनेऽनुदिवस जाते ततश्चैधते, शक्तिर्योगधियां ततश्च श्रवणं नादस्य जञ्जन्यते। पश्चादात्मसुखं स्वय विलसति श्रीसाधकाना ततो, वैव शून्यगुहा निबद्धमनसा मुक्तिः कराब्जे स्थिता ॥ १६७ ॥ नादोऽनेकविधोऽस्ति शास्त्रविहित संश्रूयते योगिभिर्घण्टानादसमस्तथास्ति निनद शङ्खस्य वीणारवः। वेणूत्तालरवश्च चक्रसदृशं शार्ङ्ग्यादि शब्दस्तथा, एवं विन्दवलोकनादनुमुहुर्नाद समुत्पद्यते ॥१६८॥ योगामृतस्य पानेन, नादस्य श्रवणात्पुन.। विन्दुदर्शनतो योगी, जरामरणवर्जित ॥ १६९ ॥ नादानन्दे समुत्पन्ने, विन्दुर्गौणतमो भवेत्। नादस्य चाविशेषेण, जायते श्रवणं मुहु. ॥ १७० ॥ घनगर्जनतोऽन्यूनं, श्रूयते गर्जनं वहु। दिव्यनादप्रभावेणाऽप्यन्ते योगी प्रलीयते ॥ १७१ ॥ नादे ध्वन्यनुभवस्य, सर्वाधिक्येन वर्धनम्। तदा स्यात्साधकजनो, भ्रमणे चलने तथा ॥ १७२ ॥ उपविश्यासने चैवं, स्थितः सर्वक्रियासु च। नादानुभवमेवास्ति, नान्यो भाति विशेषत ॥ १७३ ॥ नादानुभवतो लोके, सङ्गीतस्य प्रचारक। योगिभिश्च कृतोऽजस्र, यथा नाद. प्रियंकर ॥ १७४ ॥ मुञ्चन्ति रोदनं बाला, क्रोधं मुञ्चन्ति पन्नगा। मृगा प्राणान् विमुञ्चन्ति, **नास्ति नादसमो रसः** ॥ १७५ ॥ साधकाना तथा लोके, सङ्गीतोऽतिप्रियकर। अत सङ्गीतगानेन, मनोधृत्वा सदैकताम्। साधक प्रव्रजेच्चाग्रे, शनैर्नूनं प्रयासत ॥ १७६ ॥ वस्तुतो नादो वाद्योऽभूत्सङ्गीतस्य प्रसाधने। वाद्यनादस्य द्वारेणाऽभ्यन्तरो नादमेलनात् ॥ प्राप्तुं च शक्यते योगी, नात्र कार्यं विचारणम्। यदा साधकजनो नादैर्वृद्धिमेति तथाग्रत ॥ १७८ ॥ तदा तस्य च यत्राऽभून्नादोऽनुभवमेव हि। तदा भ्रमरगुहाया तु, शङ्खाकार प्रतीयते ॥१७९॥ तदूर्ध्वं प्रेमभावेन, चैक शुद्ध' प्रदृश्यते। तस्य शिखरमध्ये तु, महानेको विराजते ॥ १८० ॥ ततश्चोर्ध्वं पश्येद्भ्रमरसुगुहा यत्र रवित, शशाङ्कादग्नेर्वाऽप्यधिकबहुतेजोऽस्ति विततम्। तदा विन्दोर्नादश्रवणविलयं यात्यनुदिनं, सदा योगी लीनो भवति नितरा यत्र सुखत ॥ १८१ ॥ तस्य चानुभव नित्य, कुर्याद्योगी विशेषत। प्रकाशकपदार्थोऽय, वर्तुलाकार इष्यते ॥ १८२ ॥ अधो मुखातपत्रेण, समं सम्भ्राजते यत। छत्राकारमिदं तद्वत्सहस्रदलसवृतम् ॥ १८३ ॥ सिद्धिशिलास्पकेऽत्राऽजरामरणचक्रके। शिरोऽग्रभागलोकस्य, चाग्रभागोपरिस्थितम् ॥ १८४ ॥ अजरामरचक्रेऽत्र, वृत्तिलीनादनन्तरम्। साधकानामखण्डं चाऽ-

लौकिकानन्दमेव च ॥ १८५ ॥ योगिनोऽनुभवन्तीत्थं, वर्द्धते तदहर्निशम् । यत्र योगात्मनो लीना, भवन्त्यधिकतो मुहुः ॥ १८६ ॥ अपूर्वाऽऽनन्दसन्दोहाऽनुभवो वर्द्धते स्वयम् । आशरीरे (अखिले) स्वयं तस्य, प्रसारो जायतेऽसकृत् ॥ १८७ ॥ अर्थादानन्दसन्दोह, स्वयं सर्वाङ्गकेऽसकृत् । अलौकिकाऽऽनन्दरूपं, स्वयं स्फूर्त्या विभाव्यते ॥ १८८ ॥ अवस्थयाऽनया यो हि, रूपं साधकसंज्ञकम् । विहाय योगी सिद्धश्च, विदेहोऽपि तथा पुन ॥ १८९ ॥ महात्मा जीवनमुक्त, कथ्यते योगवित्तमै. । महात्मनश्चेदृशस्य, देहादृष्टिर्यदा स्थले ॥ १९० ॥ यत्र यत्र प्रसरति, तत्र तत्राऽप्यलौकिकम् । दिव्यानन्दानुभवनं, करोति साधकोत्तमः ॥ १९१ ॥ जनपदे जले स्थले, तथा वसुमतां स्थले । राजस्थले पशुमये, गगनादिसुखस्थले ॥ १९२ ॥ एतत्स्थानेषु साधूनां, दृष्टिर्याति महात्मनाम् । तत्र तत्र स्थले नित्यमानन्दानुभवात्मकम् ॥ १९३ ॥ सर्वत्राऽभेददृष्ट्या च, तथाऽनुभवतः सदा । द्वैतभावस्य भ्रान्तेश्च, जातेऽभावे स कथ्यते ॥ १९४ ॥ तादृशो वीतरागश्च, योगी भवति निश्चल. । कृतकृत्योऽपि सिद्धश्च, जायत आत्मवत्सलः ॥ १९५ ॥ योगिनामीदृशाना च, दर्शनं लोकपावनम् । कुरुते सततं योगादग्रे चैव निशम्यताम् ॥ १९६ ॥ यथाऽभ्यन्तरवृत्तीना, द्वारेणापि प्रयोगके । सम्बन्धे ज्ञायते तद्दृष्ट्या स वाह्यभागत ॥ १९७ ॥ नामेरुपरिभागे च, स्थापनीयो विशेषत । यदा तत्र प्रयासे तु, चक्षुषो नाभिमध्यगे ॥ १९८ ॥ अत्युज्वलतमं तेजो, दृश्यते चानुरूपत· । तदा नाभिगता दृष्टिं, विहाय वक्षसोर्मुहु· । स्थापनीया प्रयत्नेन, मध्यभागे सुभावत ॥ १९९ ॥ तत्तेजो नासिकारन्ध्रे, स्थापनीयं च ध्यानत । नासिकाग्रात्त्रिकुट्या तु, ततो भ्रमरगह्वरे ॥ २०० ॥ अजरामरचक्रस्य, सिद्धा सिद्धशिलासु च । ततोऽप्यनुभवे गच्छेत्तन्मार्गे च प्रवर्तते ॥ २०१ ॥ भक्तेरेवं महत्त्वं च, साधनं जन्यते परम् । भक्त्या चोत्पद्यते प्रेम, तेनैवात्मा प्रदृश्यते ॥ २०२ ॥ कस्यचिच्छास्त्रतत्वस्थश्लोकोपरि विचारणम् । कुर्वन्कुर्वंश्च गम्भीराशयं चोत्तीर्यते पुन ॥ २०२ ॥ तद्वाराग्रतश्चापीह वर्धते तन्निशामय । एकास्ति रीतिरीदृशी, यत्र पद्मासने स्थित ॥ २०३ ॥ विचारयति यत्किञ्चित्तटे स्थित्वा प्रपश्यतु । परन्तु नावरोधव्यो, विचारो योगसाधने ॥ २०४ ॥ अभ्यासवलमासाद्य, स्वयं शान्तिर्भवेत्पुन । विचारधारा चात्यन्तमेकदैव प्रशाम्यति ॥ २०५ ॥ विचारशान्तित पश्चात्साधकानामलौकिकम् । आनन्दानुभवो याति, ततोऽखिलभवोपरि ॥ २०६ ॥ प्रेमदृष्टिर्विशाला स्याद्भावं सर्वत्र सदृशम् । स्थापयत्येव योगात्मा,

स्वयं स्वस्मिन्प्रजायते ॥ २०७ ॥ भावनोदयते शश्वत्सिद्धेषु प्रेमवर्धिनी । यदा यदा प्रयासश्च, वर्धते च तदा तदा । आभ्यन्तरे विशेषेणानन्दस्य जागृतिर्भवेत् ॥ २०८ ॥ मूलाधारं समुद्घाट्य, चक्रं चक्रान्तरं नयेत् । नाभ्या वक्ष स्थले कण्ठे, त्रिकुट्यामलिगह्वरे ॥ २०९ ॥ शिखरस्थगुहान्ते च, ब्रह्मरन्ध्रे मेलयेत् । भित्वैवं ब्रह्मरन्ध्रं च, योगी निर्वाणता व्रजेत् ॥ २१० ॥ न ह्येतावन्मात्रं हि, प्रत्युत वाह्यतोपि वा । आनन्दस्यैवानुभवो, जायते नु क्षणं पुन ॥ २११ ॥ पूर्णानन्दमयश्चान्ते, भूत्वा सर्वत्र भावना । ईश्वरे स्थापयेन्नित्यं, भूत्वा प्रेमप्रयोगत. ॥ २१२ ॥ पश्येदहर्निशं नित्यं, महानन्दो विकासने । वीतराग-स्ततो याति, विज्ञेयं योगवित्तमै. ॥ २१३ ॥ पूर्वोक्तप्रकारेण, प्रमाणमनुसारत. । साधकार्थं स्वल्पमयी, प्रक्रिया कथितार्थिभि ॥ २१४ ॥ एवं विचारकरणा-त्तथोक्तस्य प्रकारत. । भवेदलभ्यलाभश्च, मननात्स्मरणादपि ॥ २१५ ॥ तथा-ऽपरिमितं चेत्थं, सामर्थ्यं लभते मुहु । अत्यन्तो योगविषयो, विशालो गहनस्तथा ॥ २१६ ॥ विना गुरुपदध्यानान्न कश्चिद्योगसाधक. । योगं शिक्ष-यितुं योगी, न भवद्योगवित्तमम् ॥ २१७ ॥ योगश्चतुर्विध. प्रोक्तो, मुनिभिस्तत्त्व-दर्शिभि. । हठयोगो मन्त्रयोगो, लययोगस्तथैव च ॥ राजयोग इति ख्यात-श्चतुर्धा योगसाधने ॥ २१८ ॥ यमो नियमश्चासनं, प्राणायामस्तथा पुन । प्रत्याहारो धारणा च, ध्यानं चैव समाधिक ॥ २१९ ॥ स चेत्यष्टाङ्गयोगोऽस्ति, विज्ञेयो मुनिभिर्मुदा । तत्रास्त्यपेक्षा चैकस्य, उत्तरोत्तरत. पृथक् ॥ २२० ॥ प्राणायामो वहुविधो, दृश्यते योगशास्त्रके । तदवान्तरभेदश्च, कथ्यते शास्त्रसम्मतः ॥ २२१ ॥ परन्तु तत्र मुख्योऽस्ति, पूरक कुम्भकस्तथा । रेचको भस्त्रिकाद्यस्ति, प्राणायामोपयोगकम् ॥ २२२ ॥ प्राणायामसहायार्थं, नेतिर्धौतिश्च नौलिका । वस्ति कपालभातिश्च, गजकर्णीत्यादिरस्ति च ॥ २२३ ॥ प्रक्रिया हठयोगस्य, वक्ष्य सन्ति पृथक् पृथक् । नासिकारन्ध्रत सूत्रं, प्रवेशान्तर्वहि पुन ॥२२४॥ मुखाग्नि-सारयेद्बाह्यं, नेतिः सा कीर्त्यते बुधै. । वस्त्रमुत्तार्य जठरे, मल निस्सार-येद्वहि ॥ २२५ ॥ धौति क्रिया च कथिता, योगे साहाय्यकारिणी । भ्रामयित्वा नल योगी, नित्यंप्रति मुहुर्मुहु ॥ नोलिक्रियेयं सम्प्रोक्ता, योगाभ्यासविशारदैः ॥ २२६ ॥ गुदास्थानगत तद्वन्मलं सम्मार्जयेद्वहि. । वस्तीक्रियेति विज्ञेया, योग-सिद्धिकरी मता ॥ २२७ ॥ कपालभातिर्विज्ञेया, गजकर्णी तथैव च । हठयोगे क्रियाश्चैता, योगविद्भिर्निदर्शिता ॥ २२८ ॥ खेचर्येका महामुद्रा, सर्वमुद्रोत्तमा

मता । तथा वन्धत्रयं प्रोक्तं, योगसाधनकर्म्मणि ॥ २२९ ॥ खेचरीति महामुद्रा, महावन्धकरी तथा । वज्रमुद्रेति तिस्रश्च, मुद्रा· प्रोक्ता· सुसाधकै ॥ २३० ॥ ताश्च मुद्रा महायोगी, गुरुदेवप्रसादत । ज्ञातुं शक्नोति योगात्तो, नान्यथा सिध्यति स्फुटम् ॥ २३१ ॥ प्राणायामविचारोऽपि, वर्ण्यतेऽनुभवान्मुदा । वस्तूनीमानि योगेऽस्मिन्, ज्ञातव्यानि विशेषत· ॥ २३२ ॥ अतो महात्मनामन्ते, स्थित्वा शिक्षादिका· क्रिया । ससारे योगतो नान्य , पंथा मोक्षाय विद्यते ॥ २३३ ॥ **यो योगं कुरुते नित्यं, स याति परमास्पदम् । निर्भयं कर्मवन्धाच्च मुच्यते नात्र संशयः** ॥ २३४ ॥ इत्युपदेशानुसारेण, ज्ञातव्यं मोक्षकाक्षिभि· । अत्रानेके जना काले, वहूपायकरा भवे ॥ २३५ ॥ दृश्यन्ते च तथाऽन्तेऽपि, कथं तेषा सुखोदय· । सुपुण्यरूपं तैरुप्तं, वीज पूर्वं ततश्च ह ॥ २३६ ॥ सुखात्मकं फलं शश्वद्भुंजन्ते तेन ज्ञायताम् । परन्त्वद्य च जीवेभ्यो, दत्वा दु खं निरन्तरम् ॥ २३७ ॥ वपन्ति दु खवीजं ते, भविष्यन्ति सुखेतरा । फलं दु खमयं तेपामन्ते स्यान्नात्र संशयः ॥ २३८ ॥ इत्थं यश्च सुखी भूत्वा, पापिष्ठोऽपि भवे भवात् । पापानुवन्धिपुण्यात्मा, ज्ञायता जगतीतले ॥ २३९ ॥ तदत्र वर्तते हेतु·, पूर्वपुण्यप्रसङ्गत· । जायन्ते सुखिनः पश्चाद्दु खिनोऽपि भवन्त्यद ॥ २४० ॥ वर्तमाने पापयोगात्पापिनोऽपि तत परम् । दृश्यन्ते सुखिनोऽप्येवं, ज्ञातव्यं तत्वनिश्चयै ॥ २४१ ॥ धर्मात्मानो जना केचित्सन्ति लोके सुखार्थिन । कियन्तो दु खभोक्तार , पापपुञ्जप्रभावत· ॥ २४२ ॥ कियन्तश्च सुखाकारा , पुण्योदयप्रभावत· । एवं दु खसमाप्तौ च, सुखोदर्क· प्रजायते ॥ सुखभोगसमाप्तौ तु, दु खोदर्क प्रपद्यते ॥ २४३ ॥ अतस्ते सुखिनश्चाग्रे, भविष्यन्ति नरास्तत । ईदृशान्मनुजान् शास्त्रे, पुण्यानुवन्धिपापिन· ॥ २४४ ॥ कथयन्ति जगत्यस्मिन्पूर्वपापप्रभावत· । भुंजन्ति तेऽद्य पापौघं, वर्तमाने तथा पुन ॥ २४५ ॥ पुण्योदयवशात्ते च, भविष्ये सुखभोगिन· । ज्ञातव्यं दु खभोक्तॄणा, तथा सुखभुजा भुवि ॥२४६॥ तत किं कथयन्त्वद्य, वर्तमाने च पापिन । भविष्येऽपि तथा सन्ति, नियमोऽप्यस्ति किमीदृश ॥ नियमोऽप्येतादृशश्चापि, जनाश्च वहवो भुवि । पूर्वपापवलादत्र, दु खिता जीवदु खदा· ॥ २४७ ॥ तेऽप्यग्रजन्मन्यन्ते च, दु खिनो मनुजाः पुन । तथेदृशजनानान्तु, का सज्ञेति वदन्तु न· ॥ २४८ ॥ **पापानुवन्धिपापिनो**, ज्ञातव्यं शास्त्रमानत· । पूर्वजन्मार्जिताना च, दु खाना भोगिनोऽधुना ॥ २४९ ॥ **इदानीं कुरुते** पापं, तद्भोक्ताऽग्रे भविष्यति । किंवैतादृशो नियम·, शास्त्रेऽप्यस्ति प्रमाणतः ॥ वर्तमाने सुखं भुंक्ते, भविष्येऽपि पुन सुखम्

॥ २५० ॥ योगोऽनघो महत्तत्वप्रापकोऽस्त्यमरद्रुम । तस्य सेवनमात्रेण, याति योगी परम्पदम् ॥ २५१ ॥ भवितुं शक्यते चेत्थं, भूतकाले च ये नराः । प्राणिना सुखदातारो, वन्धयित्वाऽतिपुण्यकम् ॥ २५२ ॥ तेनात्र सुखसम्पन्नाः, पुण्यमेवाश्रयन्ति ते । भविष्येऽपि पुनस्तद्वत्पुण्यस्यैवानुबन्धनम् ॥ २५३ ॥ एतादृशजनस्यात्र, शास्त्रे पुण्यानुवन्धकृत् । पुण्यवान्कथ्यते लोके, पूर्वपुण्यप्रभावतः ॥ २५४ ॥ सुखी भूत्वा स चेदानीं, वर्तमाने करोति चेत् । पुण्यं भविष्यकालेऽपि, पश्चादपि सुखी भवेत् ॥ २५५ ॥ कर्मणा चतुष्टयं चेत्थमनुवन्धं भवत्यदः । विज्ञेयश्चानुवन्धार्थो, वन्धनं शास्त्रसम्मतम् ॥ २५६ ॥ भुंक्ते च तत्फलमग्रे, शुभाशुभानुवन्धनै· । अस्त्येवं च सुखीदानीमशुभेन च दु खभाक् ॥ २५७ ॥ **पापानुवन्धिपापश्च, पापानुबन्धिपुण्यकृत् । पुण्यानुबन्धिपापश्च, पुण्यानुबन्धिपुण्यवान्** ॥ २५८ ॥ चतुर्विधं सुविज्ञेयमनुबन्धस्य साधकै. । समयेऽत्र सुखं पश्चादग्रेऽपि सुखप्रापणम् ॥ २५९ ॥ इत्थं कर्मफलं दु खमथवा सुखसंभवः । परन्त्वव्याधिमोक्षस्य, सुखस्यापि कदाचन ॥ २६० ॥ समाप्तिर्न भवेच्चैवमध्यात्मिकसुखाप्तये । कायिके सुखभोगश्च, हेयं सर्वत्र सर्वदा ॥ २६१ ॥ अर्थाच्चपुण्यपापानां, क्षयं नीत्वाऽऽत्मरूपके । स्थातव्यो मनसाऽग्रे च, कीदृशोऽप्यनुवन्धनम् [**न वन्धनीयो हेयश्च, नयविद्भिरिहोच्यते**] ॥ २६२ ॥ यत्तालुमूलात्स्रवतेऽमृतं हि, योगी जनस्तत्पिबति प्रध्यानात् । तेनैव तृप्तिश्च तथा विमुक्ति , सञ्जायते योगिजनस्य नित्यम् ॥ २६३ ॥ **वन्धव्योऽस्त्यनुवन्धश्चेत्पुण्यस्यैवानुवन्धनम् । पापानुवन्धं नो कुर्याद्धेय एवास्ति सर्वदा** ॥ २६४ ॥ कुत पुण्यानुवन्धस्य, वलादेवं फलं भवेत् । यत. स्यात्कर्म्मनिर्जरा, न पुन कर्मसम्भव ॥ २६५ ॥ स्वतन्त्रतायाश्चैतद्धि, द्वितीयं द्वारमिष्यते । ज्ञात्वैव च विवेकेन, साध्यो योगश्च साधकै ॥ २६६ ॥ **योगान्नास्त्यपरः कश्चिन्मुक्तिसिद्धिकरोऽधुना । तस्माद्योगमुपाश्रित्य, याति योगी परम्पदम्** ॥ २६७ ॥ योग कल्पतरुर्विपत्तितरणिरज्ञाननाशोद्यतो, येन स्याच्च जराऽपमृत्युहरण योगार्थिना दु खहा । तृप्ति स्यादचलाऽऽत्मनि प्रवितते यस्मात्परा निर्मला, योगे निर्मलचेतसा हृदि मुहुर्मुक्तिश्च वा भ्राजते ॥ २६८ ॥ **योगो हि निर्मलादर्शो, यत्रात्मा च प्रदृश्यते । लोकस्यान्तर्गतं वस्तु, निशामय गुरोर्मुखात्** ॥ ॥ २६९ ॥

इति वीरयोगतरङ्गः समाप्तः ॥

भावार्थः—प्रत्येक प्राणी सुखकी इच्छा प्रकट करता हैं, इतना ही नहीं वल्कि सुखकी प्राप्तिके लिये अनेक उपाय करता हैं। उन उपायोंसे जव वह सफलीभूत होता है और अनन्त सुखको पाता है तव वह सर्वथा कृतकृत्य हुआ समझा जाता है। सुखको पानेके लिये अनेक साधनोंमें धर्म सर्वतो मुख्य साधन है। वर्तमान समयमें अनेक मत, पंथ, वाडावंदी सम्प्रदाय, संघाड़ा, गच्छ, टोला, पार्टीवाजी आदि जो धर्मके नामपर चलकर अमर शहीद वनने जा रही हैं, वे सव सुखके साधनसे विमुख वनकर अपने शिष्योंको सुखका साधन प्राप्त करानेमें असमर्थसे ही हैं। मात्र अपनी सम्प्रदाय और टोलेको निभानेके लिये अमुक अमुक क्रियाएँ रच डाली हैं। उन्हींको परम्पराके अनुसार अपने शिष्योंको भी वताते रहते हैं, और वे शिष्य भी उस परम्पराके अरघट्ट चक्रके अनुसार उन क्रियाओंको उनके इशारेपर नाच-नाचकर करते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो क्वचित् क्वचित् सुखकी इच्छावाले प्राणी हैं उनको सन्तोप नहीं होता। सन्तोष न होनेसे ऐसे भद्रपरिणामवाले जीवोंको सुखके साधनके लिये खून पसीना एक करना पड़ता है। वहुत कुछ धूल खाक उड़ानेपर भी सुखके सच्चे साधन समयपर मिलते हैं और नहीं भी मिलते। इस प्रकार उनकी दयनीय स्थितिपर स्पष्ट समझा जा सकता है कि स्थायी सुखके वास्तविक और सच्चे साधनोंके प्रचार करनेकी जगत्के लिये पूरी आवश्यकता है।

सुखके साधनोंमें योग सवसे भारी और अद्वितीय चमत्कारिक तथा सर्वमान्य साधन है। यदि इन साधनोंका गुरुगम द्वारा उपयोग किया जाय तो अवश्यमेव अल्प समयमें सनातन अखंड सुखकी प्राप्ति हो सकती है। योग एक ऐसी वस्तु है कि वह अपने आप नहीं सीखा जा सकता, अतः किसी महात्मा, योगनिष्ठ, आत्मवित् पुरुषके द्वारा उसे सीखना चाहिये। आजकल योगी पुरुष इस भारतमें सव जगह नहीं मिलते अतः सतत प्रयास द्वारा योगियोंकी शोध करनी पड़ेगी, परन्तु नकली योगिओंसे तो सावधान ही नहीं वल्कि दूर रहना चाहिये और किसी सच्चे योगीको खोजकर साध्यकी साधना करनी चाहिये। एवं इतना स्मरण रहे कि योगकी साधनाके विना सत्य सुखको कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता, परन्तु वह सत्य सुख अपने पास और अपनी आत्मामें ही है, और योग अन्तर्दृष्टिके अभ्यास द्वारा उसे वता

सकता है। जिस मनुष्यको सनातन सुख अभीष्ट हो उसे योगकी साधनामें लगना चाहिये। योग और योगीकी महत्ता बडी ही ऊंची है। श्री गीता भगवतीमें श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(अध्याय ६, श्लोक ४७)

भावार्थ—उपवासादिक अनेक प्रकारके लम्बे-लम्बे तप करनेवालोंसे योगी बडा है। नय, निक्षेप, देवादिकी आयुष्यके भंग (भागे) तथा जीवादिकी संख्याकी गणना करनेवाले वाचाल ज्ञानियोंसे भी योगी बडा है, आवश्यकादि कार्य करनेवालेसे भी योगी बहुत बडा है। अतः हे अर्जुन! तू योगी बन।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(गीता अध्याय ७, श्लोक ५)

भावार्थ—आत्म-विजेता, इन्द्रियजित् और सब भूतोंपर समभाव रखनेवाला योगी पुरुष कर्म करनेपर भी निष्कर्म्म समझा जाता है। अर्थात् कर्म लेपसे लिप्त नहीं होता।

इसी प्रकार जैन-दर्शनमें भी कहा है कि—

"अग्गं च मूलं विलं च विगिं च धीरे।
पलिच्छिन्दियाणं णिकम्मदंसी॥"

(आचारांग)

अग्रकर्म और मूलकर्मके भेदको समझ कर विवेक द्वारा कर्म कर। इस प्रकार कर्म करनेपर वह साधक निष्कर्मा कहलाता है।

अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ। कम्मुणा उवाहि जायइ॥

(आचारांग ३-१-३)

भावार्थ—निष्कर्मके जीवनमें उपाधि या उत्पात नहीं होता। इसी प्रकार लौकिक टीपटाप और दिखाव बनाव भी नहीं होता। इसका शरीर मात्र योग क्षेत्रका वाहन होता है, इत्यादि।

यह योग अनादि कालसे चला आ रहा है, और इसके आदि प्रवर्तक आदिनाथ अर्थात् आदि तीर्थकर श्रीऋषभदेवजी जिनराज हो गये हैं। उन्होंने मनो निग्रहका आदेश सर्व प्रथम देकर यह फर्माया है कि अधिकतर बहुतसे जीवोका जगत्के सन्मुख दृष्टि द्वारा क्षोभ प्राप्त मन अक्षुब्ध होकर आत्माके सम्मुख प्रवर्तित होता है, और वह फिर अनन्त सुखका साक्षात्कार पाकर उसका अनुभव करता है अतः मनका निरोध करना ही योग है। भगवान् पतंजलिने भी योगका यही लक्षण बताया है।

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" 'चित्तवृत्तिका निरोध करना योग है।'

इस अत्युत्तम योगके पात्र स्त्री पुरुष या चारो वर्णके लोक है। योग साधनामे जाति भेदकी कोई आवश्यकता नहीं है। चाण्डाल जाति भी योगी महात्मा हो सकता है। २५०० वर्ष पूर्व हरिकेशी मुनि जातिके चाण्डाल थे तथापि योगके द्वारा महात्मा पदको पा गये। यथा—

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणि। (उत्तराध्ययन)

भावार्थ—चाण्डाल कुलमे जन्म लेनेपर भी हरिकेशी मुनि उच्च गुणके धारणकरनेवाले मुनि थे, पुनश्च।

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाई विसेसु कोई।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥

(३७, उत्तराध्ययन १२)

"योगका महात्म्य आखो आगे प्रत्यक्षमे दीख पड रहा है जिसमें जातिकी कोई आवश्यकता विशेष नहीं है। हरिकेशयोगी चाण्डाल जाति है। परन्तु इसके योग ऋद्धिके सामने सबकी आखे चौंधिया गई हैं।"

परन्तु तामस वृत्तिवालोसे योग साधना नहीं हो सकती। अत योग सिद्धिके जिज्ञासुओको घी, दूध, तेल, प्राशुक भोजन आदि सात्विक आहारका उपयोग करना चाहिये। यथा—

आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः,
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विक प्रियाः।

(गीता श्लोक १७, अध्याय ८)

रसयुक्त, चिकना, स्थिर, हृद्य आहार सात्विक जनोंको प्रिय है, क्योंकि इनसे आयुष्य, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है।"

परन्तु अधिक मिर्चें, अति तेल, अति खटाई आदि तामसी पदार्थोंका उपयोग कभी भी न करना चाहिये। इसके उपरान्त आवश्यकतासे अधिक न बोलकर अधिकाश मौन रहना चाहिये। निकम्मा वाग्व्यय करनेसे योगमें विकार आ जाता है। योग साधना करनेवाले महात्मा पुरुषके पाससे योगकी तालिका सीखकर उसकी साधना करनेके लिये एकान्त तथा पवित्र विजन प्रदेशमें जाना चाहिये। पहाड, पर्वत आदि एकान्तप्रदेशके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानमें जैसी चाहिये वैसी अच्छी रीतिसे योगकी साधना नहीं कर सकता। इसीलिये प्राचीन कालके पुरुष अनेक पहाडोंमें जहा नाना सात्विक वनस्पति होनेसे तथा वहा अनेक महात्माओंके शुद्ध रज कण होनेकी स्मृति रहनेसे, वातावरण भी एकान्त और पवित्र रहनेसे उस स्थलपर एकदम शान्त और अचपल मन हो जाता है। अत· वह स्थान उनका मनपसद है। बडे राजमहल या धर्म स्थानमें जिस आनन्दका स्वप्नमें भी अनुभव न हुआ हो उस आनन्दका अनुभव कुल्लु और शिमले तथा हंस तीर्थके बर्फानी पहाडोंमें जानेसे होता है। अत. योगीको किसी ऐसे ही प्रकारका स्थान पसन्द करना चाहिये। यदि कारणवश इन स्थानोंपर न जा सके तो जहा तक अपनी ही वस्तीमें रहता हो उसके आसपास किसी रमणीक वनस्पतिवाले उपवनको चुनना चाहिये, और वहीं योगाभ्यास करना चाहिये। धूलपर बैठकर योगकी साधना नहीं की जा सकती बल्कि बैठनेके लिये आसनकी भी आवश्यकता है।

योगिओंके लिये दर्भासन अत्युत्तम है, और दर्भासनपर कम्बलासन बिछाना चाहिये। दर्भासन तथा कम्बलासनमें साधकके शरीरकी विद्युत्-शक्तिको टिकाये रखनेकी शक्ति बडी ही उत्तम है। इसीलिये सूतके कपडेपर योगी अपने योगाभ्यासकी साधना न करे।

भगवती आदि सूत्रोंमें भी कई स्थानोंपर दर्भासनका पाठ ही दिया गया है। यथा—

"दब्भसंथारगं संथरइत्ता।"

इसीकी पुष्टिके लिये उत्तराध्ययनमें **केशी मुनि** और **गौतम गणधर** जहा मिलते हैं वहा वे आगन्तुक मुनिका स्वागत **"कुश तणाणिय"** दर्भोके आसनसे करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—**जैन जातिमें भी आदानप्रदानके प्रसङ्गमें पहले सर्वत्र दर्भासनका ही रिवाज था।**

दर्भासनके अभावमे कंवलासन विछाना चाहिये। दर्भासनके ऊपर कंवलामन विछाकर उसपर पद्मासनसे मन पसंद आसन लगा कर तथा स्थिर होकर पूर्व या उत्तरमे मुख करके वैठना चाहिये। सूत्रोमें पद्मासन लगाकर पूर्वमे मुख करना वताया है।

"पुरत्थाभिमुहे' सपलियंकनिसण्णे"

पर्य्यंकासन या पद्मासनसे वैठकर पूर्वमे मुख रक्खे। पद्मासन लगाकर वाये हाथकी हथेलीपर दाहिना हाथ सीधा रखकर, कमर, गर्दन, मस्तकको एक पंक्तिमे रखकर वैठना चाहिये, और दाढ़ीको हंसलीसे चार तसुके अन्तरपर रहने दे। इस आसनसे सवेरे, सांझ या मध्याह्नमे तथा रात्रिके पहले और पिछले पहरमे सतत अभ्यास करना चाहिये। एक पहर यदि आरामसे स्थिर होकर वैठ सके तव समझो कि आसनपर विजय प्राप्तकर ली गई है। आसनपर विजय पानेके वाद प्राण और शरीर तथा दृष्टिपर विजय पाना चाहिये। परन्तु आसनपर विजय पाये विना योग सिद्ध नहीं हो सकता। इसके विना आत्म साक्षात्कार अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अत· सतत प्रयास द्वारा गुरुगमसे पाई हुई युक्तिके अनुसार आसनपर जय पा लेना चाहिये। आसनके जयमे यम और नियमपर जीत प्राप्त करनी चाहिये।

आसनको जीतनेके पश्चात् साधकजन अनेक प्रकारकी क्रियाएँ सीख सकता है। परन्तु आसनको जीतकर दृष्टिको जीतनेकी पूर्ण आवश्यकता है। दृष्टि जयका पहला लक्षण आखका न मींचना है। उससे मेषोन्मेष दृष्टि हो जाती है। योग परिभापामे इसे त्राटक कहा जाता है। **सूत्रोंमें भी मेपोन्मेप रहित होनेके कई जगह प्रमाण मिलते हैं।**

दृष्टिको जीतनेकेलिये या त्राटकमुद्राको सिद्धकरनेकेलिये सवेरे और साझमे साधकको यथेष्ट आसनपर वैठकर अपनेसे सवा हाथके अन्तर पर किसी रूईकी गोलीको वनाकर रख देना चाहिये और उस चने जितनी गोलीपर दृष्टि जमाये रहो। अमुक समयके अनन्तर आखमे पानी आयगा। आरभमे आसू आनेपर त्राटक रोक देना चाहिये। चार या आठ दिन तक आसुओंको पोंछते रहना चाहिये, और त्राटक आरंभ रखना चाहिये। प्रयास ऐसा करना चाहिये जिससे पलक वन्द न हो सके, और इस प्रयासमे शान्तिपूर्वक प्रति दिन वृद्धि रखना चाहिये। जव एक घडीसे अधिक पलकको जीत लोगे तव

कई नवीन वार्तोके अचरज साधकपुरुष स्वयं देखने लगेगा, और ज्यो ज्यों इससे भी अगाडी बढेगा त्यों त्यों उस साधकको अलौकिक आनन्दकी अंश अंशमें प्राप्ति होगी। ज्यों ज्यों दृष्टिको जीतता जायगा त्यों त्यों उसका मन शात होता जायगा और दृष्टिके जयमे मनका भी जय होता है। अधिकतर आखकी भवोंपर दृष्टि रखना इसीलिये सूत्रोंमें भी बताया है।

"एग पोगलनिविट्ठदिट्ठि।" 'एक पुद्गलपर दृष्टिकी स्थापना करे।"

इस प्रकार ध्यानकी प्रक्रियाएँ महात्मा पुरुषोंके पास सीखनी चाहिये। जब एक घंटा तक दृष्टिविजयका अभ्यास हो जाय तदनन्तर साधकको चाहिये कि दिनके पहले भागमें किसी सुन्दर पहाडके शिखरपर या वृक्षकी चोटीपर दृष्टि जमाना चाहिये। रात्रिमें चान्द या शुक्र तथा मंगल तारेपर नजरको जमाना चाहिये। यह प्रयास ज्यों ज्यों बढेगा त्यों त्यों प्रकृतिके प्रत्येक पदार्थकी ओर पवित्र प्रेम उत्पन्न होगा, और सृष्टिके प्रत्येक अंशमें वीतरागताका प्रकटीकरण होगा। परन्तु यह प्रयास भी एक घंटा तक रखना चाहिये इसके अनन्तर सृष्टिके चाहे जिस भागपर दृष्टि डालोगे तब एकदम वह वहीं स्थिर हो जायगी, और शरीरके कोथलेमेंसे दु ख निकल कर भागेगा, इस कक्षापर पहुंचनेपर साधकको तुरन्त प्रभु नामका भावना नामक जाप परम प्रेम पूर्वक शुरू कर देना चाहिये। जापमें इच्छानुसार शब्दोच्चार या 'नमो अरिहताणं' जपना चाहिये। परन्तु कुछ समयके पश्चात् नमो पद आपसे आप उड जायगा, और आत्मा अर्हन् प्रभुमें एकाकार हो जायगा। प्रति समय यथावसर पाकर हिलते, चलते, उठते, बैठते, सोते, जागते वह ध्यान दिमागसे न निकल सकेगा। साझ, सवेरे, मध्यान्ह और रात्रिमें योगकी क्रियाका आरम्भ रखकर जाप जपते रहना आवश्यक है। एक ओरसे योग क्रिया द्वारा सद्भावनाकी दृढता और दूसरी ओरसे जाप, इन दो साधनोंके मिलनेसे मन एकदम शान्त हो जायगा। क्योंकि—**"मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो।"** मनरूपी घोडा साहसिक और भयंकर दुष्ट है। **"इन्दिय चवल तुरंगो"** इन्द्रियोंके घोडे अधिक बलवान् होते हैं, परन्तु इस प्रयाससे उनकी मस्ती निकल जाती है, और वे शान्तिमय हो जाते हैं। इस प्रकारके संयोगोंमें साधककी विवेक दृष्टिमें अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि हो जायगी तथा साथ-साथ आनन्दकी वृद्धि भी। यह साधना सन्तोष जनक होनेपर साधकको अपने योगकी

दिशा वदल देनी चाहिये। अर्थात् जो त्राटक वहिर्दृष्टिका किया जाता था उसके स्थानपर अन्तर्दृष्टिका त्राटक करना चाहिये। प्रथम श्वासोच्छ्वासमें दृष्टि रखनी चाहिये। और जो श्वास वाहर आता है तव 'सो' और अन्दर जाते समय 'हं' का कुदरती ही उच्चार होता है। तव दोनों मिलकर "सोऽहं" अजपाजाप विना ही जपे होता रहता है उसपर ध्यान देना चाहिये। अर्थात् श्वास जहासे उठता है और जहा जाकर समा जाता है वहा तक उसके अन्दर वृत्ति रखनी चाहिये। इस प्रयाससे एकदम शान्ति होने लगेगी, और अन्तरके आनन्दमें उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। दिनरातमें सामान्य रीतिसे २१६०० श्वासोच्छ्वास चलते हैं। उनमेंसे उपयोग विनाका एक श्वास भी न जाने देना चाहिये। "सोऽहं" के जापका सतत प्रयास होनेके पश्चात् सहज-वृत्ति श्वासमे रहने लगती है। आत्मामें इस प्रकार श्वासका ध्यान सिद्ध होनेपर साधकको हृदयके मध्य भागकी वृत्ति स्थिर करनेका प्रयास करना चाहिये। जब हृदयकी वृत्ति स्थिर होगी तव हृदयमेंसे अलौकिकशान्तिका स्रोत प्रकट हो जायगा। जिस शान्तिका साधकको अव तक इससे पहले किसीके पास अनुभव नही हुआ था। जव हृदयका ध्यान सिद्ध होता है तव नाभीके एक देशमे वृत्तिको स्थापन करे। वहाकी सिद्धि होनेपर उसे पुनः हृदयमें ले आना चाहिये, और वहासे कंठके मध्यमे ला छोडे। नाभि, हृदय और कंठमें शान्तिका अनुभव होनेपर मनोवृत्तिको त्रिकुटी भवनमे स्थापन करे। त्रिकुटी ध्यानका प्रयास होनेपर और वहाकी स्थिरवृत्ति होनेपर मसूरकी दाल जितने एक बिन्दुका साक्षात्कार होता है, और वह बिन्दु अतिशय चमकदार होता है। बिन्दुके दर्शन होनेपर साधकको अपार आनन्द मिलता है। उस नादबिन्दुके दर्शन होनेपर सिद्धिया भी साधककी सेवामें उपस्थित हो जाती हैं। कपालमें अखिल विश्वकी झाकी हो जाती है। इसका कारण यह है कि उस स्थलपर त्रिकुटीमे गोल बिन्दुके दर्शन ही है, और वह चांदकी निशानी द्वारा बिन्दु दर्शनके रूपमें समझाया गया है। विन्दु दर्शन होनेपर साधकको अलौकिक ज्ञानकी प्राप्ति होती है, और जन्म जरा मृत्युके विनाशकी तैयारी हो जाती है। विन्दु दर्शन ही शंकरका (आत्मानंदका) तीसरा नेत्र है। प्रत्येक आत्मा शंकर ही है, और उसके समानतया दो नेत्र तो हैं ही, और तीसरा बिन्दु दर्शन रूप ज्ञानलोचन प्रयास द्वारा उघडता है, बिन्दु दर्शनके पश्चात् योगीको

मृत्युका भय नही हो सकता, और साधकके सशय शल्योंका नाश हो जाता है। इसीको समझनेके लिये कहा जाता है कि शंकरका तीसरा नेत्र उघड आता है। तव सशय शल्यरूप विश्वका प्रलय हो जाता है।

त्रिकुटीमें विन्दु दर्शन होनेपर साधक ज्यों-ज्यों विशेष प्रयास करता है त्यों-त्यों वह विन्दु विशेष प्रकाशित होने लगता है, और अन्तमें साधक उस विन्दुमें इतना विलीन हो जाता है कि उस शान्तिमें उसे नादका अनुभव होने लगता है। तव विन्दुकी अपेक्षा नादमें विशेष आनन्द आनेसे बिन्दु गौण होने लगजाता है, और नाद विशेषातिविशेष श्रवणगोचर होता है। नाद भी अनेक तरहका सुनाई पडने लगता है, और वह चक्की, सितार, सरंगी और नौवतखानेसे भी अधिक और उत्कृष्ट होता है। मेघकी गर्जनासे भी अधिक गर्जना सुनाई देने लगती है। अन्तमें दिव्य नादका अनुभव होनेपर साधक उस नादमें अत्यधिक लीन हो जाता है। इस ध्वनिका अनुभव इतना अधिक वढ जाता है कि साधककी हिलने, चलने, उठने, वैठने आदिकी क्रियाओंमें भी नादका अनुसन्धान रहा करता है। **नादके अनुभवसे ही जगत्में संगीतका प्रचार योगी लोकोंने किया है।** जिस प्रकार नाद साधकको प्रिय है उसी भाति जगत्कोभी सगीत प्रिय है। अतः सगीत (गुणगान) द्वारा मनको एकाग्र वनाकर साधकजन आगे वढ सकते हैं। वास्तवमें सगीत वाह्य नाद हो गया है, और इस वाह्य नाद द्वारा अभ्यन्तर नादको मिलाकर पाया जा सकता है। साधक जव नादमे और भी आगे वढता है, तव उसको नादका अनुभव जहा होता है वह भ्रमर गुफाके ऊपर शंकुके आकारकी एक पोली प्रतीत होगी, और उस पोलके शिखरपर एक महान् प्रकाशवाले पदार्थका अनुभव होगा। यह प्रकाशमान पदार्थ गोलाकार और उलटे छत्रके आकारकी तरहका जान पडेगा। यह छत्राकार सहस्र दल कमल सिद्धशिला रूप अजरामर चक्र शिरके अग्रभागमें—लोकके अग्रभागपर है। इस अजरामर चक्रमें वृत्तिके विलीन होनेपर साधकको अखण्ड अलौकिकमय आनन्दका अनुभव वर्धमान रूप होता है। वह आनन्द वढता भी इतना अधिक है कि साधक योगी उसमें एकदम लीन हो जाता है, और अलौकिक आनन्दका अनुभव अपने उस समस्त शरीरमें प्राप्त करता है अर्थात् स्वयं जो आनन्दरूप है उस अलौकिक आनन्द स्वरूपको स्वयं सर्वाङ्ग अनुभव करने

लगता है । इस अवस्थामें वह साधक रूपसे मिटकर सिद्ध, योगी, विदेही, महात्मा जीवन्मुक्त कहलाता है । उस योगीकी दृष्टि देहसे अन्य स्थलपर जहां जहां जाती है वहा वहा वह अलौकिक दिव्य आनन्दका अनुभव करता है । जलस्थान, स्थलस्थान, राजस्थान, धनिकस्थान, पशुस्थान, आकाश स्थान आदि जिन जिन स्थानोंपर उस महात्माकी दृष्टि होती है वहा वहां यह आनन्दका ही अनुभव करता है । सव जगह अमेद रूपसे अलौकिक अनुभव करनेसे द्वैत भावकी भ्राति न रहनेसे वह वीतराग कहलाता है । ऐसा योगी पुरुष ही कृतकृत्य और सिद्ध है । ऐसे योगीके दर्शन भी जगत्को पावन करते हैं ।

जिस प्रकार अभ्यन्तरवृत्ति द्वारा हम योगके सम्बन्धमे समझ सके हैं । उसी दृष्टिसे वाहरके भागमे नाभिके ऊपर स्थापन करनेमे आता है, और जव उस प्रयासमें नाभि और चक्षुके वीचमे एक चमकनेवाली तेजस्वी लकीर अखंड-रूपसे दीखने लगे तव नाभिसे दृष्टि हटाकर छातीके मध्य भागमे स्थापन करनी चाहिये, और वहां भी जव इसी भाति तेजस्वी लकीर भासने लगे तव नासिकाके अग्रमें स्थापन करे। नासाग्रसे त्रिकुटीमें, वहासे भ्रमर गुफामे होते हुए अजरामर चक्ररूप सिद्धशिलामे और वहासे स्वात्म-अनुभवमे पहुँचा जाता है।

इस अनुभव मार्गमे भक्ति है, वह एक महान् साधन है, भक्तिसे प्रेम प्रकट होता है, और प्रेमके द्वारा भी आत्माका साक्षात्कार हो सकता है । किसी शास्त्रके श्लोकपर विचार करते-करते गंभीर तहमे उतर जाता है, और उसके द्वारा भी आगे वढ सकता है ।

एक ऐसी भी रीति है कि जिसमे पद्मासनसे वैठकर जो विचार आवें उनको तटस्थ वैठकर देखा करे, परन्तु विचारोंको अटकने न दे । अभ्यासके प्रवल प्रयत्नसे विचारधारा स्वयं ठंढी पडने लग जाती हैं, और अन्तमें एकदम शान्त हो जाती है । विचारोंके शान्त होनेपर साधकको अलौकिक आनन्द होने लगता है । तव अखिल विश्वपर विशाल और उत्कृष्ट प्रेमकी दृष्टि हो जाती है । समान भाव तो सवमें रखने लगता है । अपने आपमें ईश्वर भावका उदय होने लगता है । ज्यों-ज्यो यह प्रयास वढ़ता है, त्यों-त्यों अन्तरमें आनन्दकी विशेष जागृति हो जायगी । इतना ही नहीं, वल्कि वाहर भी सव जगह आनन्दका ही अनुभव होने लगेगा । और अन्तमे वह पूर्ण आनन्दमय

वन जायगा। सव जगह ईश्वरभावको स्थापन करता हुआ अति प्रेममय वनकर, प्रेमकी दृष्टिसे विश्वका दिन रात अवलोकन करनेसे सहजानन्द प्रगट होता है, और वह वीतराग हो जाता है।

पहले कहे गये प्रमाणानुसार साधकोंके लिये थोडी सी प्रक्रियाएँ संक्षेपमें वताई गई हैं। इन्हें विचारकर तथा उसी प्रकार मनन करनेसे अवश्य अलभ्य लाभ होगा। तथा अपरिमित सामर्थ्य पा सकेगा। योगका विषय अत्यन्त विशाल और गहन है, और इसे गुरुगमकी साक्षी विना सीख भी नहीं सकता। हठ्योग, मंत्रयोग, लययोग और राजयोग इस भाति योग चार प्रकारोंमें विभक्त है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अग है, और इनमें प्रत्येकको उत्तरोत्तर एकको एककी अपेक्षा है। प्राणायाम कई प्रकारोंसे हो सकता है, परन्तु उनमें पूरक, कुंभक और रेचक मुख्य हैं, भस्त्रिका आदि प्राणायाम भी उपयोगी हैं। प्राणायामको सहायता देनेके लिये नेति अर्थात् नाकमेंसे डोरा पिरोकर मुखद्वारसे निकालना; तथा धोती अर्थात् कपडेको पेटमें उतारकर मलका निकालना; नौली अर्थात् नलोंको घुमाकर फिराना, वस्ति यानी गुदासे मल साफ करना, तथा कपालभाति गजकरणी आदि हठयोगकी अनेक क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार खेचरीमुद्रा, महावन्धमुद्रा, वज्रमुद्रा इत्यादि मुद्राएँ गुरुगमके विना न कर सकनेके कारण प्राणायाम आदि की वातें फिर वताई जायँगी, क्योंकि वे वस्तुएँ भी विशेष ज्ञेयरूप हैं। अत उनको महात्मा पुरुषोंकी सगतिमें रहकर सीखना चाहिये। योगसे वढकर ससारमे कोई अन्य विद्या उत्तम नहीं है। जो पुरुष योगकी साधना करेंगे अन्तमें वे परमपदको पायेंगे, और कर्मोंसे मुक्त होंगे। अत उनको कर्मवंधके चार प्रकार समझना चाहिये जिनके ये प्रभेद हैं।

कर्मवन्धके ४ प्रकार और दुःख सुख

इस समय अनेक मनुष्य नाना पाप करते देखे जाते हैं तथापि वे सुखी क्यों हैं?

उन्होंने पुण्यरूपी वीज वोये थे, इसीलिये आज वे उनके सुखरूप फलोंको खा रहे हैं, परन्तु इस समय अन्य जीवोंको दु ख देकर पापके वीज वोते हैं, इससे भविष्यमें इसके अनन्तर उनके फल उन्हें दुःखरूप होंगे। इस प्रकार जो मनुष्य सुखी होकर भी पापिष्ट होता है वह मनुष्य

"पापानुवंधी पुण्यवान्" समझा जाता है। इसीलिये कि इस समय पूर्वपुण्यके कारण सुखी है और वर्तमान् पापके कारण भविष्यमे दुःखी होगा।

कितनेक मनुष्य धर्मी होते हैं, अच्छे कार्य करते हैं, पुण्य भी करते हैं, तथापि दुःखित क्यों है?

इसका कारण यह है कि पहले उन जीवोंने पाप किये थे, अतः वर्तमानमे दुःख भोगते हैं, इतनेपर भी शुभ कार्य करते हुए इस समय पुण्य बांध रहे है। अतः वे आगे सुखी होंगे। ऐसे मनुष्योंको शास्त्रमें **'पुण्यानुवंधी पापी'** कहा है। इसीलिये कि भूतकालके पापके कारण दुःख भोग रहे हैं, परन्तु वे वर्तमानके पुण्य कार्यके द्वारा भविष्यमे सुख भोगेंगे।

तव क्या वर्तमान कालमे कोई मनुष्य दुःखको भोगता हो और उसे भविष्यमें भी दुःख भोगना पडे क्या ऐसा भी कोई नियम है?

हा हा क्यो नही, वहुतसे मनुष्य पूर्वके पापके कारण इस समय दुःखोंको भोगते है इतनेपर भी इस समय अन्य जीवोंको दुःख देते है तो वे अगले जन्मोंमें भी दुःखी ही होंगे।

ऐसे मनुष्योंकी शास्त्रमे क्या संज्ञा वताई है?

वे **'पापानुवंधी पापी'** अर्थात् पूर्वजन्ममे पाप किया था उसका फल तो भोग रहे हैं, और इस समय पाप करते हैं अगाडी उसका दुःखरुप फल भी भोगेंगे।

तव क्या यह भी हो सकता है कि इस समय सुखी हो और आगे भी सुखी ही रहे?

हा यह भी हो सकता है, भूतकालमे जीवने अन्य प्राणियोको सुख देकर पुण्य वाधा है, वे अव सुखी हैं, और अव पुण्य वाधकर भविष्यमे भी सुखोंका ही उपभोग करेंगे।

ऐसे पुरुषको शास्त्रमे क्या कहा है?

इसे **'पुण्यानुवंधी पुण्यवान्'** कहा है, क्योकि पहले पुण्य करनेसे अव सुखी है, और वर्तमानमे पुण्य करता है जिससे आगे भी सुख ही पायगा।

सार—यों कर्मोंके चार प्रकारके अनुवंध होते हैं, अनुवंध का अर्थ वह वंध है जिसका फल आगे भोगा जाता है। अच्छा अनुवंध होनेपर

अगाडी सुखोंका उपभोग करेगा। अशुभ अनुबंध हो तो अगाडी दुःख भोगना पडेगा।

(१) **'पापानुबंधी पाप'** इस समय दुःख और पीछे भी दुःख।
(२) **'पापानुबंधी पुण्य'** इस समय सुख और पीछे दुःख।
(३) **'पुण्यानुबंधी पाप'** इस समय दुःख और फिर सुख।
(४) **'पुण्यानुबंधी पुण्य'** इस समय सुख और फिर भी सुख।

इस प्रकारके कर्मोंसे या तो दुःख मिलता है या सुख मिलता है, परन्तु मोक्षके अव्यावाध सुख जो कि कभी समाप्त नहीं होते, ऐसा आत्मिक सुख पानेके अर्थ शारीरिक सुखोंका भोग छोडना चाहिये। अर्थात् पाप पुण्यका क्षय करके आत्मस्वरूपमें रहना सीखिये, और किसी भी प्रकारका अनुबंध न बाधना चाहिये। यदि अनुबंध डालना हो तो पुण्यका ही बाधना चाहिये। पापका अनुबंध तो बिल्कुल ही न डालना चाहिये क्योंकि पुण्यके अनुबंधसे कुछ ऐसा बल प्राप्त करता है कि जिससे कर्मोंका क्षय भी कर सकता है।

॥ अथाऽऽलोचनापुष्पाञ्जली योगस्य पुष्टये ॥

वीतरागोऽसि विज्ञानमयो गुरुवरोऽसि त्वम्। गुणागारोऽसि देवेश! सदा भव्यावने रतः ॥ १ ॥ इत्थ ते स्मरणान्नित्यं, नरा यान्ति भवाम्बुधेः। पार सुखेन श्रीवीर! नान्योपायोऽस्ति भूतले ॥ २ ॥ शुभाऽऽनन्दस्य केलिस्त्वं, गुणोत्तमगृहं जिन! सुरासुरनरैस्त्वं हि, सेव्योऽस्यवनिमण्डले ॥ ३ ॥ त्वदीये चरणाम्भोजे, मतिर्मे स्यादकामत। सर्वोच्चकोऽसि सर्वज्ञो, रक्ष ससारसर्पतः ॥ ४ ॥ महोदधि कलावृद्धेरादर्शस्त्वं शुभस्य च। आचारस्याऽनवद्यस्य, सद्मतेर्दुःखभञ्जक ॥ ५ ॥ वैद्यो लोकत्रयस्यैव, रत्नाकर! जयोऽस्तु ते। श्रीशो जिनवरोऽसि त्वं, कृपाकर! दयानिधे! ॥ ६ ॥ कर्मघ्नो जातसर्वज्ञ! विज्ञप्तिर्मे त्वयि प्रभो! वीतरागमयोऽसि त्वं, दुर्बुद्धेर्मे निशामय! ॥ ७ ॥ विज्ञोऽसि हे प्रभो! देहि, वर चाभयदं शुभम्। पित्रोरग्रे शिशुः स्पष्टं, नोच्चारयति किं [2] पुन ॥ ८ ॥ मोदाय तस्य कि लीला, न भवेत्त्वं विचारय। हे मन! स्वसुवृत्तं च, रीतिं चैव स्वकीयकीम् ॥ ९ ॥ नम्रो भूत्वा स्वयं प्रीतिं, विभो कुरु मुदाऽनिशम्। भवेऽस्मिन्नहं शुद्धेन, मनसा दत्तवान्नु किम् ॥ १० ॥ दानं किञ्चित्सदाचारो, ज्ञान नैव तपश्च मे। पवित्र नो मनो मेऽलं, कथमाराधये विभुम् ॥ ११ ॥ अद्यापि वासनाहानिर्न जाता पुद्गलेषु च। भ्रमान्मे

भ्रमणं मिथ्या, संसाराब्धौ दयानिधे ! ॥ १२ ॥ क्रोधाग्निना प्रदग्धोऽहं, दिवारात्रि शुभाशुभे । लोभोरगेन सन्दष्टो, देहि मे ज्ञानमेपजम् ॥ १३ ॥ अभिमानग्रहग्रस्तश्चाज्ञानवशगतो ह्यहम् । जायते न गुरो ! ज्ञानं, कपटावृत्तचेतस. ॥ १४ ॥ जगत्यत्र मया किञ्चिन्न कृतं परहितं विभो ! शोकसागरमग्नस्य, सुखं मे स्यात्कथ किल ॥ १५ ॥ मादृशस्य नरस्यात्र, जातं जन्म मुधैव च । मन्यता पूर्तये शश्वज्जिनदेव ! भवस्य च ॥ १६ ॥ दर्शनं च त्वया दत्तं, स्वमुखस्यैव निर्मलम् । सुस्थिरो भवताच्चित्ते, मदीये जायते फलम् ॥ १७ ॥ आनन्दरससंमग्ने, न भवेत्सत्यवर्तनम् । ममास्ति हृदयं वज्रसमं जानीहि सत्प्रिय ! ॥ १८ ॥ दुर्लभं च मया प्राप्तं, ज्ञानरत्न दयाकर ! भ्रमणे बहुदिनाज्जाते, न निवृत्तो भवो मम ॥ १९ ॥ नष्टं मे ज्ञानरत्नं च, सदाऽऽलस्यप्रभावत. । कस्यान्तिकमुपागम्य, रारटीमि मुहुर्मुहु. ॥ २० ॥ जगतो वञ्चनायैव, वैराग्यं विधृत मया । हास्यमर्थे भवे जात, धर्मलेशं न लब्धवान् ॥ २१ ॥ मदीये रसनाग्रे च, विद्या वसति निर्मला । तथापि कलहो नित्यं, ज्ञानादिगुणनाशक' ॥ २२ ॥ तथापि निगृहीतश्च, जातोऽहं तेन मे रति । हास्ये प्रजल्पिते चैव, जायते च महान्प्रभो ! ॥२३॥ भ्रमणोड्डीयतेऽप्यस्मिन्, खगवज्जीवो हि नित्यश. । अतोऽहं चाधमो लोके, सुखं त्यक्तं विचारय ॥ २४ ॥ सदाऽन्यान्दूषयित्वाऽहं, मन्ये स्वमुखनिर्मलम् । परदारान्विलोक्यैवं, जाते नेत्रे च वैकले ॥ २५ ॥ परनिन्दारतत्वेन, चित्त मे मलिनं गुरो ! कस्माद्धितं भवेन्मेऽद्य, न जातं विमलं मन. ॥ २६ ॥ गुप्ता वै डाकिनी चैका, तथैको रतिपोऽर्दक । मत्प्रतिज्ञा तदायत्ता, कदापि न च तिष्ठति ॥ २७ ॥ करोमि प्रकटं तुभ्यं, लज्जा स्वीया गुरोऽधुना । त्वया तु ज्ञायता सर्वं, जगत्कर्म दयानिधे ! ॥२८॥ गुरोर्वचनमत्यन्तं, मया त्यक्तं च हे प्रभो ! तथा सच्छास्त्रवचनं, मिथ्या बुद्ध्या हितं परम् ॥ २९ ॥ दुष्कर्मनिरतो नित्यं, दुस्सङ्गी च तथैव हि । मिथ्यात्वपङ्कसलिप्तमधमं विद्धि मा गुरो ! ॥ ३० ॥ मते भ्रमो न मे नष्ट इति वेद धिया गुरो ! त्यक्तं लब्ध्वा च त्वा देव ! निखिलं भवकष्टकम् ॥३१॥ अज्ञानजं च मे पापं, दृष्ट्वाऽज्ञानवशादहो ! हाहाकारस्तदा जातोऽनेनेति मयि नो सुखम् ॥३२॥ मृगाक्षीकुचद्वन्द्वे मे, लग्नं चक्षुरहर्निशम् । यथा ध्यातं तथा लब्धं, न ध्यातः श्रीजिनेश्वर. ॥ ३३ ॥ कान्ताननं मनोहारि, दृष्ट्वाऽक्षिसुखमेधते । इति त्वयि परे लग्नं, मनो जातं क्वचिन्न मे ॥ ३४ ॥ सच्छास्त्रस्य च सिद्धान्तविधिं

श्रुत्वापि नो भयम् । संसारतारकं श्रुत्वा, ज्ञातं नो कारणं मया ॥ ३५ ॥ स्वाङ्गस्य मयि नो भासो, जातेश्च सुमनोरम. । गुणौघश्च मयि स्वामिन्! विमला नो रतेः कला ॥ ३६ ॥ प्रभुत्वं न च मे जातं, स्वप्नेऽपि दृश्यता प्रभो! तथापि गर्वसंवेशात्करिष्येऽहं कथं हितम् ॥ ३७ ॥ प्रतिक्षणमायुर्ह्रसते, मनस्तापो न यात्यसौ । दु खदा च जराऽवस्था, सम्पन्ना विषयादरात् ॥ ३८ ॥ निवर्तते न चाद्यापि, तस्मात्त्वच्छरणागत· । भेषजेच्छा मदीयाऽस्ति, धर्मवृत्तौ न मे मतिः ॥ ३९ ॥ मोहरूपग्रहाविष्टो, न शिष्ट कोऽपि चाधुना । चैतन्येन समाविष्टो, लभते पद-मव्ययम् ॥ ४० ॥ इत्याद्यमन्यमानोऽहं, गुरो! रक्षां मयि कुरु । सन्मुखे त्वं मदीये हि, स्थितो दैन्यविमोचक· ॥ ४१ ॥ तथापि दीनवाक्यानि, शृणोमि तव सन्निधौ । धिक्कारं मे दयागार! मुधा मे जननं भवे ॥ ४२ ॥ जिनसेवा कृता नैव, सविधिगृहसेवनम् । तथा कर्म कृतं धर्मपालनं न क्वचित्कृतम् ॥ ४३ ॥ दत्त नो दानमत्युग्रं, न चित्ते स्मरणं तव । केवलं त्वयि सलग्नो, यथायोग्यं निशामय ॥ ४४ ॥ नृदेहं दुर्लभं प्राप्य, तन्नाशश्च मया कृत· । यथैकाकी नरोऽरण्ये, रोरवीति मुधा तथा ॥ ४५ ॥ प्रत्यक्षफलदातृत्वाद्धर्म्मं जैनं शुभं सतम् । तत्र जाता च नो प्रीतिर्मदीया दुःखनाशिनी ॥ ४६ ॥ महामौर्ख्यं च मे पश्य, यतो जातं भयं मुहु । कल्पवृक्षं तथा कामदुघा प्राप्य द्वयं मया ॥ ४७ ॥ सहसा दुःखसमूहं च, सहमानेन नाशितम् । दुर्लभं जन्म प्राप्याशु, न मया साधितं तप ॥ ४८ ॥ रोगदु खे निरुद्धे नो, दृष्टौ च सुखभोगकौ । इति मे ह्यपराध च, क्षमस्व कृपया गुरो! ॥ ४९ ॥ अपमृत्युभयापत्तिनाशार्थं न कृतं क्वचित् । कान्ताजनसमासक्तो, धनादे. सङ्ग्रह· कृत. ॥ ५० ॥ कारागृहसमा नारी, नरकागारखलग्रहा । तत्रासक्तमनाश्चाहं, न जिनं ध्यातवान् पुन ॥ ५१ ॥ नो साधितं च साधुत्वं, सद्वृत्तिर्नो धृता मया । अतुला नार्जिता कीर्त्तिर्न परेषु दया कृता ॥ ५२ ॥ परदु ख प्रहाणेच्छा, तथा दीनजने दया । स्वप्नेऽपि नोपकारश्च, कृतं न गुरुसेवनम् ॥ ५३ ॥ रत्नकल्पं नृजन्मादिग्रामीणजनसेवया । नष्टं जातं मुधा विद्वन्! तद्रक्षस्वाधुना गुरो! ॥ ५४ ॥ वैराग्ये च समायाते, शास्त्रज्ञानं न जायते । कोपाविष्टं दुर्जनस्य, वाक्यं मा सोढुमर्हसि ॥ ५५ ॥ आध्यात्मिकी च विद्या नो, नास्त्युत्तमकलाऽपि च । कथं भवाब्धे पार च, गमिष्यामि सुबोधय ॥ ५६ ॥ भवान्तरे चोत्तमं कर्म, न कृतं किञ्चिदुत्तमम् । जन्मान्तरे करिष्यामि, नास्त्याशा मे गुरो! किल ॥ ५७ ॥ जिनदेवेदर्श चाहं,

कष्टं न स्यात्कथं न हि । चोत्तमो यो भवारण्ये, नष्टः सोऽपि प्रजायते ॥५८॥ चरित्रं चानेकविधं, कथं ज्ञेयं मयाऽनघ । मदीयमघमयं वृत्तं, न गुप्तं ते महाप्रभो ! ॥ ५९ ॥ जगत्त्रयस्वरूपस्त्वं, प्रजानासि प्रभो ! ध्रुवम् । मार्गदर्शयिता त्वं हि, मनोऽभिप्रायवित्तथा ॥ ६० ॥ त्वत्समो नास्ति हे नाथ! परो दुःख-प्रणाशक । दुरावस्थामहं प्राप्य, नो याचेऽन्यस्त्रमादपि ॥ ६१ ॥ अर्हन्बोघात्मकं ज्ञानं, याचे त्वत्तो भवापहम् । शिवदो जगतामीश ! प्रार्थनैका प्रसाधय ॥ ६२ ॥ सर्वदुःखान्तरायं च, हर ! ज्ञानं प्रदीयताम् । कस्मिँश्चिद्दिवसे चित्ते, समुत्पन्नं ह्युपगुरौ ॥ ६३ ॥ कलकत्ताऽभिधे रम्ये, मतिर्मे सुलभा भवेत् । यतो जगज्जलाम्भोधे, पारं यास्यामि यत्नतः ॥ ६४ ॥ समितौ सज्जनानां च, चित्तवृत्तं प्रमोदतः । प्रकटं करोमि सर्वज्ञ ! येनाप्यालोचना भवेत् ॥ ६५ ॥ यथा चित्तप्रसादः स्यात्तथा कुरु महामते ! शब्दज्ञानं न मे चास्ति, तथा पिङ्गलछन्दसाम् ॥ ६६ ॥ हंसकल्पो नरो यश्च, स पठेद्धितकाम्यया । वेदाङ्काङ्कमृगाङ्काख्ये, वत्सरे निर्मिता त्वियम् ॥ ६७ ॥ वीरस्तुतेरध्यायस्य, टीका च पुष्पभिक्षुणा । रचिता चेत्थममला, वीरसङ्घस्य तुष्टये ॥ ६८ ॥ **गुरुर्मदीयोऽस्ति फकीरचन्द्रो, ज्ञानं मया लब्धमिदं यतश्च । बोधं च लब्ध्वा सुक्रियां करोमि, ततोऽ*मरत्वं च भवेत्स्फुटं मे ॥ ६९ ॥**

इति श्रीमज्ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसङ्घीयमुनिश्रीफकीरचन्द्रजिच्छिष्यपुष्पभिक्षुविरचिताऽपूर्वशान्तिदाऽऽलोचना पुष्पाञ्जली समाप्ता ।

भगवान् महावीरकी वैराग्य भावना.

हो विर्देज़वां आज महावीर महावीर, हरदम हो लबों पर दमेतकरीर महावीर । आलमकी ज़िया रूहकी तनवीर महावीर, अदराककी जू इल्मकी तसवीर महावीर । आलमके लिए मसारिके खुरशीदेसदाक़त, दुनियाकेलिए मतलए इसरारे हक़ीक़त ॥ १ ॥ इक बार महावीर जबा पर अगर आया, दम हस्तिए यक्ताका पढ़ा क़ल्बपै साया । हर ज़ोफ़ेअक़ीदत का हुआ जड़से सफ़ाया, ज़ंगे अमली रूहकी हस्ती से छुड़ाया । क्या नामथा जिस नाममें

---

* मोक्षमित्यर्थः ।

कुदरतकी झलक थी, क्या ज़ात थी जिस ज़ातमें फ़ितरतकी चमक थी ॥ २ ॥ महसूस हुआ जब इसे दरपेश सफर है, मंज़िल है कड़ी राहमें गुमराही का का डर है। दुनिया जिसे कहते हैं वह इक खानए शर है, आराम कहां दर्दोमुसीवतका यह घर है। सोचा के यह क्या है के हूं खुद में भी इसी में, नाफ़हमी से माखूज़ हूं राहते तल्बी में ॥ ३ ॥ जब गौर किया हस्तीए अशिया नज़र आई, दर असल अजब सैर सरापा नज़र आई। बच्चोंका घरोंदा सा यह दुनिया नज़र आई, मिट मिटके भी होती हुई पैदा नज़र आई। जौहरके अरजका नहीं कुछ ठीक ठिकाना, गिरगटकी तरह रंग बदलता है ज़माना ॥ ४ ॥ **बेसबाती (अनित्यता)** हर रंगेजहां अस्लमें बिजलीकी चमक है, जो शक्ल हवेदा है वह शोलेकी लपक है। गुंचोंकी चटक है न वह फूलोंकी महक है, इक हस्तीएमोहूमकी यों ही सी झलक है। पल भरमें न वह शक्ल न वह शान न सूरत, था वहमे नजर आखने देखी थी जो मूरत ॥ ५ ॥ हर चीज के जिस चीज़पै होनेका गुमा हो, बेहरकतो बेजान हो या साहिबेजा हो। इक शक्ल हो तस्वीर हो हस्तीका निशा हो, कमज़ोर हो शहजोर हो बाताबोतवा हो। वक्त आए तो फिर ज़ोर किसीका नहीं चलता, वह हुक्मेक़ज़ा है के जो टाले नहीं टलता ॥ ६ ॥ कहते हैं जवानी जिसे बचपनकी फ़ना है, पीरी जिसे कहते हैं जवानीकी क़ज़ा है। हर अहदमें इक लुत्फ है हर लुत्फ़ जुदा है, इक लुत्फमें सौ दर्द हैं हरदर्द सिवा हैं। फिर दर्द के राहत कोई क़ायम भी कहीं है, क्या है जिसे "है" कहिए के है भी तो नहीं है ॥ ७ ॥ **बेपनाही (अशरणता)** मादर पिदर व दुख्तरो फ़र्ज़िन्दो बिरदार, याराने वफादार रफीकान दिलावर। ओरंग कुलाहे मही सदकाने जवाहर, इन्सानोंकी फौजें हों के देवोंका हो लश्कर। होनी कभी टलती नहीं आपहुंचे जब इंजाम, हर सुबहके दामनसे है वाबस्ता यहा शाम ॥ ८ ॥ कमज़ोर हो मजबूत हो बाशानो असर हो, मुफलिस हो गदा हो कोई या साहिबेज़र हो। जंगी हो फिरंगी हो कोई रश्के कमर हो, हो खारेनजर सबका के मंजूर नज़र हो। वक्त आया तो फिर नोए दिगर हो नहीं सकता, यमराजके पंजेसे मफर हो नहीं सकता ॥ ९ ॥ मरता है पिसर बापसे रोका नहीं जाता, मा रोती है दम बेटेका थामा नहीं जाता। मुंह तकते हैं सब पाससे घोला नहीं जाता, भाईसे भी भाईको बचाया नहीं

जाता । तदवीर किसी तरह किसीकी नहीं चलती, मौत ऐसी वला है के जो टाले नही टलती ॥ १० ॥ सदक़ा कोई देता है के कुछ रद्देवला हो, पढ़ता है अमल कोई के तासीर दुआ हो । कहता है तवीवोंसे के कुछ ऐसी दवा हो, झूठा किसी सूरतसे कही हुक्मकजा हो । होनी की मगर कोई दुआ है न दवा है, जो होना है आख़िरको वही होके रहा है ॥ ११ ॥ फ़ितरतका तकाज़ा है के होकर ही रहेगा, जो जिसने किया है उसे भोगेगा सहेगा । कुछ डर नही काफ़िर जो मुझे कोई कहेगा, जिस रुखपे वहा जाता है दरिया वह वहेगा । हामी कोई वंदा है किसीका न खुदा है, मसरह है उसी फ़ेलका जो जिसने किया है ॥ १२ ॥ **अज़तरावे दुनिया (संसारता)** इस पर भी तो दिल वक्फ़े तमन्ना व तलव है, राहत जिसे कहते हैं मयस्सर ही वह कव है । इक आरज़ू सौ रजो मुसीवतका सवव है, ओर हसरतें लाखो हैं फ़िर एक एक ग़ज़व है । वह कौन है ? जो शौक़का शेदा नही होता, किस दिलमे यहा खूनेतमन्ना नहीं होता ॥ १३ ॥ मुफ़्लिसको अगर गम है के रोटी नही घरमे, जरदार है मुजतर हविसे दौलतो ज़रमें । इक दर्दकी तस्वीर है इक जौके दिगरमे, राहत न इसे है न उसे आठ पहरमे । इक आख तो फर्जन्दके अरमानमे नम है, औलादकी कसरतसे कही नाकमे दम है ॥ १४ ॥ आराम समझता है कोई मालको जरको, कन्धे लिए फिरता है कोई दुख़्तोपिसर को । रोता है कोई फ़ुरक़ते मज़्ग्नजरको, तामीर कराता है कोई गुम्वदोदरको । यह मेरा है में इसका हूं यह मान रहा है, दुख दर्दके सामानको सुख जान रहा है ॥ १५ ॥ दिल शौक़से रज़्र है और शौक़ फिज़ूं है, आखोंमे जो नम है किसी अरमानका गं है । राहत जिसे कहते हैं वह इक सत्रोमकूं है, हाल आपना मगर फ़ुरतेतमन्ना से जवूं है । इक आरज़ू पूरी हुई सौ करगई पैदा, आराम किसी शक्से मिलने नहीं पाता ॥ १६ ॥ **दुनिया और वहम हमदर्दी (अन्यत्वता)** हर आत्मा दुनियामें अकेली है अज़लसे, । पावद तनासुख़ है मगर वंद अमलसे । मर मरके कहीं छुटती है यह कैद हमलमे, इक कुदरतीसी लटती हुई आती है अजलसे । वीमारीमे आज़िज रही दरमां तलवीसे, जव मरती है तो पाती है छुटजा वलवीसे ॥ १७ ॥ सव झूटे ताल्लुक हैं गलत दवा इखलास, कहनेकी मुहव्वत है दिगावेकी रिफ़ाक़त । वीमारी हो या

मौत हो या दौरे मुसीवत, मुमकिन ही नहीं उसमे किसी गैर की शरकत। मुंह तकते हैं हैरतसे मदद कर नहीं सकते, मा वाप भी वेटेके लिए मर नहीं सकते ॥१८॥ **अलेहदगी वेइलायकी और तनहाई (एकत्वता)** ये महलोमकां हमने जो तामीर किए हैं, यह ऐशका सामान के दम जिसपे दिए हैं। यह लालो गुहर औरोंसे जो छीन लिए हैं, औलाद के जिसके लिए मर-मरके जिए हैं। हम जायँगे ये साथ न जायेंगे हमारे, ये हमसे जुदा हैं यहीं रह जायँगे सारे ॥१९॥ यह रूप यह रंग और यह नक़शा ये ख़त व ख़ाल, है नूरके सांचेमें ढला आइने तमसाल। गो रूहसे मख़लूत नज़र आता है फ़िल-हाल, लेकिन है जुदा जानसे यह जानका जंजाल। यों आत्मा इस पैकरे-ख़ाकी में वसा है, है आइनेमें अक्स मगर उससे जुदा है ॥ २० ॥ **नापाकी और ग़िलाज़त [अशुचिता]** यह पैकरेख़ाकी के हर इक जिसपे फ़िदा है, हर शख्सको मंजूर नज़र जा से सिवा है। कुछ गोश्त है कुछ खून है वलग़मसे भरा है, इक ज़रफ़े ग़िलाज़त है जो झिल्लीसे ढका है। वोल और निजासतके सिवा ख़ाक नहीं है, नापाक है इतना के कमी पाक नहीं है ॥२१॥ मशहूरे ज़माना हो जो हुस्ने नमकीं से, दिल छीन लिया करता है जो शक्ले-हसी से। उसके हो कोई ज़ख्म कटे जिस्म कहीं से, फव्वारह छुटे पीपका और खूका वहीं से। देखे न नज़र चाहनेवालोंकी पलटके, मक्खीके सिवा ग़ैर कोई पास न फटके ॥ २२ ॥ **आमद-ज़र्राते अमल [आस्रवता]** कर देते हैं ज़र्राते अमल रूहको नाचार, फल देके ही टलते हैं ये अग़यार सितमगार। गो कर्म हैं दो किस्मके वदकारो निकोकार, होना ही मगर इनका है सद वाइसे आज़ार। इक इक नुक़्तए रूहपे वैठे हैं हज़ारों, उठता है अगर एक तो आजाते हैं लाखों ॥ २३ ॥ जो टलता है वह खूव झलक अपनी दिखाके, ग़ेजो ग़ज़वो किब्रसे दीवाना वनाके। जज़्वो कशिशे ज़र्गे अमल हदसे वढाके, खुद छोडता है लाखके फंदोंमें फँसाके। वंधती है योंही रूह इस आमदसे अमलकी, गर्दिश नहीं मिटती के यह है रोज़ अज़लकी ॥ २४ ॥ **सद्दे्वाव [संवरता]** अव जव कभी इस मोहका कुछ ज़ोर घटा हो, खुश तालईसे दुश्मनेजा ज़ेर हुआ हो। उस वक्त कोई रहवरे हक़ राहनुमा हो, तव रूहका कुछ होश ठिकाने हो वजा हो। जाने ही न दे ध्यानको ग़ैरोंकी फ़िज़ामें, रोके रविशेइल्मको खुद उसकी ज़ियामें ॥ २५ ॥ **ज़र्राते अमलका इख़राज [निर्जरा]** क्यफ़ूर शवे कुफ़्र हो मिटजाए जहालत, तावां

हो नूरेइल्म बड़े नूरेसदाकत । काबू हो हवासोपे हो दिल महवेरियाज़त, गुप्ति सुमति शील हो सन्तोष हो आदत । यह बाइसे सरगश्तगी फिर आप ही टल जाए, जर्राते अमल रूहके नुक्तोंसे निकलजाऐं ॥ २६ ॥ आमद भी रुके बंदे अमल छूटने लग जाए, फंदेसे खुले दाम कुहन टूटने लगजाए । ये मोह की मदिराका घडा फूटने लगजाए, खुद आतमा अपने ही मज़े लूटने लगजाए । फिर अपना तमाशा हो और अपनी ही नज़र हो, अगियारसे अगियारकी सोहबतसे हज़र हो ॥ २७ ॥ **आलिमे असबाव [संसार]** यह जहा फानी जिसे सब कहते हैं समार, छ द्रव्य इकट्ठे हैं यह इक जावसद इसरार । फाइल [illegible] इनका न कोई मालिको सर्दार, पैदा कभी होते हैं न मिटते हैं ये ज़िनहार । [illegible] से कभी कम और सिवा हो नही सकते, बनते है बिगडते हैं फना हो [illegible] सकते ॥ २८ ॥ पाच इनमे हैं बेहोश तो इक साहिबे अदराक, पाच इनमें [illegible] मता ख़ाली चालाक । चार इनमे जुदा रहते हैं बेलौस सादा पाक, [illegible] मिलते हैं आपसमे तो हो जाते हैं नापाक । इक मादह इक रूह जब [illegible] जाते हैं मग़लूत, गोली न खुले ऐसी गिरह लगती है मज़बूत ॥ २९ ॥ [illegible] के जिनकी कोई रंगत है न सूरत, एक ऐसा के हर हिसको है वह [illegible] । कहते हैं उसे मादह सब अहले बसीरत, जब रूहसे मिलता है [illegible] होती है हालत । जा रूह तो वह जिस्म है और वद अमल है, जो [illegible] के लिए सरमाद अजल है ॥ ३० ॥ वह आग गुलाबीरी वह अनार जो [illegible], [illegible] नज़र जो सारे नातिक फ़िगनी है । मंजूर गरज सबको [illegible] सरेदिलकश इन्हीं दोनोंसे वनी है ।

बेशक्को अशकालमें लाया नहीं जाता, जुज़ कश्फ़ज़मीरी उसे पाया नहीं जाता। इन्कार मगर रूहकी हस्तीसे खता है, हर शैको फ़क़त इल्मने मालूम किया है ॥ ३४ ॥ होशो खिरदो इल्म फ़क़त रूह की है ज़ात, जुज़ रूह किसी और को हासिल नहीं ये वात। लिपटी है अज़लसे जो उसे वंदकी आफ़ात, इनके ही सवव वहकी हुई फिरती है दिन रात। फिर भी सिफ्ते जात कमी जा नहीं सकती, वे होशको होश और खि़रद आ नहीं असकती ॥ ३५ ॥ सव जड़ हैं मगर आत्मा है ज्ञानका भंडार, जो ज्ञान है और इल्म है चेतनका चमत्कार। खुद इल्म भीमालूम का वाहोशो खवरदार, उस ज़ातमें मुमकिन ही नहीं शरकते अगियार। पुद्गलने मगर ज्ञानको आवरण किया है, खुद भूलसे अपनी ये गिरफ़्तारे वला है ॥ ३६ ॥ इक वार अगर भूल कोई इसकी मिटादे, शक्ल आइनेमें इसकी कोई उसको दिखादे। खुद ज़ातका इसकी इसे दीदार करादे, यह वद अमल काटसे फिर दममें उडादे। ज़ायिदनो मुरदनकी वला इक आनमें टलजाए, आज़ाद हो जू इल्मकी वंदिशसे निकल जाए ॥ ३७ ॥ दुनिया है अजव चश्म फ़रेव आइना खा़ना, सौ वार यहा मिलके छुटा ऐशो खज़ाना। यार ऐसे वफ़ादार के वेमिस्लो यगाना, वह हुस्नके जिस हुस्नका मुश्ताक़ ज़माना। मिल जायँ यह आसान है दुश्वार नहीं है, मुश्कल तो फ़क़त ज़ातका अपनी ही यक़ीं है ॥ ३८ ॥ **रूहानियत या सिफ्ते ज़ाति [धर्म]** कहते हैं जिसे धर्म वह कुछ और नहीं है, वस ज़ातका अपनी ही फ़क़त इल्मोयक़ीं है। लारेव है इसमें न चुना और चुनी है, सच ऐसा के रोशन सिफ़्ते मेहरेमवीं है। भटकी है जो आपेसे वही रूह है नाशाद, और सुह्वते यक़जाईसे है गै़रकी वरवाद ॥ ३९ ॥ **परिणाम**—यह राज़की सूरत थी जो पावन्द हया थी, अव उठ गया पर्दा तो वही जल्वहनुमां थी। गो इल्म सरीहीकी अभी जू न ज़िया थी, लेकिन वरके दहरकी तफ़सीर तो या थी। देखा तो इन औराक़ पे यह साफ़ लिखा है, भूला है जो आपेको वह कर्मोंसे वधा है ॥ ४० ॥ **भगवान् विचार**—भगवान् महावीर थे दर असल महावीर, मति-श्रुति-अवधिज्ञानकी थी रूहमें तनवीर। पढते ही यह समझे वरके दहरकी तहरीर, है भूल खुद अपनी सवव ज़िल्लतो तहकीर। सोचा के अब इस मोहको निर्मूल करूंगा, फिर जन्म न हो जिससे वह चारित्र धरूंगा ॥ ४१ ॥ हूं ज्ञान फ़क़त ज्ञानकी जू वनके रहूंगा, मैं दोष हूं वेदोष या पावंद न हूंगा। आज़ाद है फ़ितरत मेरी आज़ाद वनूंगा,

हूं पाक तो अब गै़रकी शरकतसे बचूंगा। वह ज़ात हूं रहता हूं में जो अपनी सफा मे, है अक्सफ़िगन चीज़ हर इक मेरी ज़िया में ॥ ४२ ॥ यह है सिफ़्ते ज़ात मिटाई नहीं जाती, पुद्गलसे किसी तरह दवाई नही जाती। सौ ज़ग लगे फिर भी सफ़ाई नही जाती, यह शान यह एजाजनुमाई नहीं जाती। इस पर मिरी हस्तीमे है इक लुत्फ़ इक आनन्द, और ऐसा के जिसका कोई हमसर है न मानन्द ॥ ४३ ॥ थी भूल के था महवे तमाशाए जहा में, फिरता था तलाशो हविस कामो ज़वा मे। नादान था जो कै़द था इस वंदेगिरा मे, गफ़लत थी ममय्यज़ ही न था सूदो ज़ियामे। आया है जो अब होश तो वेहोश न हूंगा, चिद्रूप हूं चिद्रूप ही मे मगन रहूंगा ॥ ४४ ॥ असवावो तआल्लुक़ जो वज़ाहिर थे किए दूर। दिल शर्मसे मजवूर न जज़वातसे मामूर। था जामए उरिया ही लिवासे तने पुरनूर, जो रूप यथाजात था वस था वही मंजूर। कहने को तसव्वुर था अहिंसा थी दया थी, फ़िलअस्ल वह इक रूह थी और उसमे सिफा थी ॥ ४५ ॥ वह ज़ोर जो था वादे मुख़ालिफ़का रुका था, तूफान जो उठ्ठा था अज़ल से वो थमा था। लहरोंमे जो था शोर वह ख़ामोश हुआ था, उस ज्ञानके सागरमे क़रार आया हुआ था। साकिन जो हुआ आव तो आव आगई ऐसी, साफ उसमे झलकने लगी जो चीज़ थी जैसी ॥ ४६ ॥ यह इल्म सरीही था वस इक ज्ञान था केवल, सूरजसा निकल आया छुटा कर्मका वादल। हर सूक्ष्म-स्थूल हर इक आला व अस्फल, शै उसमे अया थी न था पर्दा कोई हायल। सर्वज्ञ हमादा हुए क्या उनसे छुपा था, जो आलिमे अस्वाव मे था जान लिया था ॥ ४७ ॥ खुश लहजा सदा एक तने पाकसे निकली, थी रूहकी आवाज़ मगर ख़ाकसे निकली। वह ख़ाक भी वेहतर कहीं अफ़लाकसे निकली, मसजूद जौहर साहिवे अदराकसे निकली। सिजदह उसे इन्सान भी करते थे मुल्क भी, फितरतकी ज़िया थी वह हक़ीकतकी झलक थी ॥ ४८ ॥ रूहोंका इधर पुण्य वचनका था उधर जोश, खिरनेलगी जव वर्गना सुननेलगे सव घोश। हर राज़ अया होगया आने लगा सन्तोष, सिजदेमें झुके जिन्नो वशर दोश सरे दोश। हा मेरे **महावीर** इस आवाज़के सदके, इस शक्लका **मायल** हू इस अदाज़के सदके ॥ ४९ ॥

(**फ़कीर मायल**)

मङ्गलाचरणम् ।

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥ १ ॥

रत्नत्रयपुरस्काराः, पञ्चापि परमेष्ठिनः ।
भव्यरत्नाकरानन्दं, कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ॥ २ ॥

[अर्हन् परमेष्ठी] ॐ निखिलभुवनपतिविहितनिरतिशयसपर्य्यापरम्परस्य, परानपेक्ष्यापर्य्यायप्रवृत्तसमस्तार्थावलोकलोचनकेवलज्ञानसाम्राज्यलाञ्छनपञ्चमहाकल्याणाष्टकमहाप्रातिहार्य्यचतुस्त्रिंशदतिशयविराजितस्य, षोडशार्धलक्षणसहस्रांकितदिव्यदेहमाहात्म्यस्य, द्वादशगुणप्रमुखमहामुनिमनःप्रणिधानसंनिधीयमानपरमेश्वरपरमसर्वज्ञादिनामसहस्रस्य, विरहितारिरजोरहःकुहकभावस्य, समवसरणसरोऽवतीर्णजगत्त्रयपुण्डरीकखण्डमार्तण्डमण्डलस्य, दुष्पाराजवंजवीभावजलनिमज्जज्जन्तुजातहस्तावलम्बपरमागमस्य, भक्तिभरविनतविष्टपत्रयीपालमौलिमणिप्रभाभोगनभोविजृम्भमाणचरणनक्षत्रनिकुरुम्बस्य, सरस्वतीवरप्रसादचिन्तामणेर्लक्ष्मीलतानिकेतकल्पानोकहस्य, कीर्तिपोतिकाप्रवर्धनिकामध्ये नीरवीचिपरिचयखलीकारकारणाभिधानपात्रमन्त्रप्रभावस्य, सौभाग्यसौरभसपादनपारिजातप्रसवस्तवकस्य, सौरूप्योत्पत्तिमणिमकरिकाघटनत्रिकटाकारस्य, रत्नत्रयपुरःसरस्य, भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनो भूयो भूयः स्तुतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

नरोरगसुराम्भोजविरोचनरुचिश्रियम् ।
आरोग्याय जिनाधीशं, करोम्यर्चनगोचरम् ॥ १ ॥

[सिद्धपरमेष्ठी] ॐ सहचरसमीचीनचार्वीत्रयविचारगोचरोचित-हिताहितप्रविभागस्य, अत एव परनिरपेक्षतया स्वयंभुवः सलिलान्मु-क्ताफलमिव उपलादिव च कीचनमदेवात्मनः कारणविशेषोपसर्पण-वशादाविर्भूतमखिलवलविलयलब्धात्मस्वभावमसमसहायक्रममवधीरिता-न्यसंनिधिव्यवधानमनवधिमयत्नसाध्यमवसितातिशयसीमानमात्मस्वरूपै-कनिबन्धनमन्तःप्रकाशमध्यासितवन्तमनन्तदर्शनवैशद्यविशेषसाक्षात्कृ-तसकलवस्तुसर्वस्वमनवसानसुखस्रोतसमपर्यन्तवीर्यमचाक्षुषसूक्ष्मावभास-मसदृशाभिनिवेशावगाहमलघुव्यपदेशमपगतबाधापराकारसंक्रममतिवि-शुद्धस्वभावतया, निवृत्ताशेषशारीरद्वारतया च, मनाङ्मुक्तपूर्वावस्थान्त-रमरूपरसगन्धशब्दस्पर्शमशेषभुवमाशिरःशेखरायमाणपदविश्वंभरमुप-शान्तसकलसंसारदोषप्रसरं, परमात्मानमुपेयुषो गुरुणापि प्रतिपन्नगुरु-भावस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा, अपि च—

प्रतकर्म्मविनिर्मुक्तान्नूतकर्म्मविवर्जितान् ।
यत्नतः संस्तुवे सिद्धान्, रत्नत्रयमहीयसः ॥ २ ॥

[आचार्यपरमेष्ठी] ॐ पूज्यतमस्य उदिगेतोतदिकुलशीलगुरु-परम्परोपात्तसमस्तेतिह्यरहस्यसारस्य, अध्ययनाध्यायविनियोगविनयनि-यमोपनयनादिक्रियाकाण्डनिष्णातचित्तस्य चातुर्वर्ण्यसंघप्रवर्धनाधुरंधरस्य, द्विविधात्मधर्मावबोधनविधूतैहिकव्यपेक्षासम्बन्धस्य, सकलवर्णाश्रमसम-यसमाचारविचारोचितवचनप्रपञ्चमरीचिविदलितनिखिलजनतारविन्द-नीमिथ्यात्वमोहान्धकारपटलस्य ज्ञानतपःप्रभावप्रकाशितजिनशासनस्य शिष्यसम्पदाशेषमिव भुवनमुद्धर्तुमुद्यतस्य भगवतो रत्नत्रयस्य पुरःसर-स्याचार्यपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा। अपि च—

विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्य्यकमुपेयुषः ।
आचार्य्यवर्य्यानर्चामि, सञ्चार्य्य हृदयाम्बुजे ॥ १ ॥

[उपाध्यायपरमेष्ठी] ॐ श्रीमद्भगवदर्हद्वदनारविन्दविनिर्गतद्वादशांगचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतपारावारपारङ्गमस्य, अपारसम्परायारण्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गणनिरतविनेयजनशरण्यस्य दुरन्तैकान्तवादमदमषीमलिनपरवादिकरिकण्ठीरवोत्कण्ठकण्ठारवायमाणप्रमाणनयनिक्षेपानुयोगवाग्व्यतिकरस्य, श्रवणग्रहणावगाहनावधारणप्रयोगवाग्मित्वकवित्वगमिकशक्तिविस्मापितविततनरनिलिम्पाम्बरचरचक्रवर्तिसीमन्तप्रीतपर्य्यस्तोत्तंसस्रक्सौरभाधिवासितपादपीठोपकण्ठस्य व्रतविधानवद्धहृदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपरागमपारगान् ।
उपाध्यायानुपासेहमुपायाय श्रुताप्तये ॥ १ ॥

[सर्वसाधुपरमेष्ठी] ॐ विदितवेदितव्यस्य बाह्याभ्यन्तराचरणकरणत्रयविशुद्धित्रिपथगापगाप्रवाहनिर्मूलितमनोजकुजकुटुम्बाडम्बरस्य अमराम्बरचरनितम्बिनीकदम्बनदप्रादुर्भूतमदनमदमकरन्ददुर्दिनविनोदारविन्दचन्द्रायमाणोदितोदितव्रतव्रातातपहसितावर्वाचीयकामनचरित्रच्युतविरञ्चिविरोचनादिवैखानसरसस्य, अनेकशस्त्रिभुवनक्षोभविधायिभिर्मनोगोचरातिचरैराश्चर्य्यप्रभावभूमिभिरनवधारितविधानैस्तैस्तैर्मूलोत्तरगुणग्रामणीभिस्तपःआरम्भैः सकलैहिके सुखसाम्राज्यवरप्रदानावहितायातावधीरितविस्मितोपनतवनदेवतालकालिकुलविलुप्यमानचरणसरसिरुहपरागस्य निर्वाणपथनिष्ठितात्मनो रत्नत्रयस्य पुरःसरस्य भगवतो लोके सर्वसाधुपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

बोधापगाप्रवाहेण, विध्यातानगवह्नयः ।
विध्याराध्यांघ्रयः सन्तु, साध्यबोधाय साधवः ॥ १ ॥

[सम्यग्दर्शनम्] ॐ जिनजिनागमजिनधर्म्मजिनोक्तजीवादितत्त्वावधारणद्वयविजृम्भितनिरतिशयाभिनिवेशाधिष्ठानासु, प्रकाशितशंकाप्राकाम्यावह्लादनकुमतार्तिशल्योद्धारासु, प्रशमसंवेगानुकम्पाऽऽस्तिक्यस्तंभसंभृतासु, स्थितिकरणोपगूहनवात्सल्यप्रभावनोपचरितोत्सवसपर्य्यासु, अनेकत्रिदशविशेषनिर्मापितभूमिकासु, सुकृतचेतःप्रासादपरम्परासु कृतक्रीडाविहारमपि च, यन्निसर्गान्महामुनिमनःपयोधिपरिचितमशेषभरतैरावतविदेहवर्षधरचक्रवर्तिचूडामणिकुलदैवतं, अमरेश्वरमतिदेवतावतंसकल्पवल्लीपल्लवं, अम्बरचरलोकहृदयैकमण्डनं, अपवर्गपुरप्रवेशागण्यपण्यात्मसात्करणसत्यंकारं, अनुलङ्घ्यदुर्घनघटादुर्दिनेष्वपि जन्तुषु, ज्योतिर्लोकादिगतिगर्तपातनमकाण्डभेदनमामनन्ति मनीषिणस्तस्य संसारपादपोच्छेदप्रथमकारणस्य सकलमंगलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यग्दर्शनरत्नस्य पुनः पुनः शुद्धिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

मुक्तिलक्ष्मीलतामूलं, युक्तिश्रीवल्लरीवनम् ।
भक्तितोऽर्हामि सम्यक्त्वं, भुक्तिचिन्तामणिप्रदम् ॥१॥

[सम्यग्ज्ञानरत्नम्] ॐ यन्निखिलभुवनतार्तीयलोचनं, आत्महिताहितविवेकयाथात्म्यावबोधसमासादितसमीचीनभावं, अधिगमसम्यक्त्वरत्नोत्पत्तिस्थानं, अखिलास्वपि दशासु क्षेत्रज्ञस्वभावसाम्राज्यपरमलाञ्छनं, अपि च यस्मिन्निदानीमपि नदीस्नातचेतोभिः सम्यगुपाहितोपयोगसमार्जने द्युमणिमणिदर्पण इव साक्षाद्भवन्ति ते ते भावैकसम्प्रत्ययाः स्वभावक्षेत्रसमयविप्रकर्षिणोऽपि भावास्तस्यात्मलाभनिबन्धभय-

हेतुविहितविचित्रपरिणतिभिः, मतिश्रुतावधिमनःपर्य्यायकेवलैः पञ्च-तयीमवस्थामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरसरस्य भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्नस्य पौनःपुन्येनादरणं करोमीति स्वाहा। अपि च—

नेत्रं हिताहितालोके, सूत्रं धीसौधसाधने ।
पात्रं पूजाविधेः कुर्वे, क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥ १ ॥

[सम्यक्चरित्रम्] ॐ यत्सकललोकालोकावलोकनप्रतिबन्ध-कान्धकारविध्वंसनं, अनवद्यविद्यामन्दाकिनीधरं, अशेषसत्वोत्सवानन्द-चन्द्रोदयं, अखिलव्रतगुप्तिसमितिलतारामपुष्पाकरसमयं, अनल्पफल-प्रदायितरुःकल्पद्रुमप्रसवभूमिमसयोपशमसौमनस्यवृत्तिधैर्य्यप्रधानैरनु-ष्ठीयमानमुशन्ति सद्धीमनाः परमपदप्राप्ते. प्रथममिव सोपानं, तस्य पञ्चतयात्मनः सर्वक्रियोपशमानिशपावनस्य, सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यक्चरित्ररत्नस्य सम्यगवधारणं करो-मीति स्वाहा । अपि च—

धर्मयोगिनरेन्द्रस्य, कर्मवैरिजयार्जने ।
शर्म्मकृत्सर्वतत्वानां, धर्म्मधीर्वृत्तमाश्रये ॥ १ ॥
जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुश्रद्धानबोधरत्नानाम् ।
कृत्वाष्टतयीं स्मृतिं विदधामि ततः स्तवं युक्त्या ॥ २ ॥

अथ समाक्रन्दनकाव्यम् ।

श्रीमद्वन्द्यपदारविन्दयुगलो ध्यानैकध्येयोऽस्ति यो. व्याप्तं येन चरा-चरात्मकमिदं क्षीरं यथा सर्पिषा । यद्धाम्ना तरणिर्विभाति दहनेश्च-
न्द्रतिमिरान्धापहन्तं वन्दे मनसा गिरा च शिरसा [illegible] जिनम्

॥ १ ॥ संसारोरगवैनतेयसदृशो विज्ञानकोशालयः, कल्पद्रुर्वृजिनाटवेश्च हुतभुग् ज्वालजटालवृतः । वीजं धर्मतरोश्च विश्वजलधौ पोतोऽस्ति यस्सेविनां, ध्येयस्तं मुनयो भजन्तु नितरामानन्दकन्दालयम् ॥ २ ॥ पंश्चक्लेशनिरासवासरमणिर्विज्ञानवाराम्बुधिर्भव्याभीष्टशतप्रपूरणविधौ चैतन्यचिन्तामणिः । सज्जैनेप्सितसाधुभक्तिनलिनीव्याक्लेशहेतूदयः, सोऽस्माकं कुरुतात्कषायशमनं श्रीमाँज्जिनेन्द्रः प्रभुः ॥ ३ ॥ जैना भिक्षुवराः ! पिताऽस्ति परमोऽस्माकं हि वीरो जिनो, यो दीपोत्सवसञ्ज्ञके शुभदिने निर्वाणतामाप्तवान् । योऽन्ते नो निगमागमादिजनितज्ञानात्मके चक्षुपी, प्रादात्सयमिनो विधाय सुखदं ध्यायन्त्वतस्तं विभुम् ॥ ४ ॥ धर्मज्ञानचरित्रसयमतपोयोगाङ्गभावानदात्, यो नो जैनमतावरोधनकरप्रध्वंसनार्थं विभुः । हित्वा ताँश्च वयं भवाब्धिपतिताः किञ्चिन्न कर्तुं क्षमास्तस्मादुक्तविधौ समाहितधियो यत्नं च कुर्मो मुहुः ॥ ५ ॥ मायाजालमपास्य चात्मनि मनस्संधीयते योगिभिर्योगाभ्यासतपोऽपरिग्रहबलात्सत्सङ्गतेः सवरात् । ते विप्रा जिनपादपद्मरजसः सेवानुरक्तस्य च, तस्मात्तान् परिहृत्य चैक्यकरणे चेतस्समाधीयताम् ॥ ६ ॥ चक्रे द्वादशधा तपोबलमदो दत्वा तपस्यान्वितान्, द्वारा गुप्तधिया विवेकपटवो जाता विरक्ता यतः । शीलादेर्निलयाश्च चेतनगुणैरात्मीयभावाश्रयास्तस्मादात्मविचारणं मुनिवरा ह्यष्टाङ्गसिद्धिप्रदम् ॥ ७ ॥ स्याद्वादो विदुषां हिताय गदितोऽनेकान्तवादस्तथा, सिद्धान्तप्रतिपादनं मतभिदां येनाक्षयं जायते । सर्वं तच्च विहाय मोहजलधौ मग्ना वयं दुस्तरे, रागद्वेषपङ्कपाकुले च मुनयो भव्यं कुतो नो भवेत् ॥ ८ ॥ मायानिर्म्मितशोकसारविषये वैराग्यमेवाभयं,

१ मिथ्याऽव्रतकषायप्रमत्ताशुभयोगास्रवादयः ।

दत्वा नश्च महाव्रतादिनियमानष्टप्रवाक्यॉस्तथा । ससारे जिनदेवधर्मतरणिं प्रादादथो सयमान्, तं साधुं सुखसागरं प्रतिपदं ध्यायन्त्वतिप्रेमतः ॥ ९ ॥ अहिंसा तथा सत्यमस्तेयमाहुर्महद्ब्रह्मचर्यं सुनिर्वाणहेतुम् । यतस्तत्वबोधस्समुत्पद्यते च, ह्यतो रक्षणीयाश्च ते भिक्षुवर्यैः ॥ १० ॥ यस्यामोघात्मशक्तिं प्रबलगुणगणैर्नो प्रवक्तुं समर्थो, नास्माकं [साधुबोधस्तदनु च कथने तत्स्वरूपस्य तत्वम् । तस्य ज्योतिःप्रवाहं प्रबलगुणकरं वक्तुमीशाः कथंचिन्नो वा घाताख्यशक्तौ मतिरपि सुतरां नेदृगी तादृशी च ॥ ११ ॥ श्रामण्यप्रतिपालनाय सुधिया जातावतारा वयं, कामक्रोधविमोहलोभममतामानावरोधाशयाः । चेतः सघपदारविन्दयुगले जित्वेन्द्रियग्रामकं, संसारानृतभोगरोगशमने विद्यामये धार्य्यताम् ॥ १२ ॥ कामक्रोधविमर्दनेन च पुनर्लोभः समुत्पद्यते, तस्मान्मोहसमुद्भवः स्मृतिहरो विज्ञाननाशस्ततः । पश्चाद्धर्म्मविपर्य्ययोऽनृतमयी भोगैषणा जायत, इत्थं दुःखमये विचित्रविपये जीवोऽनिशं वध्यते ॥ १३ ॥ आदाविन्द्रियनिग्रहे च विपया नश्यन्त्यनायासतः, काये चाल्पपरिग्रहादिशमने ज्ञानोदयो भासते । पश्चात्कर्म्मसमुच्चयप्रणशन धर्म्मे प्रवृत्तिः स्थिरा, तस्मादिन्द्रियसंयमे हि मुनिभिश्चेतः प्रदेय सदा ॥ १४ ॥ तच्छक्तेरात्मयोगात्सकलगुणमयः स्वात्मतापोदयश्च, तस्याग्रे चोत्थितायाः प्रचलति नितरा वर्द्धमानाः समस्ता. । जाते शीले महत्वे सकलगुणविधेः सुप्रवाह नियुज्य, वीर्य्यं चान्तेऽवरोध कृतमतिविमलं मो मनः शान्तिमत्वम् ॥ १५ ॥ चित्तं मे विमलायत जिनवरं लब्ध्वा गुरोर्भावनात्, सेवाभाववर च सयमबल प्रोत्कृष्टमप्रेऽकरोत् । रस्यं

---

१ समितिगुप्तिरूपान् । २ [illegible] । ३ छन्दसे ।

संघबलं प्रतापसहितं कार्यं सुवाक्यार्चनमीर्पाशून्यबलं विघातकबलं तत्वात्मकं धार्यताम् ॥ १६ ॥ धैर्य्येण क्षमया विभान्ति मुनयः कञ्जै-र्यथाम्ब्वाशयाः, सत्यासत्यविमर्शनेन विषयासक्तं मनः शाम्यति । तच्छान्तेः सकलेन्द्रियाणि विषमाच्छाम्यन्त्यसद्भावनात्, साक्षात्कारतरं भवेद्धृदि पुना रूपं परस्यात्मनः ॥ १७ ॥ दृश्यादृश्यभिदापवारणकरे लोलायुपश्चेतसा, सौत्राः सच्चरितामृतादिविलसच्छास्त्राश्रये स्थीयताम् । चार्वाचारविचारसारपटवो येनाखिलाऽभीष्टदा, तस्मिन् ज्ञानमये जगत्य-नुदिन सत्संयमैरन्विताः ॥ १८ ॥ रुद्धं सर्वमनर्थकं भगवता हिंसाबलं नर्कदं, साधूनां प्रबलारिनाशनकरं साध्वीगणानां तथा । तीव्र भावक-षायकादिशमनं तत्वानुरूपं महत्तीर्थं स्थापितवान् स्वनामविजितं सार्थ-क्यमेवं कृतम् ॥ १९ ॥ तत्कालीनगुणानुरूपमभिधां बोधात्मिकीं नूतनां, संघे सस्थितिमेकतां सुमधुरां कृत्वा स्वधर्म्मार्थिने । योग्यत्वं समये विधाय हृदये जाता यतो योगिनः, सूत्रोक्ते वचने कुरुध्वम-निशं विश्वासमेवं मुहुः ॥ २० ॥ येनोद्धातबलं च हिंसकबल पूर्णा-त्मना सम्मुखो, भूत्वा नष्टतरं कृतं सुमनसा रुद्धं च मिथ्याबलम् । शुद्धश्रावकश्राविकागणमयं संस्थाप्य तीर्थं शुभं, श्रीतीर्थङ्करनाम स्वं सुललितं सार्थक्यमेवाकरोत् ॥ २१ ॥ तत्काले जनता स्वधर्मनिरता सङ्घे सदा सम्मता, भावैक्यस्य रसस्य पानमसकृद्यत्पायित प्रेमतः । आज्ञा विश्वहिता सुबोधजननी संस्थापिताऽमानदा, धैर्य्यं शौर्य्यमथा-वलम्ब्य सुखदं प्रद्योतितं नो मुदे ॥ २२ ॥ धैर्य्यादेर्बलधारण च विषयासक्तेन्द्रियाणां गणं, रुद्ध्वा योगतपोऽसिना च जगतो जन्य महा-नर्थदम् । दुःखापायकरे तमोऽपहरणे ज्ञाने मनो दीयतां, स्वाच्चित्तं

१ विगतं घातं यस्मात् । २ सूत्रस्य भावा. सौत्रा ।

सकलेन्द्रियैः सह ततः शान्तं प्रयास विना ॥ २३ ॥ पश्चाच्छान्तिगत मनो न विषये लग्नं कदाचिद्भवेत्पूर्वाचार्य्यवरैः सुसंयमरतैरित्येवमुक्तं पुरा । साधूनां जगदन्तरायशमने मोक्षाप्तये साधनं, हित्वाऽशान्तिकरान् समस्तविषयाश्चेतो गिरौ स्थाप्यताम् ॥ २४ ॥ कामिन्याः कनकात्कषायविषयाद्ये साधवो बिभ्यति, जीवात्राणकरादसत्यवचनाद्ज्ञानकृष्णोरगात् । स्वाद्वन्नाशनत' परिग्रहरताच्चे भव्यभावाशया, लोके भव्यजनानवन्ति सततं सद्बोधतत्वामृतैः ॥ २५ ॥ तेजस्तस्य प्रकाशता गतमदो भव्याशयानां हृदि, काण्डं भीषणवत्त्वमत्र गहनं संस्थापितं संयमे । जैनाचार्य्यवरैः परस्परमथो संस्थाप्य चैक्य चल, सयुक्ताखिलशक्त्यमोघसहिता संघादिविद्युत्प्रभा ॥ २६ ॥ विद्युच्छक्तिरिवारविन्दहृदये प्रोद्भासिता येन नः, सद्धे शक्तिमदोच्चयोऽतिकृपया जाता यतश्चैकता । तां विस्मृत्य च मोहमानममताक्रान्ता वय दु.खिनस्तामुद्भावयितुं मुहुर्यतिवरा यत्ते मनो धीयताम् ॥ २७ ॥ पूर्वाचार्यगणे' परस्परमदश्चैक्य सुसस्थापित, शक्त्यानन्तप्रवाहसद्भुतडितः शक्तिः समुत्पादिता । वीरं शासनमेव निम्नपतित येनोद्धृतं शान्तित, एतावन्नहि किन्तु शासनवरं सवर्द्धितं न्यायतः ॥ २८ ॥ योगासक्तधियो जिनेन्द्रमृदुलाम्भोजांघ्रिसेवारता, मिथ्यात्वादिनिरस्तसर्वविषयाः कारुण्यवन्तो दयाम् । धृत्वा चेतसि वो निधाय च गुरोर्निर्द्वन्द्वपादाम्बुज. व्याख्यानाय निबन्धरूपममल राक्रन्दनाख्य ब्रुवे ॥ २९ ॥ ॥ इति प्रस्तावना ॥ अथाऽनयमयेक्षते च महती हानिः समाजस्य च, भान्यान्मन्दमयादुतावरसुगाधच्छासनाख्यं चलम् । क्षीणत्व प्रतिपद्यतेऽनुदिवसं न ज्ञायते कारण, द्वन्द्वारम्भविधौ च कष्टमधिक संवर्धते हानिकृत् ॥ ३० ॥ ईर्षाकारणतो न कोऽपि कमपि मृते न सम्मन्यते, द्वन्द्वं

मतभेदकारकमिदं चेतस्ततो धावति । विद्याऽपि ह्रसते तथाप्यनयतो धर्मो विलुप्तो भवेन्न्यायान्यायविचारदुर्बलतरो जातोऽधुना बुध्यताम् ॥ ३१ ॥ जातोऽय मतभेदभेदकवशादाचारभेदोऽपि च, संख्या त्रिंशतितोऽपि जातमधिकं किं वर्णयामो वयम् । साम्प्रादायिकभेदवेशकरणादाचारभेदोऽपि च, ज्ञात्वैव शमसाधनेऽनुदिवसं धर्म्मे प्रवृत्तिर्दमे ॥ ३२ ॥ दृष्ट्वेमं विषय च कस्य न मनस्तोदं हितेच्छावतां, प्राप्नोत्यन्तमनन्तशासनवतां केषां मनस्तोकताम् । यात्याधीरतया च हेति सुमहच्छन्दः समुत्पद्यते, जाते सत्यपि साधुचेतसि पुनर्नोत्पद्यते भावना ॥ ३३ ॥ तद्दौर्बल्यमहत्तरं न कुरुते प्रत्येकमत्रान्तरे, सर्वेषां मनसा विचारकरणे नो भेदभावोऽधुना । वासं नो कुरुते परस्परमहो सम्मेलनं नैकतां, नान्येषां हितमीहते शुभधिया कश्चिन्नरः प्रेमतः; दृष्ट्वा चोन्नतकं पदं परजनस्यार्ता भवेयुर्जनाः ॥ ३४ ॥ केषां ज्ञानोपलब्धिर्न भवति सुतरां नास्ति शिक्षोपलब्धिस्त्यक्ता सेवापि नित्या निजमुनिचरणाम्भोजयोः साधुवर्य्यैः । सेवाधर्मोपलापोऽजनि जनहृदयात्स्वप्नतुल्यो नराणां, क्रोधाविष्टैश्च छिन्न प्रतिदिनमखिलं सभ्यमूल विहिंस्त्रैः ॥ ३५ ॥ योऽन्येषां धर्मलोपे प्रबलबलमथो धारयित्वा प्रवृत्तः, प्राप्तुं शिक्षाविभागे प्रचुरसमबलं सबिभर्तुं समर्थः । सोऽनर्थ स्फोटयित्वा रिपुदलगहनं दग्धुमग्निस्वरूपः, कार्यं तस्यापि नित्यं वितरति समये नाभिमानप्रयोगः ॥ ३६ ॥ सम्मेले विलयं गते च कियती सम्भावना दुर्दशा, जातोऽहं पतितो भवे च कियती चाघातसंवेदना । यक्ष्मा मे महती तृतीयजवनी क्रान्तातिदुःखादरा, हा किञ्चिन्नहि मेस्ति तद्विगणना कार्ये प्रसिद्धे सति ॥ ३७ ॥ मानक्रोधपरिग्रहोदयवशाद्धर्म्मक्षयो जायते, तत्क्षीणे जिनदेवशासनबले ह्रासः

समुत्पद्यते । तद्ध्रासे च कलङ्कितं जिनमतं निष्ठा ततो भावना, तस्माद्दोष-समुच्चयापनयने चित्तं समाधीयताम् ॥ ३८ ॥ अस्माकं यदि बोधमस्त्य-वनतेर्मानापमानस्य च, पातस्यैव च वाऽवहेलनजनेर्जाता पराकाष्ठता । लब्धज्ञानबलेऽपि कुम्भश्रवसो निद्रालयाः शेरते, विद्युत्तेजसमग्निजं किमु पुनर्भानूदये तिष्ठति ॥ ३९ ॥ अत्याचारसमुद्भवे च निखिलं नष्टं च भव्यात्मनां, सर्वोपारमयी क्रियापि विपुला नष्टा तथा भावना । शास्त्राणां पठनं प्रणष्टमधिकं जैनावतारे मुनौ, किं कर्तव्यमतः परं मुनिवराः सञ्चिन्तयध्वं हृदा ॥ ४० ॥ शिक्षार्थं बहुशो जनैर्विरचिताः पाठालयाः कालया, नो वा साधुगणैश्च विश्वविदितं संस्थापितं वा क्वचित् । विद्यापीठमनल्पकं यतिवराश्छात्राः पठेयुर्मुदा, ज्ञानाभ्यासकरा नयन्ति सकलं धर्मादिकं श्रेयसे ॥ ४१ ॥ धर्मे नाभिरुचिर्गुरौ न नियतिर्विद्या-श्रमे नो मतिः, तत्सूत्रे पठनादरो न हि रतिः सङ्घे मुनीनां तथा । न्यायान्यायविचारणे न च गतिर्योगाश्रमे नादरः, श्रेयो नश्च कथं भवे-दनुदिनं चेतः परं क्षुभ्यति ॥ ४२ ॥ मोहेनाधिकतृष्णया च महति सञ्जायते नः क्षतिः, वर्द्धन्ते ममतादयोऽहितकरा ज्ञानं ततः क्षीयते । तत्क्षीणे जिनधर्मशर्म्म विलयं यास्यत्यथो भावना, निष्ठा सूत्रसमुद्भवा सुरगुरो लोके कथं स्यात्स्थितिः ॥ ४३ ॥ रागद्वेषविवर्धनेन च मनो न स्यात् स्थिरं चञ्चलं, तद्रोधानयनं विना न विषयाः शाम्यन्ति योगा-श्रयाः । यावत्कर्म्मनिरोधनं न हि भवेत्तावत्कथं भावुक, ज्ञात्वैवं परि-हृत्य रागविषयं साधं बलं सेव्यताम् ॥ ४४ ॥ गर्तेऽशान्तिमये वयं निपतिता कश्चिदलम्बन्धो न हि, सर्वाधारजिनेश्वरोपकरणे नो विस्मृति-र्योग्यता । दत्त तेन ततोऽखिलं च विषयं संलब्धवन्तो मुदा, तत्सर्वं कमनन्यथापहरणं कुर्वन्ति चान्ये नराः ॥ ४५ ॥ सानाजस्य सुरक्षणं

च भवतामाधीनतामागमदेवं चाभ्युदयोऽपि भिक्षुकवरा ज्ञात्वा द्वयो रक्षणम् । संयुक्तेष्टबलं विना न हि भवेत् तद्रक्षणं नालसात्, संयुक्ताभ्युदयप्रतापजनना चैक्यादिकं प्राप्नुयात् ॥ ४६ ॥ पूर्वं देशमवेक्ष्यतां हि कियतीमत्युन्नतिं प्राप्तवान्, तद्देशेऽप्यधिवासिनो हि नितरां स्वार्थाभिमाने रताः । तत्रैक्येन बलेन सज्जनजनाः कुर्वन्ति निष्कण्टकं, राज्यं छत्रधराश्च भोगनिरताश्चैकाधिपत्ये स्थिताः ॥ ४७ ॥ देशेऽस्मिन् दुरवस्थता प्रतिदिनं वृद्धिंगता पश्यत, अत्रत्या विषयोपभोगनिरता जाताः पराधीनताम् । ऐक्याभावपरा न संयमकरा नो दूरदर्शेप्सवो, रागेर्ष्याशयसंयुताश्च सुतरां विज्ञानशून्याशयाः ॥ ४८ ॥ दारिद्र्येण सुखेतरा जनपदा साहाय्यमाप्यान्यतः, दत्तं चान्यजनेन वस्त्रमनिशं सन्धार्य्यते दुःखतः । पश्यामोऽधमदुर्दशां च महतीं भुंज्मः पराधीनतां, बद्धाः शृंखलया वयं परवशाः स्वातन्त्र्यहीनास्तथा ॥ ४९ ॥ पूर्वस्था मनुजाः स्वतन्त्रनिरता राज्यं वहन्त्याहिताः, प्रत्यक्षात्मकसुख्यकेन नियताः सत्यप्रमाणेन च । ऐक्यं चाधिगताः स्वधर्मविलया विख्यातसेवाः पराः, ज्ञात्वैवं समयादिकं न हि भवेत्त्याज्यं कदाचिन्नहि ॥५०॥ जाते वस्तुनि रोदनादिकरणं मिथ्यैव होच्चारणं, पश्चात्तापनिवेशने न हि पुनर्नेत्राश्रुपातं शुभम् । क्षुद्रारादिविकत्थनं किल मुधा सर्वं व्यलीकं त्यजेच्छ्रीमद्वीरजिनानुशासनवरं चोत्थाप्यतां श्रीध्वजः ॥ ५१ ॥ वीरस्वाम्यनुशासनानुसरणं संघैक्यता सेवनं, सूत्रागाधमहोदधेश्च तरणं ज्ञानक्रियाराधनम् । काषायाद्यपवारणं जिनमुनौ सेवार्पणं प्रेमतः, सन्त्येतानि शुभार्थिनामनुदिनं श्रेयःकराण्यग्रतः ॥ ५२ ॥ मृत्युप्रायगतस्य चैक्यसुबलस्योत्थापनं कार्यतां, यद्येकेन समाजकेन समये सामर्थ्यभाजा न हि । धीरत्वेन च यत्नरत्नकरणे चेतः समाधीयतां दार्ढ्यं

निश्चयमाविधाय मनसः शुद्धिर्विधेया पुनः ॥ ५३ ॥ रागैश्चापि परिग्रहैरनुदिन मुक्त्वा भवन्त्वादरात्, सर्वानिष्टकरैर्ममत्ववलिभिः सङ्गः परित्यज्यताम् । स्वश्लाघाकरणे ममत्वकरणे दोषो महाञ्जायते, सर्वस्माद्विषयान्मनोपहरणं श्रेयस्करं स्यात्ततः ॥ ५४ ॥ शास्त्रे वस्त्रे शिष्यवर्गे शरीरे, ग्रामे देशे श्रावके चान्यकार्ये । शोकं मोहं सम्परित्यज्य नैज, स्वायत्ताया नैव ग्राह्यं कदाचित् ॥ ५५ ॥ बोधार्थं जनताहिताय सकलो ग्रन्थो मुदा ह्यर्प्यतां, न स्थाप्यो निकटे कदापि मनसो भारादयं नित्यशः । त्यज्यन्तां प्रियवस्तुनोऽपि नितरां नो कार्यतां सञ्चयो, नित्यैकं वसनं निधाय सुखदं स्वे जीवने रक्षणम् ॥ ५६ ॥ ग्राह्यं मृण्मयमेव भाजनमथो नोऽनल्पमूल्यात्मक, चैकं चाम्बरमेव धारणवरं नान्यन्महर्घ क्वचित् । धार्य्यो नान्यपरिग्रहश्च शयनं भूमिस्थले शोभनं, नो वाच्य परुषाक्षरं क्वचिदथो जातापमानैरपि ॥ ५७ ॥ नो भोक्तव्यमनुत्तम रसरसैर्युक्त सदन्न क्वचित्, गार्हस्थ्यैर्मनुजैर्न सङ्गतिरदः कार्या शुभाकाङ्क्षिभिः । स्थातव्य शुभशासनैः शमदमक्षान्त्यादिभिः सयुतैरेव जैनमुनिं समुन्नतपदारूढं भवेन्नान्यथा ॥ ५८ ॥ स्वातन्त्र्यं समवाप्य चात्मनिहिता शक्तिः समाश्रीयतां, चारित्रं च निरीहता सरलता सत्य निवास वने । एवं संयमता क्षमत्वमनिशं सत्याग्रहत्वं तथा, इत्यादेर्बलशुद्धिभाव्य सकलं स्वातन्त्र्यसञ्चिन्तनम् ॥ ५९ ॥ यत्रानन्तसुख भवत्यनुदिन तां पद्धतिं गच्छत, श्राद्धानां भवनं त्यजन्तु मुनयोऽरण्य गुहां चेच्छत । स्थित्वा तत्र सुसंयम प्रकुरुत नान्योऽस्ति पन्थाऽपरः, सर्वस्मिन् विषये भवन्तु निपुणाः पारंगताः स्यु पुनः ॥ ६० ॥ भगवद्वीरजिनस्य जन्मभवन नित्य भ्रमन्त्वाहिताः, शीताद्यन्वितदेशमार्गपथिको भूत्वा महावेदना । सोढव्या च महोष्णदेशज-

द्दीक्षामात्रविधानकेन नियता मन्त्रं प्रदत्वा मुदा । किञ्चिद्भा-षणयुक्तिशक्तिसहिता भाषात्मिका दीयते, दशवैकालिकनन्दिसूत्रवि-षय उत्तीर्णता चेद्भवेत् ॥ ६९ ॥ नो वैराग्यरतो विचारकर-णेऽदक्षो न विद्यान्वितः, क्षिप्रं श्राद्धजनाय मोहकरणेऽविद्यावशः सत्कथाम् । नो वा जैनमतानुसारचलनो भक्त्या विरक्त्या युतः, (नैवं शिष्यगणोऽतिदीक्षणपरो नो भावशुद्धो रतिः) अन्येभ्यो हठवञ्चनाय नितरां शिष्योऽप्यनिष्टः स्मृतः ॥ ७० ॥ न्यायप्राकृतजन्यकाव्यविषयं सच्छाब्दिकं वा पुनर्दद्याज्ज्ञानमनन्तरं सुमुनये शिष्याय दीक्षामपि । येन स्यात्समितौ सुयोग्यगणना लब्धप्रतिष्ठो भवेन्नो चेत्कर्म्मविगर्हितं च भवता निन्दालयो जायते ॥ ७१ ॥ दृष्ट्वेमां घटनां बुधो हृदि महत्कष्टं मनस्तोदद, हास्य वा विदधाति रोदनमथो वाच्यार्थमेषो जनः । हीनं योग्यतया जनो न मनुते सत्कारमातन्यते, जन्मान्धस्य दिवाकरः प्रकथनं नामात्यनर्थप्रदम् ॥ ७२ ॥ ज्ञानं नैव विभाति यस्य हृदयेऽज्ञानान्धकारापहं, नो शिक्षा विशदा सता न सुखरो भूत्वाऽ-न्यथा वञ्चनम् । लोकान् वञ्चयितु करोति विविधां धूर्त्ता सुवर्त्तिका, जैनानां मतदूषणं प्रकुरुते न स्थापनीयो जनः ॥ ७३ ॥ साङ्गोपाङ्गतया च सूत्रविषये स्याद्वादज्ञाने तथा, छन्दःशास्त्रमन्वि-तेऽन्यविषये ज्ञानं प्रदायाथवा । साधुभ्यश्च परीक्षणं सुनियतं सत्कार-मित्वा पुनः, पश्चाद्धीरपक्षानुसारवशतो दीक्षा प्रदेयाऽन्यथा ॥ ७४ ॥ व्याख्यानप्रतिभाप्रबन्धरचना शिक्षाप्रणाली ततो, धर्माख्यानपरं च भाषणमयी सद्भावना जायते । ज्ञानं न्यायमयं समस्तजनताकल्याण-शङ्करगत, एवं रीतिमुपाश्रयेद्यदि मुनिर्धर्मप्रचारोदयः ॥ ७५ ॥ सद्-धीरनिभिरधर्म्मसरणीमाश्रित्य देशान्तरं, गत्वा शिक्षयितव्य सत्कृत-

दिविपये मोहं समुज्जृम्भते ॥ ८३ ॥ तत्किं हीनं हि जायते भगवतां दीक्षार्थिना लोकतो, लोकाना च धनार्जन परजनश्रेयस्करं ज्ञायताम् । युष्माक परिरक्षितं गतपटं न श्रेयसे पुस्तक, ज्ञात्वैवं ममतां जहत्वनुदिनं भव्यं भवेद्येन च ॥ ८४ ॥ विद्याऽध्यापनकार्यलुप्तमधिकं तत्रापि पाठ्यक्रमो, हा वो हानिकरी विभाति कियती संख्या विरामस्य च । नोऽवस्था सुव्रतग्रहस्य नियता नो वा व्रतादेस्तथा, न स्वस्यापि गुरोर्विचारमननं कुर्वन्ति काऽन्यत्कथा ॥ ८५ ॥ यच्छास्त्राणि च पुस्तकानि पठने चोपक्रमात्पाठने, तानीर्षाममतावशाद्बहिगृहे ग्रंथिं विधायाग्रतः । नष्टप्रायगतानि विश्वजलधौ नोद्घाटयन्त्यालसात्, शिष्येण प्रतिवासरं च गुरवोऽन्योन्य प्रयुध्यन्त्यतः ॥ ८६ ॥ वैरं भावगताः परस्परमहो प्रेमोच्चकाधःपतन्, लोकान्तानि निजानि संकलुषयन् यान्त्या विनायासतः । ज्ञात्वेमां च दशां मदीयमनसि स्याद्दुःखसङ्गं पुनर्जैनाचारसुशास्त्रतत्वमननात्स्वाध्यायवृद्धिर्भवेत् ॥ ८७ ॥ नीतिन्यायप्रमाणतत्वनिखिलात् सर्व विरुद्धं मतं, कोऽपि प्रीतिपुरःसरं न कुरुते धर्मोखिल सज्जनः । तेनाधःपतनं मतादिविहितं धर्म्माच्च यायान्मुहुस्तेनाऽहं च करोमि चिन्तनमहो धर्मस्य वृद्धिः कथम् ॥ ८८ ॥ शवालयगतौ यद्वत्सारमेयौ परस्परम् । युध्यन्तः साधवस्तद्वत्, युध्यन्ति प्रीतिमन्तरा ॥ ८९ ॥ अतोऽस्माक च साधुत्वं, गतं नास्त्यत्र भावना । दुर्दशा कीदृशी जाता, स्वधर्मो निधनं गतः ॥ ८९ ॥ येनालाप वर्धते ज्ञानशक्तिर्यस्याधारान्नीतितत्वावबोधः । स्वाध्यायस्यामल्परतं वदन्ति, शान्तिर्दान्तिर्ज्ञानरूपे परेशे ॥ ९० ॥ तच्चेदानीं नाशभाव प्रयाति, नो वा शुद्धि संयमादेश्च प्राप्ति । तद्द्वारा वा नैव लोपो न भावत्वलाच्छात्र साधवोऽप्यात्मपार्श्वे ॥ ९१ ॥ तद्वद्गन्थाँल्लो-

ककल्याणहेतोर्लोके धर्म्मप्राप्तये वै वहन्तु । येन स्यान्नो रक्षणं संयमादेर्न स्याद्धानिः कार्यसिद्धौ मुनीशाः ॥ ९२ ॥ तस्मात्सर्वान् भारतीगेहमध्ये, सन्तो ग्रन्थान् स्थापयन्तु प्रयत्नात् । येन स्याद्वै सर्वलोकोपकारो, ज्ञात्वैवं वै नो विलम्ब हि कार्यम् ॥ ९३ ॥ शुद्धस्फाटिकवत्सरोजहृदयो विद्याकलावारिधिर्भाव्यस्तापत्रयापहो गुणनिधिः शिष्येष्टकामप्रदः । यद्येतादृशभावधारणकरः स्याच्चेद्गुरुः क्षिप्रतः, शिष्यारिष्टनिनाशनं च भवतान्नास्त्यत्र सन्देहकः ॥ ९४ ॥ एवं भिक्षुवराश्च शिष्यरचने क्लेशप्रदा वः प्रथा, यः कश्चिद्भवति प्रदीक्षणपरः स्यात्तस्य दीक्षेच्छया । कायात्पारदवद्बहिः प्रसरते वार्ता स्फुटान्नित्यशः, श्रुत्वाऽनेकवरिष्ठसाधुचतुराः स्वास्यात्क्षरन्त्यम्बु च ॥ ९५ ॥ यत्नेनायमतद्विदो यदि भवेन्मे स्याद्वरः शिष्यकस्तस्यापि प्रभवेत्सुजीवनवरं लोके च धन्यो जनः । अन्ते सिद्धिकृतेऽन्तरस्थघटको दुर्वासनां वर्द्धयेत्, नाशार्थं समये सुसंयमयमान्नित्यं यतन्ते मुहुः ॥ ९६ ॥ संग्रहः पुस्तकानां यो, दोषो वर्वर्ति तद्विदाम् । शिष्याणां करणे तद्वन्महान् दोषो हि जायते ॥ ९७ ॥ मातापित्रोर्विनाज्ञां च, व्ययं दीक्षोत्सवे बहु । अपव्ययमपि कर्तुं, प्रेरयन्ति मुहुर्मुहुः ॥ ९८ ॥ भिक्षवः शिष्यतृष्णातो, नश्यन्ति धर्मकर्मतः । स्वगौरवं व्रतं चापि, नाशयन्ति मुधा स्वतः ॥ ९९ ॥ रोगस्यास्येयमस्तीह, शान्तिः श्रीस्वामिनो वरा । महावीरस्य संघस्य, सेवा सर्वार्थसाधिनी ॥ १०० ॥ सम्प्रदायानुरोधेन, संयमादेश्च सेवनम् । गच्छवादं गुरोर्वादं, शिष्यवादं विवर्जयेत् ॥ १०१ ॥ भारतस्याखिलस्यैकमुख्याचार्य्यो भवेद्ध्रुवम् । भूत्वा तस्यैव शिष्यास्तु, तदाज्ञां पालयन्तु च ॥ १०२ ॥ यः कश्चिद्दीक्षणं

१ सार्वजनिकपुस्तकालये ।

प्राप्तुं, समीहेत मुदान्वितः । स्वदेशे संयमं दीक्षां, निर्वेदेन च धार-
येत् ॥ १०३ ॥ तदा व्यवस्था सन्मार्गे, गत्वोन्नतपदं ततः । गच्छेच्च
शिवसम्प्राप्तिः, सर्वेषां नो भविष्यति ॥ १०४ ॥ सङ्घे चैकः स्थाप-
नीयो गणेशः, सर्वानर्थान् वेदितुं यः समर्थः । येन स्यान्नः सम्प्रदा-
यानुरोधाद्धर्मे वृद्धिश्चिन्त्यतां भिक्षुवर्य्यैः ॥ १०५ ॥ कश्चित्समाजस्य
महत्पदास्पदं, विभर्तुमिच्छेत् किल तस्य वागुराम् । कर्तुं करे स्वस्य
सदेषणास्ति वा, प्रगृह्यतां चेद्धरिवर्ति शक्तिः ॥ १०६ ॥ कश्चित्स्वयं
सर्वसमाजकार्यकर्ता तथा धारयिता बुभूषुः । तथा व्यवस्थापि समाज-
शक्तौ, स्वशक्तिमास्थापयितुं प्रवृत्तः ॥ १०७ ॥ कस्यापि चेच्छास्ति
समाजनेता, सदा भवेयं च नुशासकोऽपि । एतद्धितेच्छा च प्रवर्ध-
तेऽनिशं, सर्वस्वमेवास्तु मयि प्रपन्ने, ॥ १०८ ॥ यदीदृशीच्छा परि-
वर्तते तदा, समाजलोपोऽपि भवेद्धि शीघ्रम् । इत्थं समाजस्य च
दुर्दशा भवेद्विचिन्त्यतां जैनमुनिप्रवीणैः ॥ १०९ ॥ [illegible]पदो-
न्नताद्धि पतनं निम्नं समाजस्य च, एवं गौरवनाशतां परिव्रजेत् सर्वे
भवेयुस्त्वरम् । दुःखार्ता जिनदेवभक्तिनिरता धर्मोऽपि नाशं व्रजेत्,
ज्ञात्वैव जिनशासनोऽनुदिवसं तद्रक्षणे स्थीयताम् ॥ ११० ॥ येनो-
ऽनेन समाजभोगविषये बुद्धिगतो नित्यशः. [illegible]
तितो नष्टाऽधुना दृश्यते । सर्वेषां हि महत्त्वतत्त्वविषये ज्ञानेषणा
सर्वतो. मानं ज्ञानप्रपादने निपतितं मिथ्याप्रलापो मिथः ॥ १११ ॥
भिक्षूणामभिमानमागमधिकं [illegible]
जातं सर्वं ध्रुवम् । [illegible]
[illegible], तेनैवाद्य समाजोऽपि नितरां [illegible] ॥ ११२ ॥

---

१ [illegible]

दुःखाद्रोगमयाद्भवन्तु मुनयश्चैतन्यभावाः पुरः, सर्वेऽन्योन्यगताश्च स्वीय सुकृतावेकं गुरुं कुर्वताम् । स्वादर्शं सकलागमैश्च हितकृत् सम्मान्यतां प्रेमतो, निश्चिन्तां मनसा सुजैनमुनयो हीमां व्यवस्थां गताः ॥११३॥ यो दीक्षास्थविरोऽथवा श्रुतवरो यः सच्चरित्रे रतो, यो वा योगकरो समाधिनिरतस्तं सेवयन्त्वादरात् । भक्तिं तत्र वहन्तु जैनमुनयः प्रेम्णा तथाऽन्यैर्जैनैः, प्रेमोत्पन्नमयैः सुधारसमथो कुर्वन्तु सद्भावनाम् ॥११४॥

॥ इति ममाक्रन्दनकाव्यस्य पूर्वार्द्धं समाप्तम् ॥

ममाक्रन्दनकाव्यस्योत्तरार्द्धम् ।

नत्वा *जिनेन्द्रमवलम्ब्य च तत्पदाब्जं, संसारशापत्रयतापहरं वरेण्यम् । श्राद्धोदयाय मुनिधर्मविवर्द्धनाय, भक्त्या करोमि सरलं च निबन्धमेनम् ॥ १ ॥ अये ! साधो ! दैवाद्धृतनरशरीरश्च सुभगं, महावीरं सेव्याम्बुजचरणमाधिप्रशमनम् । भवाम्भोधौ पोतं विषयमृगतृष्णापहरणं, भजन्ते नो कस्मादरिदलसुकक्षानलसमम् ॥ २ ॥ भिक्षार्थिनो मुनिवराः समयेऽद्य शश्वद्धर्म्मोपदेशकरणे न च वृत्तपत्रैः । तन्वन्ति लेखकरणाज्जिनपुस्तकानां, श्रीवर्धमानकरुणाकरशुभ्रकीर्तिम् ॥ ३ ॥ समाजसंघं परिपक्वतां दशां, नयन्ति तेषामुपकारवृत्तयः । सुमाननीयाः शुभकृत्यशक्तयस्तथैव चानुकृतिरद्य कार्या ॥ ४ ॥ तत्संघसम्मेलनसुप्रचारे, सहायता चापि मुदैव देया । तत्सम्प्रचारे निरतैस्तपस्विभिर्हेयोऽभिमानादिपरिग्रहश्च ॥ ५ ॥ तत्संघसेवामनिशं विदध्युर्दासत्वमादाय वदेयुरेवम् । मानापमाने न च तापहर्षौ, कुर्वन्तु जैनाश्रमवासिनश्च ॥ ६ ॥ नेच्छेयुरन्यत्र पदं प्रगल्भं, नो मानपत्रेऽ-

---

* रागाद्यरीन् यो जयति स जिन 'इण्षिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक्' इत्युणादेः ।

भिरुचिं विदध्युः । लोकान्तरप्राप्तिनिमित्तभूतसज्ज्ञानकर्मादिकरा भवन्तु ॥ ७ ॥ अत्रान्तरे मानवल त्यजेयुः, सत्साधुसेवा नितरां विशेषा । सत्वात्मिकां वृत्तिमनूपसृत्य, मनश्च स्वाध्यायवले नियुज्य ॥८॥ स्वजीवनेनाद्यसमाजसेवा, रश्मिं गृहित्वा परिरक्षणीया । निश्चित्य चित्तेन समाजवृन्दे, साहाय्यदानं करणीयमाशु ॥ ९ ॥ अथाभ्याख्यानप्रहरणम् ॥ सन्दृश्यते भिक्षुवरा[१] मयाद्य, किञ्चिद्विकारान्वितसाधुभावाः । तेषां च जाते परिवर्तनादिक, कुत्सान्वितं तेन विचारणीयम् ॥ १० ॥ दुष्टस्वभावान् कथयन्ति चान्यान्, कुर्वन्ति स्वस्यैव प्रशसन च । विद्वत्सु दोष परिभावयन्ति, गुणं पिधायाथ गुण स्वकीयम् ॥ ११ ॥ प्रकाशयन्ते च स्वकीयदोष, पिधाय ते सयमिन. वरिष्ठाः । निन्दन्ति ते दुष्कृतिनोऽभिमानात्समाजभाजः प्रवदन्त्यसिद्धान् ॥ १२ ॥ यदापरं तु वरिवर्ति शक्तिस्तदेनरम्यान् गुणदिव्यसधान् । आच्छिद्य सिद्धप्रवरा भवेम, इति प्रजल्पन्ति विचारशून्याः ॥ १३ ॥ मदीयेऽत्र काये यदि शक्तिरम्या. जगन्मात्रजानान् गुणानाविच्छिद्य । स्वकीये तनौ स्थापयित्वा वरिष्ठो, भवेयं तदा सर्वतो माननीयः ॥ १४ ॥ परन्त्वस्ति मन्ये न चेदृग् बलं वा, न विज्ञानशक्तिर्विधातु कुतः स्यात् । परेषां च निन्दाभिधानं कुर्वन, फल मन्यते शापपत्रादिफलम् ॥ १५ ॥ अयेऽभ्यक्ष निन्दे ! न त्वदा पद ते. जिगाय गल साधुरूपे प्रवेशः । कृतर्ने न जाने तदा दूरलत्वा. त्यजेद्धीना मानवन्तो भवन्तु ॥ १६ ॥ अये पापिनि त्वदृते [illegible]नाशो. [illegible] नो [illegible] । [illegible] न [illegible] [illegible] ॥ १७ ॥ [illegible] ! [illegible] ! [illegible] । [illegible]

लने च, सुजाते सुरम्ये कुतस्तेऽत्र वासः ॥ १८ ॥ सदा सर्यतामद्य ते न प्रवेशो, वय वञ्चिता ज्ञानिनोऽज्ञातसंगाः । मुखं पश्यतेऽग्रे च संमेलनं नो, भविष्यत्यनायासतश्चाजमेरे ॥ १९ ॥ न याचेऽतिरिक्तं समाजान्मुनीनां, मनो मे प्रसक्तं समाजप्रसङ्गे । अतो धारणीयं मनस्तस्य सिद्धौ, यतो नो भवेद्धर्म्मलाभो मुनीशाः ॥ २० ॥ वयं चाद्य (सं) भोगान्मुदोद्घाटयिष्यामहे द्वादशाख्यान् सदा प्रेमभावात् । अरण्ये निवासाय यत्नं विधाय, तनावेकवस्त्रं मुहुर्धारणीयम् ॥ २१ ॥ मृदा निर्मित पात्रमेकं सदैव, ध्रुव धारणीयं गृहस्थैः समं नो । कदाचिद्विधेयाऽशुभा सङ्गतिश्च, दलं प्रेषणं वर्जनीयं तथैव ॥ २२ ॥ सुखावासिहेतोश्च कर्तव्यमेवं, मिताहारमेकत्र काले वरीयः । मिलित्वा च सांवत्सरं पर्वचैकं, वय चाखिलाः साधवो यत्नतश्च ॥ २३ ॥ सदाऽऽचार्यवर्य्योऽखिलानां मुनीनां, बुधैको भवेच्छिष्यशिक्षाप्रदायी । त्यजेयुर्विचारे च यं भेदवाद, करिष्यामहे ज्ञानविज्ञानवादम् ॥ २४ ॥ अहो ज्ञानरूपेऽथ गङ्गाप्रवाहे, सदुत्साहशक्तिं च कुर्मोऽतिहर्षात् । समाजेऽत्र सर्वे मिलित्वा त्वदीय, बहिष्कारमेवं करिष्यामहे च ॥ २५॥ यदा ते भवेन्मूलभग्नोऽद्य निन्दे! कथं त्वं समाजे च तिष्ठेर्वदेर्नः । यदा ते च्युतिस्स्वाधिकाराद्भवेच्चेत्, तदा ते क्व यानं भवेद्ब्रूहि क्षिप्रम् ॥ २६ ॥ सुसम्मेलनस्य प्रसगे बलेन, बहिष्कारभावो न जातः कदाचित् । स्मर ! त्वं मुखं नावलोके त्वदीयं, स्वकीयं तथा नैव सन्दर्शयामि ॥ २७ ॥ तथा नैव केनापि साकं वदामि, तदा मौनमाधाय तिष्ठामि शश्वद् । गतं वैमनस्यं शरीराच्च मेऽद्य, त्वयि निन्दनीये गते जैनसघात् ॥ २८ ॥ यदा द्रोहबुद्धिस्तदा ते निवासोऽन्यथा त्व प्रयाहीति संघान्मुनीनाम् । जगद्वंचितुं नो वितिष्ठस्व निन्दे ! निव-

र्तस्य तूर्णं वने पर्वते वा ॥ २९ ॥ इतः पेषणं ते करिष्यन्ति लोका, अतोऽन्यत्र गन्तव्यमेवं विचार्य । न वा भद्रमत्राधिवासे वलिष्ठे, जगच्चे करिष्यत्यहोऽनादरं हि ॥ ३० ॥ भवद्भिर्मुखात्स्वाच्च त्याज्या वरिष्ठैस्तपस्यावलं संयमादेर्बलं च । तथा संघसेवा बलं चात्मनोऽपि, भवेन्नष्टमेवं हि सर्वस्वनाशः ॥ ३१ ॥ मया निश्चय दीयतेऽद्य भवद्भिः, परित्यज्य निन्दां सकर्तव्यतां हि । तथेर्ष्याभयं क्रोधमात्सर्य्यमेवं, समाहृत्य धर्म्मं चरेयुर्विरक्तिम् ॥ ३२ ॥ [अथाऽपलापविषये] यदा कश्चिदायाति पार्श्वे स्वकीये, तमुत्थाप्य हस्तेन चोर्द्ध (हर्म्य) नयन्ति । तथैकान्तगेहे च तेनैव वार्ताऽपलापं प्रकुर्वन्ति मोदैः प्रमोदैः ॥ ३३ ॥ विनाज्ञानसम्पन्नमेकं स्वशिष्यं, विधायाथवा द्वारपालं स्वकीयम् । विनोदेन कुर्वन्ति कार्य्यं विगर्हमहो वर्त्तते कीदृशी साधुवृत्तिः ॥३४॥ मुखे चानने चक्षुषा चक्षुरेवं, तथा कर्णके कर्णवृत्तिं निधाय । करोत्याहितः किञ्चिदात्मानुकूलामनिष्टप्रदां सर्वनाशाय वार्ताम् ॥ ३५ ॥ निन्दा यस्य मुखेऽस्ति तापसजनाः सत्कर्म्मतो धर्म्मतो, भ्रश्यत्यत्र च तस्य नश्यति तपो ज्ञानं पुनः संयमः । तस्मात्ता परिहृत्य संयमपरैश्चित्तं समाजे मुहु. । संस्थाप्योत्तमकर्म्मसेवनपरैर्जैने मते दीयताम् ॥ ३६ ॥ यदैकस्मिन् स्थाने निवसति मुनिस्तत्र न परान् । समाजस्थान् साधून् न हि हितकरानाहितप्रिय. ॥ निवासार्थान् रागान्निजनिकटतो दूरयति च । तथा वार्तालापं तैः सह स्नेहं नैव कुरुते ॥ २७ ॥ समानीतं तैश्च मधुरजलमन्नं न भुङ्क्ते । न चाऽऽतिथ्यं तेषां न च किमपि सत्कारकरणम् ॥ परं चैवं ज्ञात्वा परमतरतान्तृप्तहृदय. । अहं वै पश्यामि मतमपि च तेषा मतिहरन् ॥ २८ ॥ यथा श्वाऽन्यश्वानं परमनिजकोपेन निकटं ।

ममायं भक्ष्यांशं किमपि न हि चात्तुं प्रभवतु ॥ विचार्येत्थं शब्दैर्विकलमनसा दूरयति च । मुनीनां संघेऽयं भवति कलहो द्वेषमनसा ॥ ३९ ॥ प्रसन्नोऽयं दृष्ट्वा नहि भवति कश्चिन्मुनिवरस्तथाऽन्योन्यं द्वेषं विषममतिनोत्पाद्य कुरुते ॥ पशव्येयं नीतिर्न हि न हि न जाने कथमगात् । इतः श्रेष्ठश्छागः कपिरपि कपोताश्च सुधियः ॥ ४० ॥ मिलित्वेमेऽन्योन्यं समयमनसा रक्षणमहो । सदा कुर्वन्त्यन्ये विषयसुखभोगेऽपि नितराम् ॥ सहाया जायन्ते इति मनसि निश्चित्य भवतो, (परं द्वेषा युक्ताः सुखदगुणवन्तो मुनिजनाः) विलुम्पन्त्या शक्त्या विषयगुणभोगैकनिपुणाः ॥४१॥ [अथ शान्तिकराष्टकम्]
न वा साधुवृत्तिर्न वा कोपशान्तिर्न वा संयमादौ प्रवृत्तिर्मुनीनाम् । न हि ज्ञानसिद्धिर्न विज्ञानवृद्धिः, कथ जैनसंघे निवृत्तिर्जनानाम् ॥ ४२ ॥ गता संघभक्तिर्गतश्चित्तरोधो, गतं चात्मतत्वं गतं शुक्लध्यानम् । इदानींतनानां मुनीनां प्रवृत्तिः, सुखे शायके चाशने शिष्यवर्गे ॥ ४३ ॥ गताऽऽध्यात्मविद्या गताऽऽनन्दवृत्तिर्गता भावभक्तिर्गता संघचिता । गता भिक्षुसेवा गता धर्मवृद्धिर्गता शान्तचर्य्या निवृत्तिः शुभा न ॥४४॥ गत ज्ञानगम्यं परं धैर्य्यरूपं, यतो नस्ततोऽतो भवेद्धर्म्महानिः । कथं स्याद्भवाम्भोधिपारं मुनीशा, विना सत्क्रियां चिन्तयध्व मनस्तः ॥४५॥ सदा शिष्यलोभाश्रये नः प्रवृत्तिर्न वा चिन्तनं कोविदानां च सङ्गे । अनेकान्तसिद्धान्तस्वाध्यायहीना, मनोरोधने नो गतिर्वा कथं स्यात् ॥४६॥ गता जैनसंघाद्दया साधुभावाद्गतो न्यायसिद्धान्तजन्यो विचारः । सुसम्यक्त्वमानन्दकन्दालयं नो, धृतं नैव चित्ते कदाचिन्मुनीन्द्रैः ॥ ४७ ॥ अस्वाध्यायतोऽज्ञानवृद्धिप्रसङ्गाद्गतं ध्येयरूपं सुसम्यक्त्वतत्वम् । सदा चिन्त्यते केन भव्यं भवेर्नस्तथा सेवनीयं सदा संघ-

साम्यम् ॥ ४८ ॥ न वाऽरण्यवासो न वा त्यागशक्तिर्न वा चावनं धर्मतत्वस्य शश्वत् । वरीवर्ति चिन्तोदरार्थं सदैव, अतोऽहं तपाम्यात्त-भावं यतीशाः ! ॥ ४९ ॥ भजन्त्वाहिता देवदेवं जिनेशं, यतो जायते दुःखमूलस्य भगः । तथा संवृतौ प्रेमभावो निवृत्तिर्भवांभोधितो ज्ञायतां साधुवृन्दैः ॥ ५० ॥ गता मोक्षप्राप्तिर्गता लब्धिशक्तिर्गता रे गता रे जिनेशस्य भक्तिः । मुनीनामिदानींतनानां प्रवृत्तिः, सुखे शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५१ ॥ गतं वस्तपो योगचर्य्यापि नास्ति, गतो ध्यानस्वाध्याययोगोऽपि दूरम् । गतः सूत्रपाठो गतं न्याय-सूत्रं, न स्याद्वादवादे रुचिर्वा कदाचित् ॥ ५२ ॥ गतोऽध्यात्मवादोऽल्पितो जैनसंघो, गतं रे ! गतं रे ! गतं प्राकृतत्वम् । इदानींतनानां मुनीनां प्रवृत्तिः, सुखे शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५३ ॥ [**अथापाय-निवृत्तेरुपायः**] रे चित्त ! चिन्तय जिनाम्बुजपादरेणुं, पारं गमिष्यसि सुखेन यतो भवाब्धेः । शिष्यादयोऽन्यजनता न हि ते सहायाः, सर्वं विलोकय मुने ? मृगतृष्णिकाभम् ॥ ५४ ॥ संसारसागर-मगाधमगम्यपारं, श्रीमज्जिनेन्द्रचरणाम्बुजश्रद्धया वा । उल्लङ्घयिष्यति सुखेन च ते प्रयासस्तस्मात्कुरुष्व मुनिभक्तिमघौघहर्त्रीम् ॥ ५५ ॥ सुखे दुःखे किञ्चिन्न भवति समाजान्तरमुनेः, सहायो रागान्धो निज-हठधरो द्वेषनिरतः । तथा विद्याभ्यासं प्रतिपदवमन् द्वेषमनिशं, घृणा तद्वल्लोके निजमतिविरोधेन तनुते ॥ ५६ ॥ जना उच्चैर्हासं विदधति घृणापात्रमिति वो, न वा संघप्रीतिर्न च सहनिवासं प्रकुरुते । अतो मोहस्पर्द्धैर्निखिलमतके नैव भवतां, सुजात वन्धत्वं दृढतरसुरज्वा मुनिवराः ॥ ५७ ॥ यदा वृद्धिर्मोहावृतिरपि कथ शान्तिरधुना, न वा जाताशा नः पुनरपि सहावासकरणे । निवृत्ते-

मोहस्य कथमखिललोकानुसरणे, विचार्य्यैवं सन्तः कुरुत मुनयो मोह-शमनम् ॥ ५८ ॥ कुरीतीनां नाशो भवति हि च रूढेरपि तथा, सहावासः पश्चादनुभवजविज्ञानमभवत् । तदा प्रेम्णाऽऽमोदैः सह दमशमादेः सुकरणं, जनाधारे जैने निवसति सदा चित्तमचलम् ॥५९॥ स साम्योत्कर्षे वा भवति सहवासस्य जनकं, परं च ज्ञानस्योत्कटकमपि तस्यास्ति फलदम् । यदाऽभ्यासासक्तं मुनिमपि वदन्त्याहितजनाः, समं केन स्पर्द्धा निगमसकलाऽध्यात्मविदुषा ॥ ६० ॥ सुविद्यावृ-द्ध्यर्थं यदि मनसि चिन्ताऽप्युदयते । तदा स्पर्द्धावृद्धिर्निखिलमुनिसवे विलसति । तदा विद्यालाभो भवति मुनिवृन्दैरधिगता । भवे विख्यातिः स्यान्निजनिजमताचारवशतः ॥ ६१ ॥ विना स्पर्द्धां नापि प्रसरति समुत्साहविषयः । सहावासे चैवं न लगति मनश्चंचलतया । विनान्तः स्वाध्याये न वसति धियो वृत्तिरचला । ततो विद्यालाभो भवति विदुषां-मोदसहितः ॥ ६२ ॥ सहाध्यायिनं वा सहावासिनं वा, विनाधीत-विद्याविनोदप्रचारः । सहाचारिणं चान्तरा नो विचारी, ततो नो भवे-च्छास्त्रतत्वाववोधः ॥ ६३ ॥ तथा नावलोको भवेच्छास्त्रचर्या, विना तत्कृते नैव पुष्टिं प्रयाति । न काठिन्यकं स्थायिभावं तथैव, चिरं चित्तभित्तौ मुहुश्चिन्तयध्वम् ॥ ६४ ॥ तथाऽध्ययनतोऽध्यापनाद्वा विचा-रात्समुत्पद्यतेऽपूर्वशक्तिप्रवाहः । यदैकत्रवासो मिलित्वाऽखिलानां, तदा यत्र येषां प्रवेशोऽधिकोऽस्ति ॥ ६५ ॥ प्रवीणोऽथवा वै विशेषाधि-कारी, सहाचारिणे वा सहाध्यायिने च । सहावासिने वा प्रवीणं करोति, भवेत्तस्य सौख्यं नितान्तं मुनीनाम् ॥ ६६ ॥ स्वकीयेन तुल्यं च योग्यं विधाय, समाजे समुत्तेजना वै करोति । अतो भेदभावं परित्यज्य शक्तिं, स्वकीयां तथा योग्यतां सन्तनोतु ॥ ६७ ॥

चरित्रं सुविद्यां परस्मै ददातु, सुवक्तृत्वबोधोऽस्ति केषां विशेषः।
तदा तत्कलां चापि देया परस्मायय नो विचारो हृदा धारणीयः ॥६८॥
स्वविद्या मया दीयते चेत्परस्मै, तदा तस्य लोके प्रतिष्ठाऽधिका स्यात्।
तथा योग्यता वृद्धिरेवं प्रयाति, विचारं च नैवं कदाचित्करोतु ॥
(पठित्वा च विद्या प्रदानेऽधिका स्यात्) ॥ ६९ ॥ तदा ज्ञानवृद्धिश्चरि-
त्रप्रवृत्तिर्गरिष्ठो जनेऽथो भवेस्त्व विचार्य्य। परस्मै कुरुष्वार्पणं स्वं
गुणानां, समाजे प्रवृत्तिर्विधेया सुखेन ॥ (तथाऽनन्यभावेन प्रीतिं
विधाय) ॥ ७० ॥ यथा यश्च यस्मै विधत्ते च भावं, तथैवेतरोऽपि
करोत्यात्मभावम्। धिया प्रेमभावो विचार्य्यैव कार्यो, यतोऽन्योन्यसमे-
लनं स्यात्सुसौम्यम् ॥ ७१ ॥ न याचे गुरोः पादसेवातिरिक्तं, विरक्तिं
तु वाऽऽध्यात्मविद्याप्रशक्तिम्। परं प्रेमतः साधुभावं प्रयाचे, समाजो-
न्नतिर्येन मे तद्विधेहि ॥ ७२ ॥ त्रिधा तापतसोऽहमस्मिन् भवाब्धौ,
कथ मे निवृत्तिर्भवेद्दुःखराशेः। अतो मेऽभिलाषामिमां पूरयस्व, गुरो!
स्वां दयां मे विधायाथ भावात् ॥ ७३ ॥ जीवत्राणकरीं निधाय विश-
दामास्येऽनिशं पट्टिकां, काये चोलपटं विलुंचितशिखः कक्षे सितां
मार्जनीम्। विद्याशून्यमुखारविन्दहृदयः श्राद्धादिकैर्गीयते, लोकान्
शिक्षयितुं सुवेशरचना यस्यास्ति तस्मै नमः ॥ ७४ ॥ उपर्युक्तमर्थं हृदा
धारयित्वा, सुविद्याविनोदे मनो धारणीयम्। न हास्यं भवेत्ते सभायां
मुनीश! ह्यतो विद्यया सर्वमान्यो भवेस्त्वम् ॥ ७५ ॥ परं भावुकत्वं च
सद्वृत्तिरेवं, सदाचारता चोच्चता भावनायाः। तथैवोन्नतत्वं चरित्रस्य
भावि, जनाः प्रेमदृष्ट्या प्रतिष्ठां प्रकुर्य्युः ॥ ७६ ॥ प्रतिष्ठाऽपि संसारम-
ध्येऽधिका स्यात्समाजेऽपि विद्वान् भवेच्चोपदेष्टा। तथा वक्तृतादायको
ग्रन्थकारः, सुजाते महावीरदेवस्य शिक्षाविभागेऽधिका चोन्नतेर्धिका

स्यात् ॥ ७७ ॥ भवेत्काचिदित्थं जने योग्यता च, तथा शक्तिभावोऽस्ति यस्मिन् विशेषः। प्रदेयस्तदान्ये नरे भक्तितश्च, सुविज्ञानवृद्धिस्तथा शक्तिवृद्धिः ॥ ७८ ॥ स्वशक्तेस्तथा योग्यतायां च विद्योपयोगस्य वृद्धौ च सयुक्तवीर्ये। ध्रुवं योजनीयं ध्रुवं योजनीयं, स्वचित्तस्य शंकां निराहृत्य लोके ॥ ७९ ॥ [अथ परोपकृतिः] शिक्षाप्रेमधराः पवित्रहृदया भिक्षार्थिनो ध्यानतो, ज्ञायन्तां प्रतिजीवकार्यसमये लक्ष्यात्मविन्दुं मुहुः। मत्वानन्तपरोपकारकरणे शूरा भवन्त्वाहिता, लक्ष्यं नैव कदापि विस्मृतिपथं कर्तव्यमेवं विदुः ॥ ८० ॥ धर्म्मे नोन्नतिकार्यगौरववशान्नान्यत्ररोधे करः, येन स्यादुपकारकेऽनुदिवसं लोकोपकारी भवेत्। न स्थानं च क्वचित्प्रदेयमधुना भेदस्य भावस्य च, सामाजे वितरन्तु कार्यपरतां ध्यात्वा हृदा भिक्षुकाः ॥८१ साहाय्यं च भवेज्जनान्तरमुदेऽन्योन्यं विचारेण च, शक्तौ स्याद्दृढताबलं विवरणादेकं विचारस्य वा। तन्माहात्म्यबलं भविष्यति पुनः स्यादुन्नतत्वेन हि, संयुक्तस्य बलस्य वर्द्धनमथो स्यान्नोऽप्यनायासतः ॥ ८२ ॥ एकस्यान्यसहायकोऽनुदिवसं भूत्वा सहायं कुरु, स्वान्ते वासकराय देयमखिलं नो वा विचारो मुने! विद्यैवं च समाजके प्रसरति लोकोपकारस्ततो, ज्ञात्वा सर्वमिदं विचारनिरताः श्रेयस्करा बुध्यताम् ॥ ८३ ॥ [अथाऽऽधुनिका सम्यक्त्वादानरूढिः] अद्यानद्यभवे च भिक्षुकवरेष्वाधीनजैनेषु च, सम्यक्त्वं प्रविधाय योगमिषतः शिष्यं स्वकीयं तथा। भक्तं पक्षधरं विनेतुमसतां रूढिर्विचित्रा गता। भीत्या सार्द्धमिय प्रवृद्धिरतुला वात्या स्वरूपेण च ॥ ८४ ॥ भूकम्पोऽयमितीव शेषविषयाज्ज्ञेयो मुनीन्द्रैरतो। वृक्षाणामिव संहतेश्च निनरा स्याद्येन नाशो मुहुः ॥ सम्यक्त्वस्य तथान्यसंघविलसच्च्रू-

द्धाऽपि नोत्पद्यते। अन्यत्रापि न भक्तिभावसहितप्रेमोपकारादिकम् ॥ ८५ ॥ गुप्तिभावसहानुभूतिरपि च जंजन्यते नो मुनौ, तस्यैव ग्रहणे सदा हि निरतो भक्तोऽपि दासोऽपि च। सम्यक्त्वस्य वितानमोत्तरमदः सञ्जायते वा ततः, सम्यक्त्वाच्च तथास्तिकत्वमपि च माध्यस्थ्यकत्वं पुनः ॥ ८६ ॥ वैषम्यं च भवेद्यतोनुदिवसं दूरं तथा निष्ठता, सत्वस्याऽप्यनुवर्तनं सरलता चायाति सौजन्यता ॥ आत्मीयत्वमथो गुणग्रहणता सत्यं सुसेवा परा। (ज्ञातव्यं सफलं मदीयसुमते! सम्यक्त्वकस्याधुना,) दृश्यन्ते प्रतिकूलता गुणगणा ज्ञातव्यमेवं बुधैः ॥ ८७ ॥ आत्मज्ञानपरायणाः सुजनतासक्ता जिनोपासकाः, कामक्रोधविवर्जिताश्च शमतो रागादिशून्याशयाः। सज्ज्ञानाभिनिविष्टधर्मरसिकाः सद्दानशीलानुगास्त्यक्तेर्षाश्च परोपकारनिरता जैना भवन्तीदृशाः ॥ ८८ ॥ कालेऽस्मिन्नहि दर्शनस्य विषयः कण्ठी यथा स्याद्गुरोरातङ्को विषमत्वकस्य सुतरामाच्छादयत्याशु नः। भूकम्पोऽपि च पक्षपातविषये चायात्यनायासतो, रागद्वेषसमाजवृद्धिरतुला निन्दा तथान्यस्य च ॥ ८९ ॥ बीजारोपणकारकस्स्वमनसा सद्दर्शने वा गुरुर्भक्तं स्वस्य च सेवकं पुनरहो कृत्वा वदत्यादरात् ॥ पश्येतो वचने मदीयरचने ध्यानं कुरुष्वाहितः, शिष्यस्त्वं मम साधकोऽसि च गुरुस्त्वार्थे ज्ञायताम् ॥ ९० ॥ मत्तोऽन्यं न हि मन्यतां गुरुवरं साधुर्वरो ज्ञायतां, सन्त्यन्ये यतिपार्श्वगाश्च भवता सन्दृश्यतां ध्यानतः। नान्यस्मिन्नमने शिरस्तव मया त्यक्तं मदीयानुगे, मत्पादाम्बुजवन्दनं प्रतिदिनं भक्त्या कुरु प्रेमतः ॥ ९१ ॥ व्याख्यानं न हि चेतरस्य मुखतः सश्रूयतां वा क्वचित्स्वक्षेत्रे न च दीयतां निवसनं तेभ्यश्च नो स्थाप्यताम्। चातुर्मास्यव्रतं न तैरपि सह कर्तव्यमेवं धिया। मानीयं न च भोजनं

पुनरथो तेभ्यश्च देयं क्वचित् ॥ ९२ ॥ नेदं सर्वमपस्मृतिं कुरु न च्चेत्स्वर्गेऽपि न स्याद्गतिर्धर्मे मोक्षपथं च नाकमथवा स्वस्यैव पाणौ स्थितम् । जानन्त्येवमहं शुभोऽस्मि निखिलादन्येऽवराः सन्ति च, श्रद्धेयं परिज्ञायतामविरतं स्यादन्धकारावृताः ॥ ९३ ॥ अस्त्यन्योऽपि महानुभावविषयः सन्धार्य्यतां चित्ततः, सम्यग्दृष्टप्रदत्तमन्यमुनिभिस्त्यक्त्वा च तत्स्वं पुनः । सम्यक्त्वं च प्रदाय नैव कुरुते सर्वोत्पथं मानतः, केचित्स्वस्य समीपके च रहसि संलेखयित्वा मुदा ॥ ९४ ॥ संस्थाप्योत्तमग्राहकेण सदृशो नामाङ्कितं पुस्तकं । तीर्थस्थाश्च स्वकीयपत्रनिचये संलिख्यते नाम च ॥ यात्रार्थं च जनाः प्रयान्ति नितरां तेषां यथा यत्नतस्तद्वज्जैनमतावलम्बनपराः कुर्वन्ति कुत्सान्विताः ॥९५॥ कठोरात्मिकायाश्च निन्दास्पदायाः, प्रवृत्तेश्च सञ्जायते कुग्रहत्वम् । ममत्वान्धकारेण संछादनं स्यात्तथा रागद्वेषादिकस्थानमेतत् ॥ ९६ ॥ सम्यक्त्वसंयुक्तबले च सम्यङ् मन्दत्वमायातमितो विचिन्त्यम् । मदीयसम्यक्त्वबलस्य मूलं, संछिद्यते कुत्सितया च रीत्या ॥ ९७ ॥ अतोऽस्य रोगस्य चिकित्सकत्वं, कर्तव्यमेवं कुप्रथाप्रणाशः । तदैकदेशस्य मलं विधाय, धर्म्मं भयङ्कारि च राजयक्ष्मा ॥ ९८ ॥ रोगो यथोत्पन्नतया करोति, विकारतामात्मतृतीयकेऽन्तः । महाननर्थो भवतीति ज्ञेयं, गृहस्थरागात्मकदृष्टिभावः ॥ ९९ ॥ विधाय दोषं परितः करोति, तथाऽनिशं पुत्तलिकेव दृष्ट्या । सव्वर्तयन्त्यत्र विवर्द्धनं च, वैषम्यभावस्य निशम्य योगिन् ! ॥ १०० ॥ स्वकीयजालस्य महाधिकारं, सन्त्रोटयच्चैव स्वयं च सम्यक् । त्वदीयजालेन विशन्ति लोकाः, कुतश्च लोके प्रविवेकबुद्ध्या ॥ १०१ ॥ जानन्ति सर्वे च वरावरं वा, विचारसारस्य करोति भावम् । धावन्ति ते चान्धपरम्परातो, दूरं परं क्रोशमितं

वरिष्ठाः ॥ १०२ ॥ कृते चाभिमाने तपस्याविनाशः, समाजोन्नतौ जायते विघ्नसंघः । अतश्चाभिमानं न वै धारणीयं, न वै धारणीयं न वै धारणीयम् ॥ १०३ ॥ महापक्षपाताभिमानाभिभूताश्चरन्त्यात्मनः कुपथां लोकगर्हाम् । समुत्पद्यते योगिनी मोहमाया, ततो बध्यते तत्कृते भोगजाले ॥ १०४ ॥ मुनिजनहृदि भानुर्ज्ञानरूपी यदैति । सकलदुरितनाशो जायते चाप्रयासात् ॥ विकसति यदि पद्मं ज्ञान-चारित्ररूपं । भवति मनसि शान्तिर्योगसिद्धिस्ततः स्यात् ॥ १०५ ॥ गृहस्था न चास्मिन्महामोहजाले, निबद्धुं त्वदीये समर्था भवन्ति । महावीरसघे मिलित्वा च सर्वे, भवेयुश्च श्रद्धालवो जैनश्राद्धाः ॥१०६॥ सदा संघसम्बन्धमात्रेण सर्वं, स्वकीयं विदित्वा कुरुष्वात्मरूपम् । **[अथ शरीरसाहाय्यदानम्]** यदा रोगयुक्तो भवेत्कोऽपि साधुः, कचित्कश्चिदेवं च देशान्तरस्थः ॥ १०७ ॥ न चेच्चानुकूल्यं जलं वायुरेवं, न तेषां सुखाधायको देश एव । चिकित्सालयं नास्ति तद्देशमध्ये, न वा साधनं किञ्चिदन्यं विदित्वा । तदा तत्र देशे विहारे प्रवृत्तैर्मुदा साधुवर्य्यैश्च ही दोलिकायाम् ॥ १०८ ॥ समारोप्य वा स्कन्धमारोपयित्वा, समानीयतामन्यदेशेऽनुकूले । यदा सम्प्रदायस्य भेदो हि छिन्नस्तदेवं भवेन्नान्यथा वै शुभ स्यात् ॥ १०९ ॥ केचित्स्वार्थपरायणाश्च मुनयः केचित्स्वकुक्षिंभराः, सन्त्यन्ये श्रुतसञ्चयेऽपि निरताः केचित्स्वधर्मच्युताः ॥ विद्यारत्नसुवञ्चितास्पमतयो मूढाश्च केचिद्ध्रुवं, केचित्साधनसारशून्यहृदयास्ते वै कथं पारगाः ॥ ११० ॥ मुनिः सेवनाख्ये निजे धर्मवृद्धेर्मुहुश्चान्तरात्मातिपूतो विभाव्य । सुशय्यंभवैः सूरिभिर्वर्णितं च, महत्वं भवे भव्यभावेन सिद्धः ॥ १११ ॥ ततस्तस्य सम्बन्धभावो महान् हि, यतस्तेन सेवाख्यधर्म्मप्रचारः । मनाङ् नाम

पुत्रो ह्यनेनैव शुद्धो, मुदा कारितः साधुमेवाप्रचारः ॥ ११२ ॥ इदं नावरुद्धं भवत्तो विचार्य्यो, यदा तस्य सत्यस्य नाम्नो मुनीशाः । गृहीतार एवं कदा ग्राहकत्वान्निवृत्ता भवेयुश्च पकेन तुल्यात् ॥ ११३ ॥ पुनः साधुसेवा सुकायेन कार्या, श्रुतेनाथ चित्तेन वाचा विमृश्य । स्वकीयं परं चेति भेदं विहाय, ह्ययं रागद्वेषान्विते भेदवादः ॥ (न वाऽन्यत्र भेदोऽयमेवं विभाव्य, करोत्वञ्जसा साधुसेवा मतस्थः) ॥११४॥ वसुधैव कुटुम्बकमित्युक्तिश्चरितार्थता । कर्तव्याखिलभावेन, भवद्भिर्धर्म्मसिन्धुभिः ॥ ११५ ॥ यद्रम्यं श्रवसो मिताक्षरयुतं पीयूषकल्पं वचः, श्रोतृणां हृदयान्धकारहरणं व्याख्यानमेतज्जगुः । व्याख्याता उभयागमादिजनितज्ञानेन्दुना भूपितो, ये शृण्वन्त्युपदेशमेकमनसा श्रोतॄन् विदुस्तान् नरान् ॥ ११६ ॥ व्याख्यानस्य सुगन्धमस्ति शिरसि मद्भिक्षुकाणां मुहुर्यावद्बुद्धिवलोदयं मुनिगणास्तावच्च व्याख्यानकम् । श्राद्धेभ्यश्च सुश्रावयन्ति मनसा महता प्रयत्नेन च । श्रोतारं परिकथ्यतेऽनुदिवसं मेऽद्योपदेशं शृणु ! ॥ ११७ ॥ यः कश्चित्परदेशगोऽस्ति चतुरो विद्वान् सभायां महान्, व्याख्यानं च कथा तदीयमुखतः श्राव्या कदाचिन्न हि । श्रोतव्या च सदैव मेऽत्र मुखतः सन्धार्य्यतां प्रेमत, एवं ते कथयन्ति साधुनिपुणा ये दास्यभावं गताः ॥ ११८ ॥ देशान्तरागतः साधुः, सम्प्रदायेतरः पुनः । समाचारी प्रभिन्ना वा, मद्देशे च समागतः ॥ ११९ ॥ मदग्रे नो कथा कर्तुं, समर्थो न च श्रूयताम् । विना मदाज्ञया किंचिन्नोश्रावयितुमीश्वरः ॥ १२० ॥ लघुत्वस्य विचारोऽयं, प्रदेशान्तरगो भवेत् । तदर्थे न हि स्यादेवं, प्रतिष्ठा नैव चाश्रयः ॥ १२१ ॥ श्रावकाणां च सौभाग्यं, यद्यागन्तुकसाधवः । प्रवासिनः समायान्ति, तेपां व्याख्यानमुत्तमम् ॥ १२२ ॥ श्रोतव्यमथ

कर्तव्यमिति निश्चीयते यदा। साम्प्रदायिकधर्मस्य, मोक्षस्य शुल्कदायकाः ॥ १२३ ॥ कलहं कुर्वतेऽन्योन्यं, मत्क्षेत्रे स्थानके तथा। मदाम्नाये तथा लोके, देशान्तरागतो मुनिः ॥ १२४ ॥ व्याख्यानं न हि कर्तुं च, समर्थो जायते क्वचित्। ममापमानं भवति, प्रतिष्ठाहानिरेव च ॥ १२५ ॥ यो वीतरागोऽस्ति मुनिर्विवेकी, स्वसाधनासक्तधियोऽपि रागात्। सोऽप्यन्यव्याख्यानवरातिदुःखं, प्राप्नोति तापं च महद्धि कष्टम् ॥ १२६ ॥ तथोदरं ताडयतीति दुःखाद्धा! शब्दमत्रापि करोति नूनम्। न वा तपस्वी न च संयमी वै, न वास्ति जैनाश्रितधर्मरूढः ॥ १२७ ॥ धिगस्तु नः कुत्र गतः स कालः, श्रीगौतमः केशिमुनिश्च यत्र। परस्परं प्रेमसरित्प्रवाहो, वाह्यो महाधर्मरतैकतश्च ॥ १२८ ॥ क चाद्यकालीनगतः स साधुर्यश्चोपदेशे हि करोति तापम्। श्रुत्वाऽन्यसाधोश्च न भाति चित्ते, श्रोताद्य कुर्य्याच्च महत्स्वपापे ॥ १२९ ॥ श्रुतं त्वया चाद्य मतान्तरस्थसाधोर्मुखाद्धर्म्मविरुद्धवाक्यम्। व्याख्यानरूपं च करोति शान्तिं, न ते भवेच्छ्रेय इति प्रधार्य ॥ १३० ॥ श्रद्धानकं नष्टमिति प्रधार्य्य, तथास्तिकत्वं च गतं भवेत्ते। अतो न साध्वन्तरतो सुधीश? न श्राव्यमेवं च वदन्ति सन्तः ॥ १३१ ॥ हे भिक्षुकाश्चेद्दशरोगयोगान्नष्टा भवन्तश्च मृतः समाजः। तद्द्वेषरागाच्च महत्त्वहानिमुत्थापयन्तीति विचारणीयम् ॥ १३२ ॥ एवं न कर्तव्यमथो दयां च, समाजसंघे कुरुत प्रयत्नात्। प्रेमाभिलाषेऽभिरतश्च लोको, भवेच्च प्रेम्णा समतोपनद्धः ॥ १३३ ॥ सदैक्यभावे न बुभूषुरेवं, यत्र स्थितास्तत्र विदेशगानाम्। आगन्तुकानां च मुनीश्वराणां, देयं भवद्भिश्च निवासयोग्यम् ॥ १३४ ॥ सुस्थानकं स्वीयसहाभिवासी, स्यात्तेन भावेन कुरुध्वमेवम्। एकासने चाप्युपवि[illegible]

सुज्ञाः, शृण्वन्तु व्याख्यानमनन्यभावात् ॥ १३५ ॥ पश्चाद्भवन्तोऽपि सुशासनं वरं, तन्वन्तु यत्नाच्च तथोपदेशम् । कुर्वन्तु वृद्धिं च प्रशासनस्य, सुस्वागतं चापि तथैव सुज्ञाः ॥ १३६ ॥ साध्यं ह्युत्तममेकमेव मुनयः सर्वे मिलित्वा हृदा । स्वाचार्यं परिकल्पयन्तु सुधियं विद्याचरित्रात्मकम् ॥ येन स्याच्च समाजकोन्नतिदशा शिक्षाविभागस्य च । नो चेद्धर्म्मविपर्य्ययस्य समयो जातोऽवधार्य्यं बुधैः ॥ १३६ ॥ संस्थाप्या किल भारतस्य जनता पोते च संघातमके । सिद्धाख्यं नगरं ह्युदारचरिता संस्थापयन्त्वाहिताः ॥ एतावत्करणेन याति भवतां पारत्रिकं चैहिकं । सर्वं कार्यमदभ्रमेव विषयासक्तं मनोहीयताम् ॥१३७॥ स्वादर्श च जगद्भवन्तमधुना जानातु चात्मा पुनर्लोके नाम भवेद्यतोऽनुवितितं ह्यात्मानुसन्धानतः ॥ एवं धर्मपरायणो यदि भवेस्ते स्याच्च कीर्तिः परा । तस्मात्संघविवर्धनाय भवतां स्याच्चेत्प्रवृत्तिश्शुभा ॥१३८॥

[अथ क्षमाऽभ्यर्थना] भवान् वीरपुत्रोऽस्ति शान्तात्ममूर्तिरहिंसा तपस्यान्वितः सत्यग्राही । तथा चात्मनोऽत्यन्तसूद्धारकोऽस्ति, पुनर्वीतरागानुकारं करोति ॥ १३९ ॥ नयनेन्दुसंख्योत्तरके शतस्य, दिनावधित्वं कुरुते तपस्याम् । अतस्तपस्विप्रवरोऽस्ति लोके, चोपाधिधार्य्यस्ति विचारणीयम् ॥ १४० ॥ त्वत्पृष्ठतो विश्वमिदं च लग्नमहं त्व स्वल्पज्ञमतिर्न मेऽस्ति । स्वात्मानुभावोऽपि न साक्षरोहं, व्याख्यानदानेऽपि न मेऽस्ति शक्तिः ॥ १४१ ॥ प्रसिद्धवक्तापि न चास्मि विद्वान्, किन्त्वल्पबुद्धिस्तव बालकोऽहम् । सद्भावतस्ते विदधामि सेवां, तथाऽस्मि संयुक्तबलाभिलाषी ॥ १४२ ॥ रागादिकं वै चिकीर्षामि मन्दं, मत्तो यदि च्छद्मतयाऽपमानम् । जातं तदा विस्मृतिरापराधस्तथा हि शुद्धान्तरभावनात; ॥ १४३ ॥ क्षमा विधेयातिकृपा-

नुरागात्, समाप्तिमेतस्य हि संकरोमि। परन्तु प्रष्टुं यतते मदीया, बुद्धिः प्रसन्नोऽसि च पृच्छ्यते मया ॥ १४४ ॥ मदीयवार्ता कटु-कास्ति किन्तु, लज्जा भवेन्नात्र विचारणीयम्। यदा मदीया कटुकाऽस्ति वाणी, ज्ञातव्यमेवं च मदीयरोगाः ॥ १४५ ॥ शाम्यन्ति कट्वौषधि-सेवनेन, शीघ्रं भवेद्रोगनिवृत्तिरेवम्। भुक्त्वा च कट्वौषधमुग्रतेजो, रोगी ध्रुवं पावयतेऽतिशीघ्रम् ॥ १४६ ॥ तद्रोगशान्तिर्भवतीति ज्ञात्वा, मदीयवार्तामपि संसहस्व। स्वकीयभावान्न हि रोद्धुमस्ति, शक्तिर्मदी-येति विभावनीयम् ॥ १४७ ॥ महानुभावोऽस्ति च दुर्बलोऽस्मि, तथाऽसमर्थोऽहमिति प्रधार्य। क्षमा विधेया च महात्मनस्तु, भवन्ति क्षान्तेश्च सुभाजनानि ॥ १४८ ॥ गुरुर्मदीयोऽस्ति फकीरचन्द्रो, ज्ञानं मया लब्धमिदं यतश्च। बोधं च लब्ध्वा सुक्रियां करोमि, ततोऽमरत्वं च भवेत्स्फुटं मे ॥ १४९ ॥

इति ममाक्रन्दनकाव्यम् ॥

ज्ञातृपुत्र-महावीरका सिद्धान्त

(१) जगत्में दो द्रव्य मुख्य [substances] हैं, एक जीव [soul] दूसरा अजीव [non soul]। अजीवके पुद्गल [matter] धर्म [medium of motion to soul and matter] जीव और पुद्गलके चलनेमें सहकारी। अधर्म medium of rest to soul and matter जीव और पुद्गलके ठहरनेमे सहकारी। काल Time वर्तना लक्षण-वान् और आकाश Space स्थान देनेवाला। इस प्रकार पांच भेद हैं।

(२) स्वभावकी अपेक्षा सब जीव समान और शुद्ध हैं, परन्तु अनादि-कालसे कर्मरूप पुद्गलोंके सम्बन्धसे वे अशुद्ध हैं, जिस प्रकार सोना खानसे मिट्टीमें मिला हुआ अशुद्ध निकलता है।

(३) उक्त कर्ममलके कारण इस जीवको नाना योनिओंमें अनेक सङ्कट भोगने पडते हैं और उसीके नष्ट हो जानेपर यह जीव अनन्तज्ञान-अनन्त-दर्शन-अनन्तसुख और अनन्तशक्ति आदिको जो कि इसकी निजी सम्पत्ति है और जिसे मुक्ति कहते हैं वह प्राप्त करता है।

(४) निराकुलता लक्षणयुक्त मोक्ष सुखकी प्राप्ति इस जीवके अपने निजी पुरुपार्थके अधिकारमें है किसीके पास मागनेसे नहीं मिलता।

(५) पदार्थोंके स्वरूपका यह सत्य श्रद्धान [Right belief] सत्य-ज्ञान [Right knowledge] और सत्य आचरण [Right conduct] ही यथार्थमें मोक्षका साधन है।

(६) वस्तुयें अनन्त धर्मात्मकहैं, स्याद्वाद ही उनके प्रत्येक धर्मका सत्यतासे प्रतिपादन करता है।

(७) सत्य आचरणमें निम्नलिखित बातें गर्भित हैं, यथा–

[क] जीव मात्र पर दया करना, कभी किसीको शरीरसे कष्ट न देना, वचनसे बुरा न कहना, और मनसे बुरा न विचारना।

[ख] क्रोध-मान-माया-लोभ और मत्सरआदि कषायभावसे आत्माको मलिन न होने देना, उसे इनके प्रतिपक्षी गुणोंसे सदा पवित्र रखना।

[ग] इन्द्रियों और मनको वश करना एवं बाह्य ससारमें लिप्त न होना।

[घ] उत्तम क्षमा-निर्लोभ-सरलता-मृदुलता-लाघव-शौच-संयम-तप-त्याग-ज्ञान ब्रह्मचर्यादि लक्षणात्मक धर्मको धारण करना।

[च] झूठ-चोरी-कुशील आदि निन्द्य कार्योंसे ग्लानि करना।

(८) यह ससार स्वयं सिद्ध अर्थात् अनादि अनन्त है, इसका कर्ता हर्ता कोई नहीं है।

(९) आत्मा [soul] और परमात्मा [God] में केवल विभाव और स्वभावका विशेप है। जो आत्मा रागद्वेषरूप विभाव को छोडकर निज स्वभावरूप हो जाता है उसे ही परमात्मा कहते हैं।

(१०) ऊंच-नीच-छूत-अछूतका विकार मनुष्यका निजकृत किया हुआ विकार है वैसे मनुष्यमात्रमे प्राकृतिक भेद कुछ भी नहीं है।

शुद्धिपत्रम्

कृतेऽपि भूयसि संशोधनप्रयासे काश्चिदशुद्धयोऽवशिष्टा एवेति ताः कृपया अधोनिर्दिष्टसङ्केतानुसारं संशोध्यैव पठन्तु पाठयन्तु भव्यजनाः श्रावका मुनयश्चेति सविनयमभ्यर्थयतेऽयं लघुतम. पुष्पभिक्षुः ॥

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१६	११	जैनतरमतावलम्बी	जैनेतरमतावलम्बी
१९	५	०	अनन्तशक्ति
२१	१५	सम्यग्दर्शनका	सम्यग्दर्शनकी
२८	४	मेल	मेल
३७	२३	भावन	भावना
३९	५	निशंकसे	नि शंकसे
४८	११	नस्वर	नश्वर
,,	२१	कार्माण	कार्मण
५२	२५	वुद्धिष्शक्तिने	वुद्धिशक्तिने
७३	१६	तेओ	ते
९०	११	कल्माषास्रवकारणम्	कल्मषास्रवकारणम्
९१	२२	पुरुषेष्त्रयि	पुरुषेष्वपि
१००	११	वहभी	वह भी
१००	२२	इनकि	इनकी
१०१	२	कि	की
१०३	२३	इत्यभिधानप्यदीपिका	इत्यभिधानप्पदीपिका
१०४	३	सवशदोंम	सव शब्दोंमें
,,	२५	सेठ्ठे	सेठ्ठं
१०६	५	तेन	तेने
१०९	१०	धुनीका मताः	धुनिका.

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४०	८	हि	च
२९२	२१	धर्म्मं	धर्म्मं
२९४	३	जिव!	जीव!
२९६	१२	निजा	निजा
,,	१९	नंक्ष्यत्ति	नंक्ष्यति
२९९	२०	समस्त्येद्रा	समस्त्येतद्रा
३०५	४	ऽश्नासि	ऽश्नाति
३१३	२४	दश्यते	दर्श्यते
३१४	२०	चैतना	चेतना
३१७	१७	स्वसन्	श्वसन्
३२०	१८	मस्तुते	मश्नुते
,,	२२	ऐसा	ऐसे
३२९	२५	दीनाना	दीनॉश्च
,,	२८	चलते	चलति
३३०	२७	श्चैदं	श्चेदं
,,	२९	शंकटान्	सकटान्
३३१	१२	तेतिति	तेनेति
३३६	९	प्रयागमण्डल	प्रयागमण्डले
३४१	१९	निसेवनम्	निवेशनम्
३४७	२९	मादिनियमादि	यमादिकाना वि.
३४८	२८	जनोप्यू	जनैरू
३५३	१४	न भवद्योगवित्तमम्	न भवेद्योगवित्तमः
३६९	२५	तद्रक्षस्वाधुना गुरो!	रक्षमामधुना गुरो!
३७०	९	जगज्जलाम्भोधे	जगज्जलाम्भोधे.
,,	१९	पुष्पाञ्जली	पुष्पाञ्जलिः
३७१	२१	विरदार	विरादर